जैन दर्शन और विज्ञान

[अजमेर विश्वविद्यालय तथा जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) द्वारा बी० ए० के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत "जीवन विज्ञान एवं जैन विद्या" विषय के तृतीय वर्ष के द्वितीय पत्र के लिए स्वीकृत]

समाकलन :

मुनि महेन्द्र कुमार
प्रेक्षा-प्राध्यापक

जेठालाल एस० झवेरी
प्रेक्षा-प्रवक्ता

जैन विश्व भारती इंस्टीट्यूट
(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं—३४१३०६ (राजस्थान)

प्राक्कथन

हम बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक मे जी रहे हैं और इक्कीसवी की दहलीज पर खड़े है। युगीन चुनौतियों को झेलने के लिए एक विद्यार्थी के लिए किन-किन विद्याओं का अध्ययन अत्यावश्यक है, यह शिक्षा-जगत् का एक अहम प्रश्न है। "जीवन-विज्ञान और जैन विद्या" इस चुनौती का एक उत्तर है। इस सर्वथा नवीन विषय की परिकल्पना में प्राचीन प्रज्ञा-प्रसूत ज्ञान-राशि को आधुनिक प्रयोग-प्रसूत विज्ञान-राशि के साथ जोड़कर विद्यार्थी की अन्तःचेतना को जागृत करने का प्रयास किया जा रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में 'जैन दर्शन और विज्ञान' को इस पाठ्यक्रम में समाविष्ट किया गया है। इस विषय की प्रतिपत्ति एक ओर विद्यार्थी को प्राचीन के प्रति श्रद्धाशील बनाएगी, तो साथ ही आधुनिक विज्ञान का अवबोध उसे प्रायोगिक आधार प्रदान करेगा। इस अर्थ मे 'जीवन-विज्ञान और जैन विद्या' की अभिनव विधा वर्तमान शिक्षा-पद्धति के लिए दिशासूचक अवदान सिद्ध होगी।

जैन दर्शन की विशाल ज्ञान-राशि में अध्यात्म, धर्म, तत्त्व-दर्शन, जीवन-शैली, आचार-शास्त्र, अतीन्द्रियज्ञान, पुनर्जन्मवाद, भावनात्मक स्वास्थ्य, योगविद्या, प्रेक्षाध्यान, विश्व-विज्ञान, परमाणु-विज्ञान आदि विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयो के सम्बन्ध मे जो सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध है उसका आधुनिक विज्ञान की भौतिकी (Physics), जैविकी (Biology), मनोविज्ञान (Psychology), विश्व-विज्ञान (Cosmology), सृष्टिशास्त्र (Cosmogony), परमाणु-विज्ञान (Atomic Science), स्वास्थ्य-विज्ञान (Health Science) आदि विभिन्न शाखाओं के अन्तर्गत प्रस्तुत अवधारणाओं के सन्दर्भ में सूक्ष्मेक्षिकया किया गया अध्ययन न केवल विद्यार्थी के बौद्धिक विकास एवं ज्ञानवर्धन की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होगा, अपितु उसके अपने जीवन-विकास के लिए भी बहुत लाभप्रद होगा—इस उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक को आकार दिया गया है।

आज के युग में प्राच्य विद्याओं के वैज्ञानिक स्वरूप को हृदयगम करना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अत्यन्त अपेक्षित है। इससे भारतीय दर्शन एवं संस्कृत की सार्वदेशिकता एवं सार्वकालिकता उजागर होती है। कोरे बौद्धिक ज्ञान या वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा अन्त.दर्शन (intuition) द्वारा होनेवाला बोध अधिक सूक्ष्म और सत्य-स्पर्शी होता

है, इसे वह जान सकेगा । **Tao of Physics** के लेखक डॉ० फिटजोफ काप्रा (Fritzof Capra) के शब्दो मे—"जब बौद्धिक/तार्किक चेतना को शांत *किया जाता है, तब अन्त:दर्शन की चेतना द्वारा अतिविशिष्ट बोध प्राप्त* होता है; उसमे बाह्य जगत को धारणात्मक चिन्तन से छाने बिना प्रत्यक्ष ही अनुभव कर लिया जाता है ।

"चुआग-त्जु के शब्दो मे ऋषि (प्रज्ञावान्) का शात चित्त सम्पूर्ण स्वर्ग और पृथ्वी—समस्त पदार्थों का दर्पण है ।"[1] यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जिन अध्यात्म-मनीषियो ने दो-ढाई सहस्राब्दियो पूर्व परमाणु से ब्रह्माण्ड तक या आत्मा से परमात्मा तक सूक्ष्मविश्व (microcosmos) और महा-विश्व (macrocosmos) के स्वरूप, सरचना, आकार-प्रकार, क्षेत्रमान-कालमान आदि विभिन्न पहलुओं पर इतनी गहरी मीमासा की वे उस युग के ही महान दार्शनिक नही अपितु युगो-युगो तक ज्ञान-रश्मियो का आलोक देने वाले प्रज्ञा के धनी 'अध्यात्मविज्ञानी' थे । उनके अन्त.दर्शन एवं अन्त:-अनुभूति से प्रस्फुटित ज्ञानधारा मे ही हमे मानव मन की चिरन्तन जिज्ञासाओ का समाधान प्राप्त हो सकता है ।

आभारोक्ति

प्रस्तुत पुस्तक के समाकलन मे उन अनेक लेखको की कृतियो का उपयोग किया गया है, जिन्होने तटस्थ भाव से अध्यात्म/दर्शन और विज्ञान के भिन्न-भिन्न विषयो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

प्रस्तुत पुस्तक को ९ अध्यायों में अजमेर वि० वि० के पाठ्यक्रमा-नुसार विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय **दर्शन और विज्ञान** का आधार है—मुनि महेन्द्रकुमार कृत **विश्व-प्रहेलिका** ।

द्वितीय अध्याय **अध्यात्म और विज्ञान** के आधार है—युवाचार्य महाप्रज्ञ कृत **मैं हूं अपने भाग्य का निर्माता**, आचार्य तुलसी-कृत **प्रज्ञापर्व**, युवाचार्य महाप्रज्ञ-कृत **अमूर्त चिन्तन** तथा उनका लेख **'अध्यात्म और विज्ञान'** (भारत-निर्माण द्वारा प्रकाशित विशेपाक) ।

तृतीय अध्याय **जैन दर्शन और परामनोविज्ञान** के आधार है—डा० ईयान स्टीवनसन-कृत **Twenty Cases Suggestive of Reincarnation,**

1. When the rational mind is silenced, the intuitive mind produces an extraordinary awareness; the environment is experienced in a direct way without the filter of conceptual thinking. In the words of Chuang Tzu, "The still mind of a sage is a mirror of heaven and earth —the glass of all things."

—Tao of Physics, p. 62.

डा० कीर्तिस्वरूप रावत-कृत **परामनोविज्ञान**, मुनि महेन्द्रकुमार का शोध-लेख —**पुनर्जन्म : जैन दर्शन और परामनोविज्ञान** (अणुव्रत एव युवादृष्टि में प्रकाशित), युवाचार्य महाप्रज्ञ-कृत **जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, जैन योग, चित्त और मन** तथा **अभ्युदय**।

चतुर्थ अध्याय **विज्ञान के सन्दर्भ में जैन जीवन शैली** के मुख्य आधार हैं—मुनि सुखलाल-कृत **विज्ञान के सन्दर्भ में जैन धर्म** तथा **साधना का सोना : विज्ञान की कसौटी**, युवाचार्य महाप्रज्ञ-कृत **प्रेक्षा ध्यान : आहार-विज्ञान, जैन धर्म : अर्हत् और अर्हताएं, शक्ति की साधना**, मुनि महेन्द्रकुमार और जेठालाल झवेरी-कृत **प्रेक्षा ध्यान : स्वास्थ्य विज्ञान (भाग १)**, गोपीनाथ अग्रवाल-कृत **शाकाहार या मांसाहार** तथा डॉ० वीरेन्द्र सिह-कृत **जर्दा-धूम्रपान बीसवीं सदी का निर्मम हत्यारा**।

पञ्चम अध्याय **जैन दर्शन और विज्ञान : सत्य की मीमांसा** का आधार है—युवाचार्य महाप्रज्ञ-कृत **जैन दर्शन और अनेकान्तवाद**।

षष्ठ अध्याय **जैन दर्शन और विज्ञान में अमूर्त अचेतन विश्व-मीमांसा** का आधार है—मुनि महेन्द्र कुमार-कृत **विश्व प्रहेलिका**।

सप्तम अध्याय **विश्व का परिमाण और आयु** का आधार है—मुनि महेन्द्र कुमार-कृत **विश्व प्रहेलिका**।

अष्टम अध्याय **जैन दर्शन और विज्ञान में पुद्गल** तथा नवम अध्याय **जैन दर्शन और विज्ञान में परमाणु** का आधार है—जेठालाल एस० झवेरी तथा मुनि महेन्द्र कुमार-कृत **Microcosmology : Atom in Jain Philosophy and Modern Science** तथा **तीर्थंकर** (भौतिकी विशेषांक) के कुछ लेख।

आधारभूत ग्रथो की सामग्री को विद्यार्थी के लिए सुगम बनाने की दृष्टि से तथा संक्षिप्तीकरण के उद्देश्य से परिवर्तित किया गया है। जिस कोटि की विषय-वस्तु यहा प्रतिपाद्य है, उसके साथ यदि समुचित न्याय करना हो तो प्रत्येक अध्याय के लिए पूरे ग्रथ का प्रणयन भी कदाचित् अपर्याप्त होगा। पर विद्यार्थी की अपेक्षा को ध्यान मे रखते हुए प्रत्येक अध्याय की सामग्री को लगभग ३०-४० पृष्ठो मे समेटने का प्रयत्न किया गया है। कहीं-कही इस सीमा का उल्लंघन भी हुआ है, पर विषय-वस्तु के वैविध्य ने ऐसा करने के लिए हमे बाध्य किया है। फिर भी कुल मिलाकर बी० ए० के तृतीय वर्ष के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुरूप समग्र सामग्री सगुम्फित कर हम उसे शिक्षा-जगत् को समर्पित कर रहे है।

हमारे परमाराध्य आचार्यश्री तुलसी की सतत प्रेरणा एव मार्ग-दर्शन ही इस दुरुह कार्य की सफल सम्पन्नता के लिए सर्वाधिक श्रेयोभाक् है। इसके लिए हम उनके प्रति चिरऋणी हैं। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ का अध्यात्म और

विज्ञान के सामञ्जस्य/तुलना का अपना एक मौलिक दृष्टिकोण रहा है जो समसामयिक दार्शनिकों मे भी दुर्लभ है। उनकी अनेक बहुमूल्य कृतियों से हमने सामग्री का चयन किया है। उनके चरणों में हम कृतज्ञतापूर्वक श्रद्धा अर्पित करते हैं। अन्य जिन-जिन लेखकों के ग्रंथो, लेखो एवं विचारों का हमने उपयोग किया है, उन सबके प्रति हम दोनों हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते है। माला की शोभा और सुरभि का श्रेय पुष्पों को ही देना चाहिए। मालाकार तो केवल उनके गुम्फन का निमित्त-मात्र होता है।

पुस्तक के निर्माण में और भी अनेक व्यक्तियो का विभिन्न रूप मे सहयोग मिला है। मेरे सहयोगी सन्त मुनि धर्मेश कुमारजी ने "जीवन-शैली' के सामग्री-चयन मे तथा मुनि तत्त्वरूचि ने मेरे अन्य कार्यो में सहयोग देकर मेरे कार्य को सरल बनाया है। उन्हें साधुवाद! ब्राह्मी विद्यापीठ के व्याख्याता श्री आनन्द प्रकाश त्रिपाठी तथा डा० पूरणचन्द जैन ने प्रूफ-रीडिंग के कार्य मे उल्लेखनीय तत्परता रखी। जैन विश्व भारती प्रेस की तत्परता भी न होती, तो मुद्रण-कार्य इतना द्रुतगति से न होता।

आशा है, 'जीवन-विज्ञान और जैन विद्या' के विद्यार्थियो को यह पुस्तक न केवल विश्व-विद्यालय की परीक्षा में उत्तीर्ण होने मे सहायता करेगी अपितु जीवन की परीक्षा मे सफलता का वरण करने मे सशक्त अभिप्रेरक की भूमिका निभाएगी तथा वे इसके माध्यम से 'जीवन विज्ञान' विषय के मूल उद्देश्य —'आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण' को उपलब्ध कर सकेंगे। विद्यार्थियो के अतिरिक्त जो भी जिज्ञासु पाठक इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करेंगे, वे भी निश्चित ही लाभान्वित होगे।

३० सितम्बर १९९२
जैन विश्व भारती
लाडनू

मुनि महेन्द्र कुमार
जेठालाल झवेरी

अनुक्रम

१. दर्शन और विज्ञान

तुलनात्मक अध्ययन

(i) दर्शन और विज्ञान में निकटता

मानव-मस्तिष्क जिज्ञासाओं का महासागर है। उसमे प्रश्नों की तरंगें और कल्लोलें उठती रहती है। मनुष्य अपनी इंद्रियों के द्वारा ज्योंही प्रकृति की प्रक्रियाओं का दर्शन करता है, त्योंही कैसे ? क्यो ? क्या ? कब से ? कब तक ? आदि प्रश्न खड़े हो जाते हैं। तब मनुष्य अपनी बुद्धि, तर्क या अन्तःदर्शन (intuition) के सहारे इन्हें समाहित करने का प्रयत्न करता है। जो इन प्रश्नों के उत्तर अपने सहज अन्त दर्शन के सहारे दे सकता है, वह दार्शनिक है। दूसरी ओर जो बौद्धिक ज्ञान के आधार पर इन्हे उत्तरित करता है, वह वैज्ञानिक है। दर्शन और विज्ञान दोनों ज्ञान-स्रोत की धाराएं है।

उच्चस्तरीय समन्विति की अपेक्षा

भारतीय दर्शन एवं इतिहास के मर्मज्ञ डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने दर्शन और विज्ञान की समन्विति को बहुत ही मार्मिक रूप मे इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है—

"ज्ञान कर्म की एक पूर्वापेक्षा है और अतएव समस्त व्यावहारिक जीवन नाना प्रकार के खडज्ञान पर आधारित है। शिल्पी हो या व्यापारी, राजा हो या सिपाई, सभी अपने व्यवहार के लिये आवश्यक ज्ञान खोजते हैं। इस प्रकार का व्यवहार्य खडज्ञान विकास के साथ समुचित और व्यवस्थित होने लगता है। कुतूहली और तर्कशील मस्तिष्क इस व्यवस्था में एक अनिवार्य सगति, एक मौलिक अन्विति खोजता है। इस खोज के परिणाम स्वरूप एकदेशी व्यावहारिक ज्ञान क्रमशः न्याय-सूत्र से संग्रथित अमूर्त तत्त्वों के प्रतिपादक एक शास्त्र का रूप धारण कर लेता है, इसी को विज्ञान कहते हैं। अमूर्त और समग्र तत्त्वों की ओर उद्दिष्ट होते हुए भी विज्ञान का एक छोर व्यवहार से बंधा रहता है। विज्ञान की धारणाओं और सिद्धातों का अन्तिम निकष उनकी व्यावहारिक उपयोगिता और प्रयोजनीयता ही है। यही कारण है, विज्ञान के अधिकाधिक प्रचार और प्रसार का और उसके कोरे शब्द-जाल से मुक्त रह कर निरन्तर प्रगति कर सकने की अद्भुत क्षमता का। व्यावहारिक जीवन-खड सुख-दुःख को लेकर प्रवृत्त होता है। विज्ञान

की भी चरम उपयोगिता इसी संदर्भ में है। इसके द्वारा मनुष्य नाना प्रकार के भौतिक साधन प्राप्त करता है, जिनसे वह अपने विशिष्ट दुःखों के परिहार और सुखों की प्राप्ति करने में समर्थ होता है। पर विज्ञान से मनुष्य को अपने चरम साध्य का ज्ञान नही हो सकता। मूलतः मनुष्य एक आत्मा है, जो अपने स्वरूप की ओर लौटना चाहती है, जो कि स्वर्गिक सुख मे भी कभी ऐकान्तिक तृप्ति का अनुभव नही कर सकती। मनुष्य यदि केवल देही ही होता और प्रकृति के क्षेत्र मे प्रवृत्ति मात्र उसका जीवन होता, तो सम्भवतः विज्ञान ही उसके लिये परम विद्या होती, परन्तु मनुष्य अपने को संसार के बन्धन में छटपटाता अनुभव करता है और मुक्ति के मार्ग को खोजता है। आत्म-ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नही, इसीलिए जहा लोक-व्यवहार में निरत मनुष्य वस्तुज्ञानात्मक विज्ञान का सहारा लेता है, वही परमार्थ पक्ष का पथिक मनुष्य आत्म-ज्ञान रूपी दर्शन का प्रकाश ढूंढता है। यही दर्शन और विज्ञान का निगूढ सम्बन्ध है। विज्ञान बहिर्मुख है, दर्शन अध्यात्म-प्रवण। विज्ञान वस्तुजगत् को परिवर्तित करने के साधन देता है, दर्शन ऐसी अन्तर्दृष्टि, जिससे मन को मुक्ति मिले।

"इस प्रकार एक मौलिक भेद के होते हुए भी विज्ञान और दर्शन अपने परम्परागत रूपों में निकट सम्बन्धी रहे है। समग्र विश्व के स्वरूप की जिज्ञासा दोनो में समान है। प्राचीन काल मे विश्व-विज्ञान दार्शनिक प्रस्थानों का एक नियत अग था। दर्शन के इस अश से ही परवर्ती वैज्ञानिक चिन्तन ने अपनी प्रेरणा पाई है। बहुत दिनों तक विज्ञान को प्रकृति-दर्शन कहा जाता था। न्यूटन ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ को 'प्राकृतिक दर्शन के गाणिनिक सिद्धात' नाम दिया है। पश्चिम मे जैसे-जैसे आधुनिक काल में विज्ञान का विकास हुआ, दर्शन ने प्राकृतिक विश्व के सम्बन्ध में अपने को विज्ञान का अनुचर मात्र मान लिया है। आजकल बहुत से दार्शनिक कहते है कि दर्शन का वस्तु-सत्यो से सम्बन्ध नहीं, उनके अनुसार दर्शन का ठीक विषय ज्ञान अथवा मूल्यो की मीमांसा है। दूसरी ओर विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में परिकल्पनाए वैज्ञानिक चिन्तन में नाना रूप से प्रकट हुई है और इन्हे दार्शनिक प्रवृत्तियों से असम्पृक्त नहीं माना जा सकता है। इस परिस्थिति का परिणाम एक विचित्र उलझन में है। विशुद्ध दार्शनिकरण विज्ञान की सहायता के बिना विश्व के स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकते और न विशुद्ध वैज्ञानिक ही दर्शन की सहायता के बिना अपने परम सिद्धांतों को व्यवस्थित और संगत रूप दे सकते हैं। दर्शन और विज्ञान की एक नई उच्च-स्तरीय समन्विति आज के चिन्तन की परमावश्यकता है।"[1]

विज्ञान और दर्शन का लक्ष्य एक होते हुए भी इनके साधनों में अन्तर

१. विश्व-प्रहेलिका, भूमिका, पृ० १,२।

है। दर्शन अन्तर्ज्ञान-शक्ति (Intutional Power) पर आधारित होता है, जबकि विज्ञान बौद्धिक शक्ति पर। दर्शन 'तर्क' को कसौटी मानकर चलता है, जबकि विज्ञान तर्क के साथ प्रयोग को भी। विज्ञान और दर्शन की इस भिन्नता के होते हुए भी, कभी-कभी ये एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाते है—यहां तक कि एक दूसरे मे घुल-मिल जाते है। इसीलिए सुप्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स (Sir James Jeans) अपनी एक पुस्तक में लिखते है[1]: "भौतिक विज्ञान और दर्शन की सीमा-रेखा, एक प्रकार से निरर्थक हो चुकी थी; पर सैद्धान्तिक भौतिक-विज्ञान के निकटभूत मे होने वाले विकास के कारण अब वही सीमारेखा महत्त्वपूर्ण और आकर्षक बन गई है। दर्शन और विज्ञान के इस सन्निकर्ष का कारण यह है कि इनका उद्गम-स्थान एक ही है।" कभी-कभी वैज्ञानिक सिद्धांतों का आविष्कार वैज्ञानिक के अन्तर्ज्ञान से स्फुरित होता है। तब वैज्ञानिक' भी 'दार्शनिक' बन जाता है —ऐसी स्थितियो मे दर्शन और विज्ञान का सुभग मिलन हो जाता है। विज्ञान के इतिहास मे ऐसे उदाहरणों की अल्पता नही है, जहां वैज्ञानिक सिद्धांतों का वृक्ष दर्शन-बीज से जन्म लेता हो। दर्शन के सुख्यात इतिहासकार विल डूरण्ट (Will Durant) ने सही लिखा है[2] "प्रत्येक विज्ञान का प्रारम्भ दर्शन से होता है और अन्त कला मे; वह 'उपकल्पना' से जन्म लेता है और 'सिद्धात' के रूप मे परिणित हो जाता है। दर्शन अज्ञान का उपकल्पित प्रतिपादन है (जैसे—तत्त्वदर्शन मे), अथवा अपूर्णतया ज्ञात का (जैसे—नीति-दर्शन और राजनीति-दर्शन मे)। दर्शन सत्य के घेरे में प्रथम 'दरार' है। विज्ञान एक सीमित भूमि है; उसकी पृष्ठभूमि में वह प्रदेश है, जहां ज्ञान और कला द्वारा सृष्टि की रचना होती है। किन्तु दर्शन जनक की तरह सदा ही व्यथित-सा दिखाई देता है। वह व्यथित इसलिए है कि विजय का श्रेय सदा वह अपने संतानों—विज्ञानों को देकर, स्वय अज्ञात और अविहरित प्रदेश में नई खोज के लिए भटकता रहता है।"

कुछ विचारक विज्ञान और दर्शन की तुलना करते समय विज्ञान को 'दर्शन' से अधिक पूर्ण बताते है। किन्तु यह अभिप्राय सत्य नहीं लगता। यह निःसदेह कहा जा सकता है कि दर्शन का स्थान विज्ञान से नीचा नहीं है। बल्कि दर्शन विज्ञान से अधिक साहसिक है। जैसे कि विल डूरण्ट ने एक स्थान में लिखा है :[3] "प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान की जीत होती है और दर्शन की हार। किन्तु इसका कारण यही है कि दर्शन उन समस्याओं को

१. फिजिक्स एण्ड फिलोसफी के प्रिफेस से।
२. दी स्टोरी ऑफ फिलोसोफी, पृ० २।
३. वही, पृ० २।

सुलझाने का दुरूह मार्ग अपनाता है, जो विज्ञान की पहुंच से बाहर है। जैसे—पुण्य और पाप, सौन्दर्य और विद्रूपता, व्यवस्था और अव्यवस्था, जन्म और मृत्यु की समस्याएं। जैसे ही जिज्ञासा का समाधान सम्यक् ज्ञान के रूप में होता है, वह विज्ञान' की संज्ञा को प्राप्त कर लेता है।" ड्रूरण्ट के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन किसी भी रूप में विज्ञान से निम्न नही है।

विज्ञान को दर्शन से अधिक पूर्ण बताने वाले अधिकांशतया यह तर्क उपस्थित करते है कि केवल कल्पना पर आधारित होने के कारण दर्शन का प्रामाण्य संदिग्ध है, जबकि विज्ञान निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित होने के कारण अधिक प्रामाणिक है। यह बात सत्य है कि आज के युग में विज्ञान ने अभियान्त्रिकी (Engineering) और प्रौद्योगिकी (Technology) के क्षेत्रों मे अभूतपूर्व सफलता पाकर, ज्ञान की अन्य शाखाओ को बहुत पीछे रख दिया है। इस सफलता ने मनुष्य के मस्तिष्क मे विज्ञान के प्रति सम्मान और हृदय मे उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दी है। अधिकाश लोग यह मानते है कि जो कुछ भी विज्ञान द्वारा घोषित होता है, वह 'अन्तिम सत्य' का उच्चारण है।

क्या वैज्ञानिक सिद्धान्त अन्तिम सत्य का उच्चारण है ?

किन्तु सामान्यतया लोग सैद्धातिक (वैचारिक) विज्ञान और व्यावहारिक (प्रायोगिक) विज्ञान के बीच जो अन्तर है, उसे परख नही पाते। यद्यपि यह सत्य है कि विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष सैद्धातिक पक्ष से निकटतया सम्बन्धित है, फिर भी इनके प्रामाण्य के विषय मे मूलभूत अन्तर भी है। वस्तुतः यह निश्चित रूप से माना गया है कि[1] प्रायोगिक विज्ञान के तथ्य विज्ञान के वैचारिक पक्ष को सूचित नहीं करते। अतः अभियान्त्रिकी और तकनीकी क्षेत्र मे विज्ञान की अद्वितीय सफलता होते हुए भी 'वैज्ञानिक नियम' अथवा 'वैज्ञानिक सिद्धात' अन्तिम सत्य का उच्चारण हैं, ऐसा नही माना जा सकता। इसका कारण यही है कि सामान्य मनुष्य वैज्ञानिक सिद्धांतो को जितना वास्तविक मानता है उससे अधिक वे काल्पनिक है। यह बात एफ० एस० सी० नोर्थरोप (F. S. C. Northrop) के इन शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है :

[2]"विधानात्मक शब्दों में हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि भौतिक विज्ञान के सिद्धांत, प्रायोगिक तथ्यो का वर्णन मात्र नही हैं; और न इस वर्णन के आधार पर किया जाने वाला अनुमान है। किन्तु जैसे आइस्टीन ने

---

१. देखे, फिजिक्स एण्ड फिलोसाफी. ले० डब्ल्यु० हाईजनबर्ग, पर एफ० एस० सी० नोर्थरोप द्वारा लिखित इन्ट्रोडक्शन, पृ० १४।

२. वही, पृ० १३।

जोर देकर कहा है, भौतिक-विज्ञानवेत्ता अपने सिद्धांत का निर्णय काल्पनिक आधारों पर करता है। उसके आनुमानिक निर्णयो में तथ्य साधन और काल्पनिक सिद्धांत साध्य नही होते, प्रत्युत काल्पनिक सिद्धांतों के आधार पर वह तथ्यों का और प्रायोगिक निष्कर्षों का अनुमान करता है। संक्षिप्त में, भौतिक-विज्ञान का कोई भी सिद्धात तथ्यो द्वारा आधारित कल्पनाओं से भी अधिक अनेक भौतिक और दार्शनिक कल्पनाएं करता है। इसीलिए किसी भी सिद्धांत मे परिवर्धन और परिवर्तन की सम्भावना रह जाती है।........"

इस प्रकार, वैज्ञानिक स्वय इस तथ्य को जानने लगे है कि वर्तमान विज्ञान के रूप मे उनके पास जो ज्ञान-राशि है, वह न केवल 'अपूर्ण' है अपितु 'संदिग्ध' भी है। इसी बात को आज तक जगत् के महान् वैज्ञानिकों ने बार-बार दुहराया है।

सुकरात (Socrates) से भी प्राचीन यूनानी दार्शनिकों के अनुसार 'दर्शन' शब्द का अर्थ होता है—'बहिर्जगत् का अध्ययन'।[1] अब, आधुनिक शब्दकोश के अनुसार 'बहिर्जगत् के अध्ययन' को 'विज्ञान' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार शब्द-रचना की दृष्टि से भी दर्शन और विज्ञान मे अत्यधिक साम्य है।

'विज्ञान' और 'दर्शन' के परस्पर सम्बन्धों के विषय मे विचारको में विचार-भेद होते हुए भी एक विचार स्पष्टतया मान्य हो चुका है कि दर्शन और विज्ञान में अति निकट का सम्बन्ध है, और यदि प्रकृति की कोई 'प्रहेलिका' को सुलझाने का प्रयत्न दोनो के द्वारा हुआ हो; तो उनके तुलनात्मक अध्ययन से उस प्रहेलिका को सुलझाने मे अवश्य सरलता हो सकती है। कुछ एक आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस तथ्य का मूल्यांकन किया है। उन्होंने आधुनिक विज्ञान के दर्शन-पक्ष की भी चर्चा की है। इसके परिणामस्वरूप एक नए विषय 'वैज्ञानिक दर्शन' (Philosophy of Science) का प्रादुर्भाव हुआ है। विज्ञान-जगत् मे अपने 'अनिश्चितता के नियम' (Uncertainty Principle) से एक नया उन्मेष लाने वाले सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक वर्नर हाईजनबर्ग (Werner Heisenberg) ने '**भौतिक विज्ञान और दर्शन**' नामक पुस्तक लिखकर, इस विषय मे एक नया अध्याय जोड़ा है। इस पुस्तक के परिचय में वैज्ञानिक एफ० एस० सी० नोर्थरोप ने लिखा है : [2]"ये प्रश्न खड़े होते हैं कि 'क्या भौतिक विज्ञान दर्शन से सर्वथा स्वतंत्र है ?' तथा 'क्या दर्शन को हटाकर ही आधुनिक विज्ञान अधिक प्रभावशाली बना है ?'—इन दोनो प्रश्नों का उत्तर हाईजनबर्ग 'निषेध' मे देते है।"

१. देखें, फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १।
२. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १२।

नोर्थरोप के इन शब्दो से उस विचार को स्पष्ट चुनौती मिल जाती है जो विज्ञान और दर्शन को पूर्व-पश्चिम की तरह मानता है और यह एक प्रमाणित सत्य हो जाता है कि आधुनिक विज्ञान की अत्यधिक सफलता में दर्शन का भी योग है।

तुलनात्मक अध्ययन का लाभ

दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन से जो लाभ होता है, उसकी एक झाकी स्वय हाईजनबर्ग के शब्दो मे हमें मिलती है। 'वर्तमान चिन्तन में आधुनिक विज्ञान के योग' की चर्चा करते हुए वे लिखते है। [1]"विज्ञान के इस आधुनिकतम अध्याय में बहुत स्थानों पर अति प्राचीन वैचारिक समस्याओ की चर्चा की गई है और वह भी एक नए दृष्टिकोण से। सामान्यतया यह एक माना हुआ सत्य है कि मानव-चिन्तन के इतिहास में जब भी दो विचारधाराओं का मिलन होता है, तब अति सुपरिणाम-शाली विकास का उद्भव होता है। भले ही उन विचारधाराओं का उद्गम-स्थान मानव-सस्कृति के भिन्न-भिन्न विभागो मे हो, भिन्न-भिन्न काल मे हो, भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों में हो अथवा भिन्न-भिन्न धार्मिक परं-पराओ में हो। प्रत्युत ऐसी विचारधाराए यदि वस्तुत: परस्पर मिलती है— यदि उनमे ऐसा सम्बन्ध है कि जिससे उनका वास्तविक सगम होता है तो यह सहज अनुमान है कि उसके परिणामस्वरूप नवीन और रोचक निष्कर्ष निकल सकते हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञान का एक अंश—अणु-विज्ञान (Atomic Physics) आज के युग मे वस्तुतः भिन्न भिन्न सास्कृतिक परं-पराओं को स्पर्श करता है।" हाईजनवर्ग ने इस चिन्तन से प्राचीन पारपरिक दर्शन के और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणो के तुलनात्मक अध्ययन का मूल्यांकन सहज रूप से फलित होता है। यदि हम आधुनिक विज्ञान के दर्शन से प्रकृति के रहस्यों को उद्घाटित करना चाहते है, तो प्राचीन दर्शनों का दृष्टिकोण इस विषय में क्या रहा है, यह जानना हमारे लिए निःसदेह उपयोगी होगा।

कुछ विचारक आधुनिक विज्ञान के दर्शन को 'वैज्ञानिक दर्शन' नही मानते। उनके अभिप्रायानुसार यह नई दार्शनिक धारा केवल कुछ एक वैज्ञानिकों की है। किन्तु 'विज्ञान' का सहज दार्शनिक स्वरूप सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ए० एस० एडिंग्टन (Sir A.S. Eddington) के शब्दों मे हमे देखने को मिलता है। **'भौतिक विज्ञान का दर्शन'** नामक अपनी पुस्तक की भूमिका मे वे लिखते हैं :[2] "यह बहुधा कहा जाता है कि विज्ञान

१. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १६१।

२. फिलोसोफी ओफ फिजिकल साईन्स, प्रिफेस, पृ० ७।

का कोई 'दर्शन' नहीं है केवल कुछ एक वैज्ञानिकों का 'दर्शन' हो सकता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। 'वर्तमान भौतिक विज्ञान क्या है और क्या नहीं है ?' इसका निर्णय करने वाले अधिकारी विद्वानों के अभिप्राय को यदि हम मान्यता देते हैं, तो यह मानना ही पड़ेगा कि वर्तमान भौतिक-विज्ञान का एक सुनिश्चित 'दर्शन' है। यह वही 'दर्शन' है, जिसके साथ वे सभी वैज्ञानिक अपनी पद्धति से वाग्बद्ध होते हैं, जो विज्ञान द्वारा स्वीकृत पद्धति को अपना कर चलते हैं। यह दर्शन इनकी उन पद्धतियों में सहज रूप से निहित है, जिनसे वे विज्ञान का विकास करते हैं—कभी-कभी तो वे समझते भी नहीं कि क्यों वे ऐसी पद्धति को व्यवहृत करते हैं।........"

आज के अधिकांश वैज्ञानिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'प्राचीन दार्शनिक समस्याएं और इनके समाधानों' की चर्चा यदि आधुनिक विज्ञान के सिद्धांतों के आलोक में की जाय तो वह वस्तुतः ही लाभदायक हो सकती है। जैसे कि माने हुए वैज्ञानिक सर एडमण्ड व्हीट्टाकर (Sir Edmund Whittakar), जिन्होंने प्राचीन यूनानी गणितज्ञ युक्लिड (Euclid) से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक एडिंग्टन तक के विज्ञान के इतिहास पर अधिकारपूर्ण पुस्तक लिखी है, अपनी उस पुस्तक की आदि में लिखते हैं : [1]"आज भी यह सत्य है कि बहुत सारे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा भौतिक विश्व के सन्दर्भ के बिना करना लाभदायक नहीं हो सकता और भौतिक विज्ञान के निकटभूत में हुए विकास ने कुछ पारंपरिक दर्शन की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। इन्हीं समस्याओं में 'आकाश के स्वरूप' का प्रश्न भी है।" प्रकृति की अनेक समस्याओं में से 'आकाश-तत्त्व' की समस्या भी एक है, जिसको आधुनिक विज्ञान ने नए दृष्टिकोण से हल करने का प्रयत्न किया है। और इस प्राचीन समस्या का यह नया हल अधिकतर ज्ञान-मीमांसा पर आधारित है। किन्तु कुछ विचारक आधुनिक विज्ञान के इस दार्शनिक लक्षण को स्वीकार नहीं करते। प्रसिद्ध आधुनिक दार्शनिक और वैज्ञानिक हन्स राइशनबाख़ (Hans Reichenbach) के शब्दों में यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है : [2]"यदि वर्तमान युग के दार्शनिक समकालीन विज्ञान के दार्शनिक लक्षण को स्वीकार नहीं करते है—यदि 'आपेक्षिकता का सिद्धांत' (Theory of Relativity) और 'सेट्स का सिद्धांत' (Theory of Sets) जैसे सिद्धांतों को वे 'अदार्शनिक' कहते हैं और उनको केवल विज्ञान-विशेष के ही अंग मानते हैं—तो यह निर्णय उन दार्शनिकों की आधुनिक वैज्ञानिक विचारों में निहित दार्शनिकता को समझने की असमर्थता

१. फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १।

२. दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाईम, प्रिफेस, पृ० १३।

को ही व्यक्त करता है।" आगे राइशनवाख् लिखते हैं : "'यह आवश्यक है कि विज्ञान को दार्शनिक दृष्टिकोणों से देखा जाय और उसके तीक्ष्ण उपकरणों से इस परिष्कृत ज्ञान का 'दर्शन' बनाया जाय।"

संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान और दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त उपयोगी हो सकता है।

(ii) आधुनिक विज्ञान का दर्शन

वास्तविकता का स्वरूप

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्रेड होयल (Fred Hoyle) विश्व (universe) की व्याख्या करते हुए लिखते है—[2]"विश्व सब कुछ है; जीव और निर्जीव पदार्थ; अणु और आकाश-गंगाएं (galaxies); और यदि भौतिक पदार्थों के साथ आध्यात्मिक तत्त्वों का अस्तित्व हो तो वे भी, और यदि स्वर्ग और नरक भी हो तो वे भी। चूंकि स्वभावतः विश्व सभी पदार्थों की सकलता है।" इस प्रकार, 'विश्व' शब्द का व्यापक अर्थ है उन सभी तत्त्वों का समूह, जिनका अस्तित्व हम इन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा द्वारा जान सकते है। अणु से लेकर आकाश-गंगा तक के सभी छोटे-बड़े भौतिक पदार्थ तो इसमे समाहित है ही। किन्तु इनके अतिरिक्त आकाश (space), काल (time), ईथर (ether), चैतन्य (consciousness) आदि तत्त्वों का भी अनुभव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे हमें होता है। अतः ये भी विश्व के अंग है। यह जानना आवश्यक है कि वास्तविकता (reality) का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न का समाधान वैज्ञानिकों ने किस प्रकार किया है? भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न रूप से इस प्रश्न का उत्तर दिया है[3] और ये उत्तर विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा दिये गए समाधानों से सादृश्य रखते हैं। वैज्ञानिकों के और दार्शनिकों के अभिप्रायों को मुख्य रूप से दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—

१. **आदर्शवाद** (Idealism)—इस विचारधारा के अनुसार हमारे ज्ञान में आने वाला विश्व 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' (objective reality)

१. दी फिलोसोफी आफ स्पेस एण्ड टाईम, पृ० १४।

२. फ्रन्टियर्स ऑफ एस्ट्रोनोमी' पृ० ३०४।

३. आधुनिक विज्ञान के दर्शनवेत्ता हेनरी मार्गेनो इस विषय में लिखते है कि "यह एक माना हुआ तथ्य है कि जहां तक शुद्ध वैज्ञानिक बातों का प्रश्न है, जगत् के वैज्ञानिक एकमत होते हैं। किन्तु 'वास्तविकता' के विषय में उनका भिन्न-भिन्न मत होना आश्चर्यजनक नहीं है।"
—दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १२

न होकर केवल 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' (subjective reality) है।[1] आदर्शवाद कहता है कि वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व होने पर भी हमारा (मनुष्य का) ज्ञान केवल ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता तक सीमित है। इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिकों मे डा० अलबर्ट आईन्स्टीन, सर ए० एस० एडिंग्टन, सर जेम्स जीन्स, हर्मन वाइल, अर्नस्ट माख, पोईनकेर आदि हैं और दार्शनिकों में प्लुतो (Plato), लाइबनीज, लोक, बर्कले, ह्यू म, काण्ट, हेगल आदि के नाम उल्लेखनीय है।

२ **वास्तविकतावाद** (Realism)—इसके अनुसार विश्व वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है। विश्व-स्थित पदार्थ ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी वास्तविक अस्तित्व रखते है। इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिकों में न्यूटन, बोहर (Bohr), हाइजनबर्ग, व्हीट्टाकर, राइशनबाख, सी० इ० एम० जोड, सर ओलिवर लोज और भौतिकवादी सोवियत वैज्ञानिक हैं तथा दार्शनिको मे डेमोक्रिटस और अणुवादी यूनानी दार्शनिक, अरस्तु, ईसाई पाण्डित्यवादी (Scholastic) दार्शनिक, रेने डेकार्टस्, बर्ट्रेण्ड रसल, हेन्री मार्गेनौ आदि के नाम उल्लेखनीय है।

(क) वैज्ञानिकों का आदर्शवाद और जैन दर्शन

विज्ञान के सहज दार्शनिक स्वभाव की चर्चा में यह बताया गया था कि [2]विज्ञान का एक सुनिश्चित दर्शन है। इससे यही तात्पर्य था कि विज्ञान मनुष्य के ज्ञान की धारा होने के कारण 'दर्शन' से अछूता नही रह सकता। किन्तु वैज्ञानिकों के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक धाराएं विज्ञान का दर्शन है, ऐसा नही माना जा सकता। जैसे मार्गेनौ के शब्दों मे हमने देखा कि[3] वास्तविकता के विषय में वैज्ञानिको का भिन्न-भिन्न मत होना आश्चर्यजनक नहीं है। इस अभिप्राय के आधार पर मार्गेनौ ने वैज्ञानिकों को भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रकारों में विभक्त किया है,[4] जिनमें प्लांक और आइन्स्टीन को विवेचनात्मक वास्तविकतावादी (क्रिटिकल रियलिस्ट्स) एडिंग्टन और जीन्स को

१. किसी भी पदार्थ का अस्तित्व यदि ज्ञाता की अपेक्षा बिना—अपने आप में स्वतन्त्रतया—होता है, तो वह 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' (objective reality) है। दूसरी ओर जिस पदार्थ का अपने आप में स्वतन्त्रतया कोई वास्तविक अस्तित्व नही है, किन्तु केवल ज्ञाता के मस्तिष्क में उसका अस्तित्व होता है, तो वह 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' (subjective reality) है।

२. देखें, पृ० ६।

३. देखें, पृ० ८, टिप्पण ३।

४. दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १२।

आदर्शवादी तथा बोहर और हाईजनबर्ग को विधानवादी अथवा प्रत्यक्षवादी (पॉजिटिवीस्ट) बताया है। मार्गेनौ तो यहां तक मानते हैं कि नितांत आत्मवादी (सोलिप्सिष्ट) भी कुछ एक सीमाओं मे वैज्ञानिक बन सकता है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक दर्शन और वैज्ञानिकों का दर्शन एक ही नही है। एडिंग्टन ने विज्ञान के दर्शन का जिस रूप मे प्रतिपादन किया है, उसे हम एडिंग्टन का दर्शन कह सकते है, परन्तु विज्ञान का दर्शन नही कह सकते। इसी प्रकार अन्य वैज्ञानिकों के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधाराए, उन वैज्ञानिकों के दर्शन है, न कि 'विज्ञान का दर्शन'।

आदर्शवादी वैज्ञानिकों मे मुख्यत. एडिंग्टन, वाईल, सर जेम्स जीन्स जैसे वैज्ञानिक है। एडिंग्टन ने यह तो स्वीकार किया है कि वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व है, किन्तु भौतिक विज्ञान के द्वारा हम विश्व का जो ज्ञान करते हैं, वह ज्ञाता-सापेक्ष है। एडिंग्टन की विचारधारा में ज्ञाता अथवा चैतन्य को प्रधानता दी गई है।[2] विज्ञान (विशेषतः भौतिक विज्ञान) विश्व के विषय मे निरपेक्ष सत्य अथवा वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को न जानना चाहता है और न जान सकता है। वैज्ञानिक पद्धतियो के द्वारा हम जो ज्ञान करते है, वह पूर्णतः ज्ञाता-सापेक्ष है।[3] इसका कारण यही है कि विज्ञान चैतन्य और बाह्य विश्व की संयुक्त अनुभूति से सम्बन्धित है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि भौतिक विश्व के पदार्थों का अस्तित्व चैतन्य की ज्ञान-पद्धति के द्वारा ही व्यक्त होता है और विज्ञान का सम्बन्ध इसके साथ होने के कारण विज्ञान द्वारा निर्मित नियम अथवा सिद्धात ज्ञाता-सापेक्ष ही है।

एडिंग्टन वास्तविकतावाद के कड़े विरोधी रहे है। उन्होंने वास्तविकतावाद को विरोधी विचारधारा के रूप मे मानकर ही अपनी विचारधारा का प्रतिपादन किया है। वास्तविकतावाद का यह साधारण प्रतिपादन है कि भौतिक पदार्थों का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष है तथा उनमे रहे हुए स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुण भी वस्तु-सापेक्ष हैं। एडिंग्टन के कथनानुसार—"भौतिक पदार्थों मे स्पर्श आदि वास्तविक गुणधर्म होते है, यह बात वैज्ञानिक प्रतिपादन के विरुद्ध है। उदाहरणस्वरूप वास्तविक 'सेव' का अस्तित्व ज्ञाता के

१. देखें, वही, पृ० १२; नितान्त आत्मवादी में सामान्यतया 'स्व' (आत्मा) के अतिरिक्त समस्त विश्व की वास्तविकता का निषेध किया गया है। ज्ञाता-सापेक्ष आदर्शवाद का ऐकान्तिक रूप 'नितान्त आत्मवाद' है।

२. देखें, दी फिलोसॉफी ऑफ फिजिकल साईन्स, पृ० १८५, १८७।

३. देखें, वही, पृ० १८४।

मस्तिष्क के बाहर स्वतन्त्र रूप से होता है, इस बात का मैं विरोध नहीं करता और न मैं इस बात का भी विरोध करता हूं कि 'रस' का वास्तविक अस्तित्व है। मेरा विरोध तो वास्तविकतावादियों की इस मान्यता से है कि वास्तविक सेव के भीतर ही वास्तविक रस का अस्तित्व है, जो ज्ञाता से सर्वथा निरपेक्ष है।''[1] एडिंग्टन स्वयं यह मानते है कि अनुभूति में आने वाली बातों में 'ज्ञाता' अथवा 'मन' सर्वप्रथम और प्रत्यक्ष है; शेष सब उत्तरवर्ती अनुमान होने से परोक्ष हैं। प्रत्येक मनुष्य की अनुभूति मे यह बात तो आती ही है कि उसकी चेतना मे क्रमगत परिवर्तन होता रहता है—स्मृति, कल्पना, भावना आदि की अनुभूति भी इसके साथ-साथ होती रहती है। इस प्रकार किसी भी प्रकार की अनुभूति मे एक ऐसा तत्त्व रहता है, जो यद्यपि व्यक्तिगत चैतन्य से भिन्न है, बहिर्जगत् के पदार्थों से भी भिन्न है; बहिर्जगत् के पदार्थ और उनकी ऐन्द्रिय अनुभूति तो इससे बहुत बाद के हैं तथा परोक्ष हैं।[2] इस प्रकार देखा जा सकता है कि एडिंग्टन की विचारधारा मे ज्ञाता को प्रधानता दी गई है; वह इसलिए कि उनके अभिमत मे ज्ञाता की कोई भी अनुभूति नई नही होती; पुरानी अनुभूति के साथ कुछ-न-कुछ सादृश्य रखती ही है। ज्ञाता वही रहता है और पुरानी अनुभूति के आधार पर नई अनुभूति को जन्म देता है। यह नई-पुरानी का चक्र चलता रहता है और पुन: हमे वही अनुभूति होती है, जो पहले हो चुकी थी।[3] भौतिक विज्ञान इसी बात पर आधारित है कि भिन्न-भिन्न अनुभूतियों का ज्ञाता एक ही है और इसलिए ही भौतिक विज्ञान ज्ञाता-सापेक्ष विश्व का प्रतिपादन करता है।[4]

एडिंग्टन ने अपनी विचारधारा को सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद कहा है।[5]

नितान्त आत्मवाद मे केवल 'स्व' को ही वास्तविक माना गया है। एडिंग्टन की विचारधारा के अनुसार हमारी चेतना के अतिरिक्त भी अन्य चेतना का वास्तविक अस्तित्व हो सकता है, क्योंकि मेरे कान और वाचा की अनुभूति (सुने जाने और पढ़े जाने वाले शब्दों की) का जो मेरे लिए प्रत्यक्ष ज्ञान है, वह दूसरों के लिए नितान्त भिन्न अनुभूति का परोक्ष ज्ञान हो सकता है, किन्तु नितान्त आत्मवाद यह स्वीकार नही करता। अतः

---

१. दी न्यू पाथवेज इन साईन्स, पृ० २८१।
२. वही, पृ० २८०।
३. वही, पृ० २८६।
४. वही, पृ० २८७।
५. देखें, दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स, पृ० २७।

भौतिक विज्ञान आत्मवाद का विरोधी हो जाता है।[1] एक स्थान में वास्तविकतावादी विचारधारा को उद्धृत करके, उन्होंने लिखा है कि इस प्रकार की विचारधारा बीसवीं सदी के दर्शन का आधार कैसे बन सकती है, यह मेरी समझ में नहीं आता।[2]

इस प्रकार एडिंग्टन के ज्ञाता-सापेक्षवाद का तात्पर्य यही लगता है कि चैतन्य या मन वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है, जब कि भौतिक जगत् ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता है।

प्रो० स्टेबिंग ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है --"सर आर्थर एडिंग्टन के दार्शनिक ग्रन्थों में यह बात पायी जाती है कि उनकी स्वयं की रूढ दार्शनिक भावना उन्हें इस बात के लिए चिन्तित करती है कि उनके वैज्ञानिक दर्शन को वे किस प्रकार से उनके जीवन-दर्शन के साथ सम्बन्धित कर सकें। किन्तु ऐसा करने में जो मूल्य उन्हें चुकाना पड़ा है, वह उनकी धारणा से अत्यधिक है।"[3] इस प्रकार एडिंग्टन के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधारा उनके स्वयं का दर्शन है।

एडिंग्टन का दर्शन और जैन दर्शन

एडिंग्टन के दर्शन की जैन दर्शन के साथ तुलना करते समय हमें जैन दर्शन की ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा को ध्यान में रखना होगा। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्षण 'उपयोग' अर्थात् चैतन्य-व्यापार है।[4] चैतन्य की प्रवृत्ति के द्वारा आत्मा द्रव्यों को जानती है। प्रत्येक द्रव्य में सहज रूप से अनन्त गुण विद्यमान होते है, जो मुख्यतया दो प्रकार के है—सामान्य और विशेष। ये गुण द्रव्य में वस्तु-निष्ठ होते है। इनको आत्मा जब जानती है, तब वह जानना क्रमशः दर्शन[5] (अनाकार उपयोग) और ज्ञान (साकार उपयोग) कहलाता है। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु (ज्ञेय) के वस्तु-निष्ठ गुणों के कारण ही ज्ञाता (आत्मा) का अवबोध दो प्रकारों में विभक्त हो जाता है। दूसरी जो जैन ज्ञान-मीमांसा की अपनी मौलिक और विशिष्ट बात है, वह यह है कि ऐन्द्रिय ज्ञान के अतिरिक्त 'अतीन्द्रिय ज्ञान' का होना भी

१. दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साईन्स, पृ० १९८, १९९।

२. वही, पृ० २११, २१२।

३. फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, प्रिफेस, पृ० १०।

४. उपयोगलक्षणो जीवः। चेतनाव्यापार उपयोगः॥

—श्री जैन सिद्धांत दीपिका, २-१,२।

५. 'दर्शन' शब्द जैन ज्ञान-मीमांसा का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—वस्तु (द्रव्य) के सामान्य गुणों का अवबोध। यह सामान्यतया प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द से नितान्त भिन्न है

वह स्वीकार करता है। जहां ऐन्द्रिय ज्ञान में आत्मा वस्तुओं को इन्द्रिय और मन की सहायता से जानती है, वहां अतीन्द्रिय-ज्ञान में बिना इनकी सहायता से अपने आप ज्ञेय वस्तु को जान लेती है। जैन दर्शन में ज्ञान के पांच भेद बताये गये है।[1] उनमें से प्रथम दो—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान तो ऐन्द्रिय हैं और शेष तीन—अवधिज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और केवलज्ञान अतीन्द्रिय हैं। प्रथम दो आत्मा के अतिरिक्त बाह्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं (चाहे वे साधन इन्द्रिय अथवा मन के रूप में हों या भौतिक उपकरणों के रूप में हो), जबकि शेष तीन मे बाह्य भौतिक साधनों की किंचित् भी अपेक्षा नही रहती। इसीलिए अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये तीन प्रत्यक्ष माने जाते हैं और मति-श्रुत परोक्ष माने जाते हैं।

दूसरी ओर जैन तत्त्व-मीमासा का यह स्पष्ट निरूपण है कि जीवास्तिकाय (आत्मा) और पुद्‌गलास्तिकाय दोनों स्वतंत्र तत्त्व हैं और वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताएं हैं। चैतन्य आत्मा का असाधारण गुण है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये पुद्‌गल के अनिवार्य गुण है और वस्तु-सापेक्ष है। पुद्‌गल तत्त्व की परिभाषा ही इस प्रकार की गई है कि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण (रंग), जिसमे हों, वह पुद्‌गल है।[2]

एडिंग्टन के दर्शन और जैन दर्शन में कितना साम्य-वैषम्य है, यह अब सरलतया स्पष्ट हो सकता है। एडिंग्टन ने अपने दर्शन का आधार ज्ञान मैमांसिक विश्लेषण को बना कर यह प्रतिपादित किया है कि चैतन्य एक वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है, जो हमारे सारे ज्ञान, अनुभूति, विचार, स्मृति आदि का स्रोत है। जैन-दर्शन भी आत्मा का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के

१. (१) मतिज्ञान—इन्द्रिय, मन और बुद्धि की सहायता से होने वाला।
(२) श्रुतज्ञान—स्व और पर का अवबोध कराने में समर्थ मतिज्ञान।
(३) अवधिज्ञान—बाह्य साधनों की अपेक्षा के बिना केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला दृश्य पदार्थों का ज्ञान।
(४) मनःपर्यवज्ञान—केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला संज्ञी प्राणियों के मनोभावों का ज्ञान।
(५) केवलज्ञान—केवल आत्मा के द्वारा ही होने वाला समस्त द्रव्यों व पर्यायों का साक्षात्कार।
(इनके विस्तृत विवेचन के लिए देखें, श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश दूसरा तथा भिक्षुन्यायकर्णिका, विभाग ५)

२. स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्‌गलः।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-११।

रूप में स्वीकार करता है और उसको ही सभी चेतनामय प्रवृत्तियों का स्रोत मानता है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व के विषय में तथा उसके गुण के विषय में दोनों दर्शनों का सदृश प्रतिपादन रहा है।

बाह्य विश्व अथवा भौतिक जगत् के 'अस्तित्व' का जहां तक प्रश्न है दोनो ही दर्शन उसको स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के विषय में दोनों मे मौलिक मतभेद प्रतीत होता है। एडिंग्टन यह मानते हैं कि भौतिक पदार्थ के वर्ण, रस आदि सभी गुण वस्तु-निष्ठ न होकर केवल चैतन्य की प्रवृत्ति के निमित्त ही उसमें आरोपित होते हैं; जब कि जैन दर्शन के अनुसार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व चैतन्यजन्य नही, अपितु पुद्गल मे स्वाभाविक रूप से ही होता है। पुद्गल के प्रत्येक परमाणु मे एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं।[1] परमाणु का अस्तित्व जिस प्रकार वस्तु सापेक्ष है—ज्ञाता-सापेक्ष नहीं, उसी प्रकार स्पर्शादि गुणचतुष्टय भी परमाणु के वस्तु-सापेक्ष गुण है और ज्ञाता की अपेक्षा बिना ये सदा परमाणु में रहते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि स्पर्शादि चतुष्टय की विविधता का अस्तित्व भी ज्ञाता-सापेक्ष न होकर वस्तु-सापेक्ष ही है। विश्व मे अस्तित्ववान् अनन्त परमाणुओ मे अनन्त प्रकार से इन गुणो का वैविध्य और तारतम्य होता है। उदाहरणार्थ हम वर्ण को लें—काला, नीला, रक्त, पीत और श्वेत पांच प्रकार के वर्ण मौलिक माने जाते हैं। प्रत्येक परमाणु मे इन पांच वर्णों मे से कोई भी एक वर्ण अवश्य होता है। इसमें भी फिर समान वर्ण वाले परमाणुओं में उस वर्ण की मात्रा का तारतम्य होता है। कुछ एक परमाणु केवल एक गुण (यूनिट) वाले होते हैं, कुछ एक परमाणु दो गुण वाले, कुछ अनन्त गुण वाले भी होते है। इस प्रकार से अन्य वर्णों की तथा रस आदि गुणो की भी विविधता और तारतम्य वस्तु-सापेक्ष रूप मे परमाणुओ में होता है। इस प्रकार वर्णादि चतुष्टय की विविधता का अस्तित्व न तो चेतना द्वारा आरोपित है और न चेतना पर आधारित ही है। यह जैन परमाणुवाद की तात्त्विक रूपरेखा है। इसके अनुसार 'सेव' जिन परमाणुओं का बना हुआ है, उनमे से प्रत्येक परमाणु में कोई न कोई 'रस' तो होता ही है और इन सब परमाणुओं के समूह रूप सेव का रस भी वास्तविक अस्तित्व रखता है।

आधुनिक विज्ञान भौतिक पदार्थ की अन्तिम इकाई तक पहुंच नही पाया है, फिर भी अणु-स्थित कण—'ऋणाणु', 'धनाणु' आदि व्यावहारिक रूप में भौतिक पदार्थों की इकाइयों के रूप में माने जाते है। एडिंग्टन इन

१. एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च।

—पञ्चास्तिकायसार।

कणों के वास्तविक अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं, पर इनमें वर्णादि गुणों का वास्तविक अस्तित्व है, ऐसा वे नहीं मानते। उनके यह बात समझ में नहीं आती कि ज्ञाता की अपेक्षा के बिना भी स्वयं परमाणु और पदार्थ वर्णादि को किस प्रकार धारण कर सकते है। किन्तु यह केवल उनकी रूढ आदर्शवादी विचारधारा के कारण से है, ऐसा लगता है।

वर्णादि की विविधता प्रत्यक्षतया हमारी अनुभूति में आती है और एडिंग्टन भी इसका निषेध नहीं कर सकते। अब, यदि यह विविधता वस्तु-निष्ठ न होती, तो एक ही चैतन्य को विभिन्न पदार्थ, विविध वर्णादि वाले किस प्रकार अनुभूत होते ? साथ ही यदि वर्णादि को बुनने वाला चैतन्य ही होता और पदार्थ अपने आपमे निर्गुण ही होता,[1] तो फिर एक ही पदार्थ नाना ज्ञाताओं के द्वारा समान ही वर्णादि वाला क्यो अनुभूत होता[2] अर्थात् यदि

१ देखें, दी न्यू पाथवेज इन साईन्स, पृ० ८८।

२. यह सही है कि कभी-कभी एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न ज्ञाताओं को भिन्न-भिन्न वर्णादि वाला अनभूत होता है, किन्तु इसका कारण व्यक्तिगत क्षमता और साधनो की भिन्नता है। जैसे वर्णांध व्यक्तियों को वर्णों की विविधता का कोई पता नहीं चलता। इस प्रकार मुझे जो वस्तु स्वाद मे मीठी लगती है, वह दूसरे व्यक्ति को खारी भी लग सकती है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि वस्तु-निष्ठ कोई रस उस वस्तु मे है ही नही। अनुभूति में रसों की भिन्नता का होना हम दोनों की रसनेन्द्रिय की क्षमता और रचना-भिन्नता का द्योतक है। जो 'रस' हमें अनुभूति मे ज्ञात होता है, वह वस्तु-निष्ठ रस के साथ रसनेन्द्रिय के रासायनिक और भौतिक प्रक्रिया के फलस्वरूप निष्पन्न 'रस' है। अत. यदि मेरी और दूसरे व्यक्ति की रसनेन्द्रिय मे थोड़ा-सा भी अन्तर हो, तो अनुभूत 'रस' दोनों के लिए भिन्न-भिन्न होगा। इसको हम गाणितिक समीकरण के द्वारा इस प्रकार बता सकते हैं: यदि अ वस्तु-निष्ठ-गुण हो, $ब_1$ और $ब_2$ दो ज्ञाताओं की इन्द्रियों की रचना के द्योतक अचल हों और $क_1$ और $क_2$ क्रमश. दोनों ज्ञाताओं द्वारा अनुभूत गुण हो,

$$अ + ब_1 = क_1$$

होगा, और

$$अ + ब_2 = क_2$$

होगा। इस समीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि यदि

$$ब_1 = ब_2$$

हो, तो

$$क_1 = क_2$$

पदार्थ मे स्वयं किसी भी प्रकार का वैशिष्ट्य न हो तो सभी ज्ञाता उसे समान रूप से अनुभव करें, यह संभव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—दूब का रंग सभी मनुष्यों को हरा दिखाई देता है। एडिंग्टन का मत है कि इसमें दूब की स्वयं की कोई विशिष्टता नहीं है। ज्ञाता अपनी विशिष्ट चैतन्य शक्ति के कारण ही दूब को हरी देखता है, किन्तु यह न तो सामान्य तर्क के आधार पर सही लगता है, न वर्तमान मे उपलब्ध वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर और न जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा के आधार पर ही। सामान्य बुद्धि हमे यही बताती है कि दूब का चैतन्य से सम्बन्ध न हो तो भी वह हरी ही रहती है।

दूसरी ओर विज्ञान 'रंग' की प्रक्रिया को तरग-सिद्धांत के आधार पर समझाता है। विज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धात है कि सूर्य के सफेद प्रकाश मे समग्र चाक्षुष वर्णपट का समावेश हो जाता है। सूर्य से प्रसारित होने वाले प्रकाश-तरग जब पदार्थ में होकर गुजरते हैं, तब उस पदार्थ की स्वयं की विशिष्टता के कारण एक विशेष तरग-दैर्घ्य को छोडकर शेष सभी उस पदार्थ के द्वारा शोषित हो जाते है। इस प्रकार जब दूब में से प्रकाश की तरगें गुजरती है, तब दूब की विशिष्टता के कारण ही हरे रंग को सूचित करने वाली तरग-दैर्घ्य को छोडकर शेष तरग-दैर्घ्य वाली सभी तरगें दूब के

होगा। अर्थात् दोनों ज्ञाताओं को समान अनुभूति होगी। सामान्यतया यही होता है, क्योंकि अधिकांश रूप में मनुष्यों के लिए $ब_1$, $ब_2$ आदि भिन्न-भिन्न नहीं होते। इन समीकरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अ और क समान तभी हो सकते हैं जबकि ब का मूल्य शून्य हो अर्थात् इन्द्रिय रूप साधन की रचना और क्षमता का बिल्कुल ही प्रभाव हमारे ज्ञान पर न पड़े, तभी हमारी अनुभूति मे आने वाले गुण पदार्थ के वस्तु-निष्ठ गुण हो सकते है। अतीन्द्रिय ज्ञान में यह सभव हो जाता है। साथ ही यह भी सभव है कि एक ही ज्ञाता के लिए ऐन्द्रिय रचना और क्षमता परिवर्तित हो जाये, अर्थात् ब का मूल्य अचल न रहे; तब एक ही ज्ञाता को एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न रूप से अनुभूत होगा। जैसे—एक मनुष्य यदि चीनी मिलाया हुआ दूध पीता है तो उसे वह मीठा लगता है। वही मनुष्य मिठाई खाने के बाद उसी दूध को पीता है तो वह फीका लगता है। इसका अर्थ यही होता है कि ब का मूल्य दोनो परिस्थितियों मे भिन्न-भिन्न होगा। किन्तु सामान्य परिस्थिति में ब के मूल्य को सभी ज्ञाताओं के लिए सम माना जा सकता है।

द्वारा शोषित (एब्सोर्ब्ड) हो जाती हैं। हमारी आंख तक केवल वे ही तरंगें पहुंचती हैं, जिनका तरंग-दैर्घ्य हरे रंग को सूचित करता है और इसीलिए हमें दूब हरी दिखाई देती है। इस तरह वैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार भी हमारा—चैतन्य का—ज्ञाता का—दूब को हरा, गुलाब को लाल और संतरे को नारंगी देखना हमारे चैतन्य पर आधारित नहीं है, किन्तु इस बात पर आधारित है कि कौन-सा तरंग-दैर्घ्य उन पदार्थों के द्वारा शोषित नहीं हो पाता। तरंग-दैर्घ्यों का शोषण पदार्थ के स्वरूप पर निर्भर करता है अथवा दूसरे शब्दों में कहा जाये तो पदार्थ के स्वरूप में ही पदार्थ का वर्ण निहित है। इसलिए एडिंग्टन का यह मन्तव्य कि वर्ण को बुनने वाला चैतन्य है, वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर भी गलत ही सिद्ध हो जाता है।

जैन दर्शन तो यह स्पष्ट रूप से बताता है कि पुद्गल स्वयं ही स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त होता है। दूब के परमाणुओं मे सभी वर्ण वाले परमाणु मौजूद है, इसलिए वस्तुतः तो दूब का रंग हरा ही नहीं है, किन्तु हरे रंग वाले परमाणुओं की संख्या अधिक होने के कारण दूब हमें हरी दिखाई देती है। वस्तुतः तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण और जैन दर्शन के दृष्टिकोण में अधिक अन्तर ही नहीं रह जाता; क्योंकि पदार्थ का वर्ण दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार पदार्थ की रचना मे ही निहित होता है। पदार्थ के द्वारा कौन-कौन से तरंग-दैर्घ्य का शोषण होता है, इसका आधार पदार्थ की रचना है —पदार्थ-स्थित परमाणुओं का मूल वर्ण ही है। वर्णादि गुणों से रहित ऋणाणु किस प्रकार का अस्तित्व रखता है, इस विषय में एडिंग्टन ने कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। सम्भवतः उनके अभिमतानुसार सहित या विद्युत्-आवेश ही केवल भौतिक पदार्थ (ऋणाणु आदि) का वास्तविक गुण है और वर्णादि गुण केवल चैतन्य द्वारा आरोपित होते हैं। जैन दर्शन संहृति को 'स्पर्श'[1] गुण मानता है। अकेले परमाणु मे संहृति होती ही नही है। अकेले परमाणु में दो स्पर्श होते हैं। स्निग्ध-रुक्ष के युग्म में से एक और शीत-उष्ण के युग्म में से एक। इस प्रकार 'संहृति' जो लघु-गुरु स्पर्श गुणों

---

१. स्पर्श पुद्गल का मूल गुण है। उसके आठ भेद है—स्निग्ध, रुक्ष, शीत, उष्ण, लघु, गुरु, मृदु, कठोर। इसमें से स्निग्ध-रुक्ष व शीत-उष्ण—ये चार स्पर्श मौलिक हैं और शेष चार स्पर्श परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं। रुक्ष, स्निग्ध आदि केवल स्पर्श की अभिव्यक्ति के प्रकार नहीं हैं, किन्तु परमाणु में वस्तु-सापेक्ष से रहने वाले गुण हैं। चैतन्य की अनुभूति के साथ इनकी स्थायी सत्ता नहीं बदलती।

से उद्भुत होती है, परमाणु पुद्गल का मूलभूत गुण नहीं है।[1]

अब तक हमने केवल ऐन्द्रिय ज्ञान की चर्चा की। जैन दर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान का विस्तृत रूप से विवेचन उपलब्ध होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान में पदार्थ के वस्तु-निष्ठ गुण उसी रूप में जाने जाते है जिस रूप मे वे वस्तुतः ही हैं, क्योंकि यहां आत्मा का ज्ञेय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान में आत्मा किसी भौतिक साधन की सहायता के बिना पदार्थ के गुणों का ज्ञान करती है; अतः इन्द्रिय आदि साधनो के हस्तक्षेप के कारण जो भिन्नता अनुभूत गुण और वस्तु-निष्ठ गुण में उत्पन्न हो जाती है, वह यहां नहीं होती। इस प्रकार के ज्ञान की सहायता से परमाणु और स्कन्ध मे रहे हुए वस्तु-सापेक्ष वर्णादि गुण का ज्ञान मनुष्य कर सकता है।

एडिंग्टन के दर्शन मे प्रयुक्त 'भौतिक विज्ञान का विश्व' और 'भौतिक विश्व' इन दो शब्दों के उलझन की चर्चा हम कर चुके है। अब जैन दर्शन के आलोक में इन दो शब्दो का अर्थ अधिक स्पष्ट हो सकता है। 'भौतिक विश्व' पौद्गलिक विश्व है, जिसमें परमाणु और स्कन्ध अपना-अपना वास्तविक अस्तित्व रखते हैं, एक दूसरे के साथ जुड़ते हैं और एक दूसरे से पृथक् होते हैं—यह भेद और संघात की क्रिया वस्तु-सापेक्ष रूप से चलती रहती है। जब इस विश्व को हम अतीन्द्रिय ज्ञान से जानते है, तब हमारे ज्ञान में आने वाला विश्व भी 'भौतिक विश्व' के सदृश ही होता है, किन्तु जब इंद्रिय, मन और बाह्य उपकरणों की सहायता से हम 'भौतिक विश्व' को जानते हैं तब हमारे ज्ञान में आने वाले विश्व और 'भौतिक विश्व' में कुछ अन्तर रह जाता है। यह अन्तर हमारे अथवा ज्ञाता के इन्द्रिय, मन और अन्यान्य साधनों के हस्तक्षेप तथा सीमितता के कारण उत्पन्न होता है। 'भौतिक विज्ञान' भी इस प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञान का ही विशिष्ट प्रकार है। अतः इसके द्वारा जाने जाने वाले विश्व को हम 'भौतिक विज्ञान का विश्व' कह सकते हैं। इस दृष्टि से इसके नियमों को 'ज्ञाता-सापेक्ष' मानना भी अनुचित नहीं है। इस प्रकार 'भौतिक विज्ञान के विश्व' को यदि एडिंग्टन ज्ञाता-सापेक्ष कहते हैं तो वह जैन दर्शन की दृष्टि से भी सही है।

एडिंग्टन के दर्शन में 'भौतिक विश्व' और 'भौतिक विज्ञान के विश्व' के बीच के अन्तर के विषय में जो अस्पष्टता रही है, उसका एक कारण सम्भवतः यह भी हो सकता है—पदार्थ मे रहे हुए स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णआदि गुणों का ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय रसेनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ही

१. संहति-शून्य परमाणु की चर्चा 'आपेक्षिकता के सिद्धात' की समीक्षा में विस्तृत रूप से की जायेगी।

मनुष्य करता है। प्रत्येक इन्द्रिय में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने वाले संवेदनशील ज्ञान-तन्तुओं की विशिष्ट प्रकार की रचना होती है। इस प्रकार ऐन्द्रिय रचना और पदार्थ के गुणों में जो प्राकृतिक सादृश्य है, उससे यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या स्पर्शनेन्द्रिय आदि की ऐन्द्रिय विशिष्टता मौलिक है और इनके निमित्त से ही पदार्थ स्पर्शादि गुण वाले बन जाते हैं अथवा पदार्थ स्वभावतया स्पर्शादि गुणों को धारण करने वाले हैं और स्पर्शनेन्द्रिय आदि की रचना स्वतन्त्र तथ्य है? एडिंग्टन ज्ञाता की ऐन्द्रिय विशिष्टता को मौलिक मान कर ज्ञाता-सापेक्षवाद को स्थापित करते हैं, किन्तु वस्तुतः तो 'भौतिक विश्व' में स्पर्शादि गुण ही मौलिक और प्रधान है। भौतिक विज्ञान के विश्व' में ऐन्द्रिय रचना की विशिष्टता को प्रधान माना जा सकता है; फिर भी यह केवल ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र से संबन्धित तथ्य है। जहां तत्त्व-मीमांसा का प्रश्न है, वहा तो ऐन्द्रिय रचना को एक स्वतत्र तथ्य के रूप में ही मानना उपयुक्त होगा।

एडिंग्टन के दर्शन का सबसे अधिक निर्बल पक्ष यह है कि जिस भौतिक विज्ञान पर वह आधारित है, वह भौतिक विज्ञान अब तक, 'भौतिक पदार्थ की चरम इकाई क्या है?' 'उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है?' आदि प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहा है। जिन संज्ञाओं का प्रयोग भौतिक विज्ञान में किया जाता है, उन सज्ञाओ के तात्त्विक स्वरूप के विषय में वह कुछ भी नहीं बताता। उदाहरणार्थ—वर्ण को समझाने के लिए भौतिक विज्ञान में प्रकाश-तरंगों के दैर्घ्य का विवेचन किया गया है; किन्तु प्रकाश स्वय क्या है—तरग-रूप है या कण रूप? पदार्थ प्रकाश-तरंगों को किस कारण से शोषित करता है? आदि प्रश्नों का समाधान भौतिक विज्ञान अब तक नहीं दे पाया है और तब तक नही दे पायेगा, जब तक कि भौतिक पदार्थ का चरम रूप स्पष्ट नही हो जाता। वर्तमान मे इस विषय मे अनेक प्रकार की उपधारणाए और परिकल्पनाएं विज्ञान-जगत् मे प्रचलित हैं। भौतिकवादी वैज्ञानिक जहां ऐसी परिकल्पनाओं के आधार पर वर्ण को वस्तु-सापेक्ष गुण के रूप में प्रतिपादित करते है, वहां एडिंग्टन का दर्शन ऐसी ही कोई परि-कल्पना का आधार लेकर वर्ण को ज्ञाता-सापेक्ष गुण के रूप में निरूपित करता है। इस प्रकार का प्रतिपादन केवल आनुमानिक है, अनाधारित है और प्रत्यक्ष अनुभव का प्रतिरोधी है।

जैन दर्शनकारो ने पुद्गल के चरम स्वरूप को अपने अतीन्द्रिय ज्ञान की सहायता से जाना है और इसके आधार पर ही परमाणुवाद का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। वर्ण आदि गुण वस्तुतः ही वस्तु-निष्ठ होते हैं, इत्यादि प्रतिपादनों का आधार उनके वस्तु-स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। जैन दर्शन के अनुसार तो इस स्वरूप को ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाना ही नही जा

सकता । अतः भौतिक विज्ञान केवल ऐन्द्रिय ज्ञान के आधार पर कभी भी इसको जानने में समर्थ नहीं बनेगा, ऐसा जैन दर्शन के आधार पर कहा जा सकता है :

एडिंग्टन के दर्शन की विविध दृष्टिकोणों के आलोक में समीक्षा करने का प्रयत्न हमने किया। विश्व के तत्त्व-मैमांसिक पहलू की चर्चा एक स्वतन्त्र और अतिविस्तृत विषय है। यहां पर तो इसकी चर्चा गौण रूप में ही की गई है। इस चर्चा का उपसंहार इन छः तथ्यो में किया जा सकता है।

१. ज्ञान-मैमांसिक विश्लेषण के आधार पर एडिंग्टन ने चैतन्य तत्त्व का वस्तु-सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व स्वीकार किया है। जैन दर्शन भी जीवास्तिकाय को स्वतन्त्र वास्तविक तत्त्व के रूप मे स्वीकार करता है।

२. भौतिक विज्ञान के द्वारा इस वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को जानना मनुष्य के लिए संभव नहीं है— यह एडिंग्टन का स्पष्ट अभिप्राय है। जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि आत्मा आदि अरूपी द्रव्य सकल ज्ञान (केवल ज्ञान) के विषय हैं; विकल ज्ञान (मति आदि चार) के द्वारा ये नहीं जाने जा सकते।

३. अनुभूति, स्मृति, कल्पना, सवेदना आदि चैतन्य तत्त्व के ही लक्षण हैं। एडिंग्टन के दर्शन की यह मान्यता जैन दर्शन को भी मान्य है।

४. एडिंग्टन अपने दर्शन को वर्तमान भौतिक विज्ञान द्वारा आधारित मानते हैं; अतः वे उसको 'वैज्ञानिक दर्शन' की संज्ञा देते हैं, किन्तु यह उपयुक्त नहीं लगता। वस्तुतः यह विचारधारा उनकी व्यक्तिगत रूढ़ मान्यताओ पर आधारित है; अतः इसको वैज्ञानिक दर्शन न मानकर 'एडिंग्टन का दर्शन' मानना ही अधिक उपयुक्त लगता है।

५. यद्यपि एडिंग्टन का दर्शन भौतिक जगत् का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करता है, फिर भी उसके स्वरूप के विषय में अस्पष्ट रहा है। अपने दर्शन को वे 'सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद' के रूप मे प्रतिपादित करते हैं; इसका तात्पर्य यही लगता है कि भौतिक पदार्थ के अस्तित्व को तो वे वस्तु-सापेक्ष मानते हैं, किन्तु वर्ण, गन्ध आदि गुणो को ज्ञाता-सापेक्ष मानते है। इस विषय में जैन दर्शन भिन्न अभिमत रखता है। जैन दर्शन पुद्गलास्तिकाय को स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे मानता है।

६. भौतिक पदार्थ के चरम वास्तविक स्वरूप को अब तक भौतिक विज्ञान नही जान सका है। इस प्रकार एडिंग्टन का दर्शन वर्तमान भौतिक विज्ञान के अपूर्ण और सम्भवतः गलत ज्ञान पर आधारित है। जैन दार्शनिकों ने पुद्गल के चरम स्वरूप को अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा जान कर अपने दर्शन का प्रतिपादन किया है। जैन दर्शन के अनुसार तो पुद्गल (भौतिक तत्त्व) का

चरम स्वरूप ऐन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं बन सकता[1] और इसलिए 'भौतिक विज्ञान' के आधार पर इसका वास्तविक ज्ञान होना संभव नहीं है।[2] इस दृष्टि से एडिंग्टन का यह अभिमत कि 'भौतिक विज्ञान' के द्वारा वस्तु सापेक्ष वास्तविकता को जानना अशक्य है, भी सही तथ्य का ही उच्चारण है, ऐसा कहा जा सकता है।

जीन्स का दर्शन और जैन दर्शन

आदर्शवादी वैज्ञानिकों में एडिंग्टन के बाद प्रधान स्थान सर जेम्स जीन्स का है। जीन्स ने अपनी विचारधारा का प्रतिपादन मुख्यतया अपनी पुस्तक **'दी मिस्टीरियस युनिवर्स'** में किया है। जहां तक भौतिक विज्ञान के विचारक और प्रायोगिक क्षेत्रों का प्रश्न है, जीन्स का स्थान प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिकों मे रहा है। उष्णता के सम्बन्ध मे जीन्स ने कुछ एक मौलिक सिद्धांतों का स्थापन भी किया है। किन्तु जहां दर्शन का प्रश्न है, वहां पर तो जीन्स का दर्शन भी एडिंग्टन के दर्शन की भांति अस्पष्ट ही रहा है। उनकी कृतियो मे स्थान-स्थान पर परस्पर विरोधी कथन और उलझनपूर्ण चिन्तन नजर आता है। प्रो० स्टेबिंग ने जीन्स और एडिंग्टन; दोनों की कटु आलोचना की है।

जीन्स के विचारों की अस्पष्टता का एक उदाहरण प्रो० स्टेबिंग के शब्दो में इस प्रकार मिलता है—'विश्व शुद्ध गणितज्ञ के द्वारा निर्मित हुआ है' और 'विश्व शुद्ध गणितज्ञ के विचारों से बना हुआ है'; इन दो कथनों को जीन्स समानार्थक मानते हैं या नहीं, इसका निर्णय करना सरल नहीं है। ये दो कथन निश्चय ही भिन्न-भिन्न अर्थ को सूचित करते है, किन्तु जीन्स को इनकी भिन्नार्थकता का ज्ञान नहीं है, ऐसा लगता है।[3] प्रोफेसर स्टेबिंग ने इस प्रकार के अनेक उदाहरण अपनी कृति मे दिये है, जो जीन्स के दर्शन की अस्पष्टता और त्रुटियों का विशद दिग्दर्शन कराते हैं।

---

१. भगवती सूत्र, १८-८-६४१।

२ सुविख्यात विज्ञानविद् सर डब्ल्यू० सी० डैम्पियर ने विज्ञान के इतिहास पर लिखी अपनी पुस्तक मे भी वैज्ञानिक पद्धति की इस सीमितता का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है—"जब हम किसी परमाणु का निरीक्षण करते हैं तो हर हालत में हम कोई-न-कोई बाहरी उपकरण प्रयुक्त करते हैं। यह उपकरण किसी-न-किसी रूप में परमाणु को प्रभावित करता है और उसमें परिवर्तन ला देता है तथा हम यही परिवर्तित परमाणु देख पाते हैं, वास्तिविक परमाणु नहीं।"

—विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृ० २९९।

३. फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, पृ० २५।

कुछ एक अस्पष्टताएं तो हमें भी सहसा प्रतीत होती हैं। जैसे एक स्थान में जीन्स ने विश्व को ईथर-तत्त्व की उर्मि-मालाओं से बना हुआ प्रतिपादित करते हुए लिखा है, "यह विश्व जिनसे बना है, वे ईथर-तत्त्व और उनकी उर्मि-मालाएं पूर्ण सम्भावनाओं के साथ काल्पनिक ही प्रतीत होती है। किन्तु कहने का अर्थ यह नही है कि उनका कोई अस्तित्व ही नही है, हा वे हमारे मस्तिष्क में अस्तित्व रखती हैं, अन्यथा तो हम उनकी चर्चा ही नहीं करते और इनके अतिरिक्त हमारे मस्तिष्क के बाहर भी ऐसा 'कुछ' विद्यमान होना चाहिए, जो कि इन विचारों को या अन्य विचारों को हमारे मस्तिष्क मे उत्पन्न करता हो। इस 'कुछ' को हम अस्थाई रूप से 'वास्तविकता' की संज्ञा दे सकते है। इसी वास्तविकता का अध्ययन करना विज्ञान का उद्देश्य है।"[1] अब इस उदाहरण को समालोचनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाये तो जीन्स के चिन्तन की अस्पष्टता स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है। प्रथम तो जीन्स ने ईथर-तत्त्वों और उनकी उर्मि-मालाओं को पूर्ण सम्भावनाओं के साथ काल्पनिक बताया है। इसका तात्पर्य यही होता है कि इनका कोई वास्तविक अस्तित्व है ही नहीं और इसलिए विश्व जो इनसे बना हुआ है भी केवल काल्पनिक है, किन्तु वे स्वयं ही स्वीकार करते हैं कि 'काल्पनिक' का अर्थ 'अस्तित्वहीन' नही है और इसलिए वे उनको मस्तिष्क में अस्तित्व रखने वाले बताते है। साथ ही वे यह भी अनुभव करते हैं कि कुछ ऐसी भी वस्तु मस्तिष्क से बाहर (अर्थात् वस्तु-सापेक्ष रूप से) अस्तित्ववान् होनी चाहिए, जिनके निमित्त से हम ईथरों की और इनके तरगों की कल्पना करते है। अब यदि इस प्रकार की वस्तुएं वास्तविक अस्तित्व रखती हैं तो विश्व को केवल ईथर-तरंगों के रूप में मानकर काल्पनिक कहना किस प्रकार संगत हो सकता है ? इस प्रकार के अनेकों स्थल उनकी कृतियों में पाये जाते है, जिनको पढ़ने से पाठकों को यह पता नही चल पाता कि लेखक क्या कहना चाहते है। जीन्स अपने आप ही किस प्रकार उलझे हुए हैं, इसकी स्पष्ट झांकी हमें उनके उस कथन से मिलती है, जहा वे आदर्शवाद और वास्तविकतावाद के बीच की भेद-रेखा को ही स्पष्ट रूप से परखना कठिन मानते हैं। वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के अस्तित्व को स्वीकार करने पर भी उसे वास्तविकता कहने में वे हिचकिचाते हैं तथा उसे 'गाणितिक' की संज्ञा देकर 'विश्व' को शुद्ध विचारों से बना हुआ बता कर[2] जीन्स ने वस्तुतः कुछ भी स्पष्ट नहीं किया है, प्रत्युत उलझन ही पैदा कर दी है। वे पदार्थत्व को केवल एक मानसिक विचार के रूप मे

१. दी मिस्टीर्यस युनिवर्स, पृ० ७०।
२. देखें, दी मिस्टीर्यस युनिवर्स, पृ० १२३।

बताते हैं और साथ ही पदार्थों का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष मानकर उनके इन्द्रियों पर पड़ने वाले प्रभाव को ही 'पदार्थत्व' कहते हैं।[1] एडिंग्टन के दर्शन की अपेक्षा जीन्स का दर्शन प्राचीन पाश्चात्य दर्शनों से अधिक प्रभावित है। ऐसा लगता है कि जीन्स ने अपने दर्शन में प्लुतो और बर्कले के दर्शन को ही एक नया रूप दिया है। प्लुतो के दर्शन की प्रमुख मान्यताएं जीन्स के दर्शन में भी मान्य रही हैं। जीन्स ने प्लुतो की तरह 'ईश्वर' को विश्व-स्रष्टा के रुप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। विश्व 'गणितज्ञ विचारक' के विचारों से बना हुआ है—इस कथन का तात्पर्य सम्भवतः यही है कि जीन्स ईश्वर की कल्पना एक गणितज्ञ के रूप मे करते है और विश्व को उसकी सृष्टि के रूप मे प्रतिपादित करना चाहते है। प्लुतो के 'प्रत्ययों का सिद्धांत' थोड़े से भिन्न रूप मे जीन्स के विचारों मे प्रतिबिम्बित होता दिखाई देता है। पदार्थों के वास्तविक तत्त्व को जानने की मनुष्य की असमर्थता[2] भी प्लुतो के परमार्थवाद का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है। इसके साथ-साथ बर्कले के ज्ञाता-सापेक्षवाद की छाया जीन्स के दर्शन में स्पष्ट दिखाई देती है। वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व स्वीकार कर उन्हें शाश्वत आत्मा के मन मे अस्तित्ववान् मानने का संकेत[3] बर्कले के ज्ञाता-सापेक्षवाद का समर्थन करता है।

इस प्रकार कुछ प्राचीन पाश्चात्य दार्शनिकों की विचारधारा को जीन्स ने अपने दर्शन मे परोक्ष रूप से स्थान दिया है। किन्तु आज तक उन दार्शनिकों के विचारो में रहे हुए दोषों की विस्तृत चर्चाओं से पाश्चात्य दर्शन का इतिहास भरा पड़ा है और इन दार्शनिकों के खंडन का सम्भवतः अब तक प्रतिवाद भी नही हुआ है। प्रो० स्टेबिंग ने भी यही अभिप्राय व्यक्त करते हुए लिखा है—"यद्यपि जीन्स ने यह माना है कि जो व्यक्ति भौतिक विज्ञान के आधार पर दार्शनिक धारणाओ का निर्माण करना चाहता है, उसके लिए यह लाभदायक होगा कि वह दर्शन की शिक्षा पाया हुआ न हो अथवा दर्शन के प्रति उसकी रुचि न हो, फिर भी ऐसा लगता है कि उन्होंने प्लुतो और बर्कले के दर्शनों का अच्छा अध्ययन किया है। परन्तु स्पष्टतया प्रतीत होता है कि इन्होंने इन दार्शनिकों के बारे में की गई आलोचनाओं का अध्ययन नहीं किया है और इसका ही यह परिणाम है कि वे नहीं जानते कि उन्होंने उसी विचारधारा का प्रतिपादन किया है, जो अत्यन्त ही गम्भीर रूप से आलोचित हो चुकी है—जो अधिकतर दार्शनिकों के मत मे तो निश्चय-

---

१. वही, पृ० १२४।
२. वही, पृ० ११४, १२५।
३. वही, पृ० १२७।

पूर्वक खंडित हो चुकी है ।"[1]

जीन्स के दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य क्या है, यह जानना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, फिर भी अनुमान के आधार पर उनकी विचारधारा का प्रतिपादन हम कर सकते हैं । यहा पर जैन दर्शन के साथ जीन्स के दर्शन की तुलना इसी आधार पर की गई है ।

१. जीन्स के दर्शन मे एक बात का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन हुआ है कि विश्व का कोई स्रष्टा है और वह परम चैतन्यमय सत्ता ही वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है । यद्यपि 'ईश्वर' शब्द का सीधा प्रयोग जीन्स ने नहीं किया है, फिर भी उन्होंने 'ईश्वर-कर्तृत्ववाद' का ही प्रतिपादन किया है, ऐसा प्रतीत होता है । जैन दर्शन 'ईश्वर-कर्तृत्ववाद' को स्वीकार नहीं करता । इस दृष्टि से जीन्स के दर्शन के साथ जैन दर्शन का वैषम्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । विश्व का ईश्वर द्वारा निर्मित होना और ईश्वर का एक महागणितज्ञ के रूप में होना, जीन्स के दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है । किन्तु इसको सिद्ध करने के लिए जो तर्क जीन्स ने दिया है, वह सदोष है ।[2]

२. जीन्स के दर्शन में मन को वास्तविकता के रूप में प्रतिपादित किया गया है । जैन दर्शन मे प्रतिपादित 'आत्मा' और जीन्स का 'मन' वास्तविकता की दृष्टि से सदृश ही प्रतीत होते है । भौतिक पदार्थ से भिन्न और चैतन्यशील होने के कारण जीन्स द्वारा प्रतिपादित 'मन' जैन दर्शन में प्रतिपादित आत्म-तत्त्व का ही दूसरा नाम है, ऐसा कहा जा सकता है । मन के स्वरूप के विषय मे जीन्स के दर्शन में विशेष वर्णन उपलब्ध नही होता है, इसलिए इस विषय मे अधिक तुलना करना सम्भव नही है ।

३. भौतिक पदार्थ के समूह रूप बाह्य विश्व को 'वस्तु-सापेक्ष' वास्तविकता के रूप में तो जीन्स ने माना है और वह इसलिए कि वह भिन्न-भिन्न ज्ञाता (चेतना) को समान रूप से अनुभूत होता है, किन्तु जीन्स उसे वास्तविक मानने के लिए तैयार नही है । विश्व को विचार से बना हुआ अथवा 'गाणितिक' कहने का कारण यही लगता है कि विज्ञान में पदार्थ के स्वरूप को गाणितिक संज्ञाओं के द्वारा समझाया जाता है । गणित की संज्ञाएं 'विचार' रूप होने से विश्व को भी जीन्स 'विचार रूप' ही बताते हैं । "विश्व जिन ईथरों से और उनकी ऊर्मि-मालाओं से बना है, वे सब काल्पनिक है", जीन्स का यह अभिप्राय भी इसी तथ्य को सूचित करता है । यदि जीन्स

---

१ फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिष्ट्स, पृ० २६५ ।

२. इन सिद्धांतों का खंडन प्रो० स्टेबिंग ने बहुत ही तार्किक ढंग से किया है । यह चर्चा अति विस्तृत होने से यहां नहीं दी गई है । इसके लिए देखें, फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिष्ट्स, पृष्ठ १९-४२ ।

गाणितिक शब्द का प्रयोग केवल इसी अर्थ में करते हों, तब तो विश्व के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व का कोई विरोध ही नहीं होता है। क्योंकि विश्व की सभी प्रक्रियाओं का हमारा ज्ञान गणित से सम्बन्धित होने के कारण उसे गाणितिक कहा जा सकता है, फिर भी इसका तात्पर्य यह नहीं होता है कि विश्व वस्तुतः ही काल्पनिक है। इस दृष्टि से जीन्स का दर्शन भी वास्तविकतावाद का ही प्रतिपादन करता है और इस रूप में जैन दर्शन के साथ भी इसका साम्य हो जाता है।

४. जीन्स का अभिप्राय है कि हम वस्तु के मूल तत्त्व को न जानते हैं, न जान सकते हैं। हम जो कुछ जानते हैं, वह तो केवल पदार्थों की प्रक्रियाएं हैं और उनका परस्पर का व्यवहार है।[1] इसका तात्पर्य यही होता है कि 'विश्व क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य कदापि नहीं दे सकता है। मनुष्य तो केवल यही जान सकता है कि विश्व की प्रक्रियाएं किस प्रकार होती हैं ? इस प्रकार जीन्स काण्ट के परमार्थवाद (ट्रान्सेण्डेण्टलिज़्म) की ओर झुकते हुए से दिखाई देते है। जीन्स का दर्शन भी इसी अपेक्षा से जैन दर्शन के निकट कहा जा सकता है। जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि ऐन्द्रिय ज्ञान (मति-श्रुत) के द्वारा पौद्गलिक जगत् के चरम रूप को नहीं जाना जा सकता। किंतु जैन दर्शन यह कभी स्वीकार नहीं करता कि हम कदापि और किसी भी प्रकार से वस्तु के मूल स्वरूप को नहीं जान सकते। अतीन्द्रिय और सकल ज्ञान के माध्यम से इसको भी जाना जा सकता है, फिर भी जीन्स का यह अभिप्राय तो सही लगता है कि हमारा ऐन्द्रिय ज्ञान और विज्ञान विश्व की प्रक्रियाओं और वस्तुओं के परस्पर व्यवहार तक ही सीमित रह जाता है।

५. 'पदार्थत्व' के विषय मे जीन्स ने जो विचार व्यक्त किये है, वे वस्तुतः ही अत्यंत अस्पष्ट है। एक ओर तो जीन्स पदार्थत्व को मानसिक कल्पनामात्र कहते है और दूसरी ओर उसको ही पदार्थों का इंद्रियों के ऊपर पड़ने वाला प्रभाव बताते हैं। यदि 'पदार्थत्व' पदार्थो का ही प्रभाव हो, तो बिना 'पदार्थत्व' पदार्थ कैसे रह सकते है, यह समझ में आना कठिन है। अल्प पदार्थत्व और अधिक पदार्थत्व की चर्चा भी वस्तुतः ही अस्पष्ट और व्यर्थ-सी प्रतीत होती है। जैन दर्शन में द्रव्य, द्रव्यत्व आदि की स्पष्ट परिभाषाएं मिलती हैं और 'पदार्थ' का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व अनुभव और तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है। पदार्थों को केवल मानसिक कल्पना के रूप में मानना किसी भी रूप में सम्भव नहीं लगता। इस दृष्टि से जैन दर्शन और जीन्स का दर्शन परस्पर में विरोधी मन्तव्य उपस्थित करते हैं।

---

१. दी मिस्टीर्यस युनिवर्स, पृष्ठ १२८।

जीन्स के दर्शन की समीक्षा के उपसंहार मे यह कहा जा सकता है कि यदि जीन्स अपनी व्यक्तिगत रूढ़ विचारधाराओं से अपने दर्शन को मुक्त रखते और वास्तविक वैज्ञानिक तथ्यों को ही अपने दर्शन में स्थान देते, तो सम्भवतः उनका दर्शन जैन दर्शन के बहुत समीप आ जाता।

अन्य आदर्शवादी वैज्ञानिक और जैन दर्शन

आदर्शवादी वैज्ञानिकों में हर्मन वाईल का नाम भी उलेखनीय है। वाईल ने अपनी दार्शनिक विचारधारा का स्पष्ट प्रतिपादन अपनी पुस्तक **स्पेस-टाईम-मेंटर** मे किया है। यद्यपि इस कृति में गणित और भौतिक विज्ञान को प्रधानता दी गई है और दर्शन को केवल गौण स्थान ही मिला है,[1] फिर भी स्पष्ट रूप से आदर्शवादी विचारधारा का प्रतिपादन हमे देखने को मिलता है। वाईल ने यह स्वीकार किया है कि दार्शनिक पहलू के विषय में जो कुछ भी कहा गया है, वह अब तक निश्चित और पूर्ण नही है।[2] फिर भी आकाश, काल और भौतिक पदार्थ की वास्तविकता के सम्बन्ध मे आधुनिक विज्ञान के आधार पर नये दार्शनिक दृष्टिकोणों का विवेचन करने का प्रयत्न उन्होंने किया है। वैज्ञानिक जगत् मे वास्तविकता के विषय मे जो विचार-विमर्श हुआ है, उसका एक ऐतिहासिक विहंगावलोकन करते हुए उन्होंने लिखा है; "पहले फराड़े और मैक्सवेल नामक भौतिक वैज्ञानिकों ने यह प्रस्ताव रखा था कि 'विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र' भी एक स्वतन्त्र प्रकार की ही वास्तविकता है, जो भौतिक पदार्थ से उल्टे प्रकार की है। बाद में पिछली शताब्दी (१९ वी) में गणितज्ञों ने बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के चिन्तन के आधार पर युक्लिडीय भूमिति की प्रामाणिकता के विषय में संदेह उत्पन्न कर अपने युग में एक ऐसा झंझावात आ गया है, जिसने आकाश, काल और भौतिक पदार्थ रूप प्राकृतिक विज्ञान के दृढतम स्तम्भों को उखाड दिया है, पर केवल इसलिए कि अधिक विस्तृत प्रकार के द्रव्यों के विचार को स्थान मिले तथा दृष्टि और अधिक गहन बने।"[3] इस उद्धरण से यह तात्पर्य निकलता है कि वैज्ञानिक तत्त्वमीमांसा जो पहले भौतिकवाद को प्रतिपादित करती थी, धीरे-धीरे आदर्शवाद की ओर आ रही है और किसी अभौतिक तत्त्व को ही एकमात्र वास्तविकता मानने के प्रति झुक रही है।

१. वाईल स्वयं अपनी पुस्तक की आदि में लिखते हैं, "हम यहां पर इन प्रश्नों के गाणितिक और वैज्ञानिक पहलुओं से अधिक सम्बन्धित रहेंगे। दार्शनिक पहलू की चर्चा तो मैं केवल कही-कही पर करूगा।" देखे, **स्पेस-टाईम-मेटर,** पृ० २।

२. वही, पृ० २।

३. वही, पृ० २।

वाईल की विचारधारा में स्पष्ट रूप से चैतन्य को वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है। कार्यों को करने वाली और भोगने वाली एक आध्यात्मिक वास्तविकता (साइकिकल रियलिटी) है, जो कि शरीर के साथ जुड़ी हुई है और ये दोनों मिल कर एक व्यक्ति 'मैं' बनता है।.........चैतन्य अपनी आन्तरिकता को खोये बिना ही वास्तविकता का एक खण्ड बनता है, इस व्यक्ति 'मैं' के रूप में आता है जो जन्मा था और मर जायेगा।'[1] वाईल का यह अभिमत व्यक्तिगत चैतन्य को स्पष्ट रूप से वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में बताता है।

भौतिक पदार्थ के विषय में वाईल का दृष्टिकोण ज्ञाता-सापेक्षवाद की ओर झुका हुआ दिखाई देता है। यद्यपि वे स्वयं स्वीकार करते हैं—"मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह विचारधारा, जो विश्व की घटनाओं को केवल अहं द्वारा जनित चैतन्य के नाटक के रूप में बताती है, सरल वास्तविकतावाद की विचारधारा से अधिक सत्य है। प्रत्युत यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि यदि हम वास्तविकता के विषय में स्पष्ट धारणा तथा उसके निरपेक्ष तात्पर्य को समझना चाहते है, तो चैतन्य के विषय-रूप पदार्थ ही वह आदि बिन्दु है, जहां से हमे प्रारम्भ करना होगा।"[2] किन्तु थोड़ा-सा ही आगे चल कर वे भौतिक पदार्थ की वास्तविकता को गलत बताने का प्रयत्न करते है—सत्य के सिद्धांत का दार्शनिक परीक्षण हमे इसी निष्कर्ष पर पहुंचायेगा कि जिन अनुभवों के आधार पर हम वास्तविकता को पकड़ते हैं, उन अनुभवों को कराने वाले विषय-ग्रहण, स्मृति आदि कार्यों में एक भी कार्य ऐसा नहीं है, जो हमे ज्ञेय पदार्थों को अस्तित्ववान् बताने का तथा उनको गृहीत (ज्ञान) रूप के सदृश रचना वाले बताने का निर्णयात्मक अधिकार दे।"[3] इस प्रकार भौतिक पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व को तथा उनके गुणों की वस्तु-सापेक्षता को भी संदिग्ध बताया गया है।

वाईल द्वारा की गई वर्ण की व्याख्या में तो स्पष्ट रूप से ज्ञाता-सापेक्षवाद का निरूपण मिलता है : "यह सरलतया देखा जा सकता है कि 'हरे' नामक गुण का अस्तित्व केवल 'हरे' की संवेदना और इन्द्रियों के द्वारा गृहीत पदार्थ के बीच के सम्बन्ध के रूप में ही है; किन्तु उसको अपने आप में कोई वस्तु मान कर अपने आप में अस्तित्ववान् पदार्थों के साथ सम्बन्धित मानना निरर्थक है।.........इस (आधुनिक भौतिक विज्ञान की गणितिक पद्धति) के

---

१. वही, पृ० ६।
२. वही, पृ० ५।
३. वही, पृ० ५।

अनुसार तो 'वर्ण' वस्तुतः ईथर का स्पन्दन ही है अर्थात् गति है……… (आपेक्षिकता के सिद्धांत के बाद तो) 'वर्ण' ईथर-स्पन्दन नहीं, अपितु केवल उन गाणितिक फलनों के मूल्यों की श्रेणियां हैं, जिनमें आकाश की तीन विमिति और काल की एक विमिति से सम्बन्धित चार स्वतन्त्र परामितर है।"[1] यहां पर वाईल आधुनिक विज्ञान की पारिभाषिक गाणितिक शब्दावलि में वर्णों को केवल गाणितिक सज्ञा के रूप मे बताकर उसकी वस्तु-सापेक्षता का सर्वथा निषेध करते हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि वाईल भी एडिंग्टन और जीन्स की तरह यह मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान के प्रतिपादनों के आधार पर भौतिक पदार्थों के गुणों की ज्ञाता-सापेक्षता सिद्ध हो चुकी है।

वाईल की विचारधारा के इस संक्षिप्त विवेचन से यह देखा जा सकता है कि यद्यपि वे वास्तविकतावाद का स्पष्ट रूप से निषेध नही करते है, फिर भी ज्ञाता-सापेक्षवाद का ही पक्ष ग्रहण करते हैं। उनकी दार्शनिक विचारधारा एडिंग्टन और जीन्स की तरह व्यवस्थित नहीं है। साथ-साथ यहां पर भी हमे विचारों की उलझन और अस्पष्टता दृष्टिगोचर होती है। जैन दर्शन के साथ उनके विचारों की तुलना में यह कहा जा सकता है कि जहां 'आत्मा' नामक एक चेतनशील वास्तविकता के अस्तित्व का प्रश्न है, वहा इन दोनो के दृष्टिकोण सदृश है; किन्तु भौतिक पदार्थ के अस्तित्व और उसके गुणों की वस्तुनिष्ठता के विषय में वाईल का मन्तव्य निषेधात्मक है, जबकि जैन दर्शन का मन्तव्य विध्यात्मक है। वाईल की विचारधारा एडिंग्टन और जीन्स के दृष्टिकोण के साथ अधिकांश रूप में सदृश है; अतः वाईल के विचारों की विस्तृत समालोचना करना पूर्व विवेचन का केवल पिष्ट-पेषण ही होगा। इस दृष्टि से इतना ही पर्याप्त मान कर हम अन्य वैज्ञानिको के विचारों की चर्चा करेंगे।

अन्य वैज्ञानिकों में आइन्स्टीन, अर्न्स्ट माख, पोइनकेर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि आइन्स्टीन को प्रो० मार्गेनो ने समीक्षात्मक वास्तविकतावादी कहा है,[2] फिर भी जहा तक भौतिक पदार्थों के गुणों का सबंध है, आइन्स्टीन की मान्यता ज्ञाता-सापेक्षवाद की ही प्रतीत होती है। लिंकन बारनेट ने आइंस्टीन के विचारों को उद्धृत करते हुए लिखा है—"आइन्स्टीन के अनुसार रग, रूप और आकार की धारणाएं चेतना से पृथक् नहीं हैं।"[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि आइन्स्टीन भी भौतिक पदार्थों को ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में मानते थे। अर्न्स्ट माख ने भी भौतिक पदार्थों की वास्तविकता को स्वीकार नही किया है। भौतिक पदार्थ के विषय मे उन्होने स्पष्ट रूप से लिखा है—

१. स्पेस-टाईम-मैटर, पृ० ३-४।
२. दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १२।
३. दी युनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० २१।

"अणु इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते, अन्य सभी द्रव्यों की तरह वे भी केवल विचारगत वस्तुएं ही हैं।.....और एक प्रकार की गाणितिक अनुकृति (माडेल) है जो तथ्यों का मानसिक पुनरावर्तन करने में सहायक बनती है।"[1] माख ने सन् १९१५ में भी यह कहा था कि मैं 'अणु का अस्तित्व' और ऐसे रूढिगत सिद्धांत को स्वीकार नही करता।[2] माख का यह सिद्धांत था कि संवेदन-तत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी वास्तविकता नहीं है।[3] माख के अणु के अस्तित्व-सम्बन्धी ये विचार बताते हैं कि वे पदार्थ की वास्तविकता का निषेध करते हैं।

इन सभी वैज्ञानिकों का झुकाव ज्ञाता-सापेक्षवाद की ओर दिखाई देता है। जो वैज्ञानिक भौतिकवाद की विचारधारा को स्वीकार नहीं करते हैं, अधिकांश रूप में वे इस प्रकार के आदर्शवाद को अपनाते देखे जाते है। वे आत्मा अथवा ऐसे ही कोई अभौतिक तत्त्व की, जो चैतन्यमय होने से भौतिक पदार्थों से उल्टे प्रकार के होते हैं, 'वास्तविकता' सिद्ध करने के लिए भौतिक पदार्थ को अवास्तविक बताते हैं। जैन दर्शन की विचारधारा 'आत्मा' के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करती हुई भी भौतिक पदार्थ को अवास्तविक नही मानती। इस प्रकार उक्त वैज्ञानिकों की विचारधारा और जैन दर्शन के तात्त्विक सिद्धांत में आत्मा के वास्तविक अस्तित्व के विषय में जहां पूर्ण सादृश्य है, वहां भौतिक पदार्थ की वास्तविकता के विषय में मत-भेद रह जाता है।

(ख) वास्तविकतावाद और जैन दर्शन

'विश्व क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर वास्तविकतावादी दार्शनिक और वैज्ञानिक किस रूप में देते हैं, इसका अवलोकन हम कर चुके हैं। यहा पर उनमे से कुछ प्रमुख दार्शनिकों की और वैज्ञानिकों की विचारधारा की जैन दर्शन के आलोक में एक तुलनात्मक समीक्षा करने का हम प्रयत्न करेंगे। वास्तविकतावादी विचारधारा को हम मुख्य रूप से दो भेदों में विभाजित कर सकते हैं।

१. भौतिकवाद—इस विचारधारा के अनुसार विश्व के सभी पदार्थों का अस्तित्व स्व-आधारित है। इसमें केवल एक ही वास्तविकता है, एक ही तत्त्व है, जिसे 'भूत' (जड़) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी अभौतिक तत्त्व के वास्तविक अस्तित्व को यह विचारधारा स्वीकार नहीं करती। 'विश्व क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर भौतिकवाद के अनुसार है—विश्व

१. साईन्स ऑफ मेकेनिक्स, पृ० ५९०।
२. वही, पृ० २६; तथा देखें, दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० ६७।
३. दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० ६७।

भूतमय है।

२. अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद—इस विचारधारा के अनुसार विश्व में दो अथवा दो से अधिक तत्त्वों का वास्तविक अस्तित्व है। भौतिक पदार्थों के वस्तु सापेक्ष अस्तित्व को तो यह विचारधारा स्वीकार करती है, किन्तु इसके साथ अभौतिक तत्त्वों को भी वास्तविकता के रूप में स्वीकार करती है। इस अभौतिक वास्तविकता की संख्या और स्वरूप के विषय में मतभेद होने के फलस्वरूप इस विचारधारा के अनेक उपभेद बन जाते हैं।

भौतिकवाद और जैन दर्शन

पश्चिमी दर्शन-जगत् में भौतिकवाद के यूनानी विचारक थेलस (Thales) (ई० पू० ६२४-ई० पू० ५५०) से प्रारम्भ होकर आधुनिक युग में कार्ल मार्क्स की विचारधारा तक विविध रूप में दिखाई देता है। यहां पर हम इसके ऐतिहासिक विवेचन और सूक्ष्म भेदोपभेद में न जाकर केवल इसके स्थूल रूप की ही समीक्षा करेंगे। जैन दर्शन और भौतिकवाद में भौतिक पदार्थों की वस्तु-सापेक्षता के विषय में जो सादृश्य है, वह तो स्पष्ट ही है। भौतिकवाद के अनुसार भूत तत्त्व की परिभाषा है, "जो कुछ हम अपनी इन्द्रियों से देखते-समझते (इन्द्रिय-गोचर) हैं, जो कुछ इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं का मूल स्वरूप है, जो देश (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) में फैला हुआ है, जो कम या अधिक मात्रा में दबाव की रोकथाम करता है, जिनमें इन्द्रियों के जानने लायक गति पाई जाती है, वह 'भूत' है।"[१] लेनिन के शब्दों में 'भूत' की दार्शनिक परिभाषा है—"भूत दार्शनिक परिभाषा में उस साकार वास्तविकता को कहते हैं, जिसका ज्ञान मनुष्य को उसकी इन्द्रियों द्वारा मिलता है। वह ऐसी वास्तविकता है, जिसकी नकल की जा सकती है, जिसका फोटो खींचा जा सकता है। जो हमारी संवेदनाओं (विषय-इन्द्रिय-मस्तिष्क सम्पर्क) द्वारा मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित की जा सकती है, किन्तु उसकी सत्ता इन (संवेदनाओं) पर निर्भर नहीं है।"[२] दूसरी और जैन दर्शन में पुद्गल की परिभाषा करते हुए कहा गया है—"स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण; इन गुणों से युक्त द्रव्य पुद्गल (अर्थात् भूत) है।"[३] इन दोनों परिभाषाओं के सूक्ष्म अन्तरों को छोड़ दिया जाए, तो कहा जा सकता है कि दोनों ही परिभाषाओं का तात्पर्य एक ही है। यद्यपि जैन दर्शन पुद्गल की चरम इकाई

---

१. दी मेटेरियलिज़्म एण्ड एम्पीरिओ क्रिटिसिजम, पृ० १०२।

२. वैज्ञानिक भौतिकवाद, ले० राहुल सांकृत्यायन, पृ० १११।

३. स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः।

—श्री जैन सिद्धांत दीपिका, १-११।

को इन्द्रिय-गोचर नहीं मानता, फिर भी पुद्गल के मूर्तत्व गुण को तो स्वीकार करता ही है। इस प्रकार जहां तक भौतिक पदार्थों की वास्तविकता का प्रश्न है, जैन दर्शन और भौतिकवाद दोनो ही इनकी वस्तु-सापेक्ष सत्ता को स्वीकार करते हैं।

जैन दर्शन और भौतिकवाद में जो सबसे बड़ा अन्तर है, वह है—मूल वास्तविकताओ की संख्या के विषय में। भौतिकवादी जहां केवल भूत तत्त्व को ही एक मात्र वास्तविकता के रूप मे मानते हैं, वहां जैन दर्शन पुद्गल के अतिरिक्त जीव आदि अन्य अस्तिकायों को भी वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है। यद्यपि प्राचीन 'दार्शनिक भौतिकवाद' और आधुनिक वैज्ञानिकों के भौतिकवाद में यह अन्तर तो है कि जहां प्राचीन भौतिकवादी चेतन अथवा आत्मा को सर्वथा ही जड़ (भूत) तत्त्व से अभिन्न मानते थे,[1] वहां आधुनिक भौतिकवादी वैज्ञानिक मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के आधार पर जीवन और मन को जड़ भौतिक तत्त्व से सर्वथा अभिन्न नही मानते।[2] द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार—"वैज्ञानिक भौतिकवादियों की मूल ईंटें परमाणु नही; कण, तरग, विच्छेद-युक्त घटना-प्रवाह है, जिनके खमीर में भी क्षण-क्षण नाश उत्पाद का नियम मिला हुआ है। यह सच है कि जीवन या मन (आत्मा) जिससे पैदा हुआ है, वह भूत (भौतिक तत्त्व) ही है, किन्तु मन भूत हर्गिज नही है। किसी तरह से भी नही है, चाहे उसके अन्तस्तल मे घुस कर देख लें। यह बिलकुल गुणात्मक परिवर्तन पूर्व (भूत) प्रवाह से टूट कर नया प्रवाह है।"[3] इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भौतिकवादी वैज्ञानिक चेतन को भूत से भिन्न तो मानते हैं और उसकी वास्तविकता का भी निषेध नही करते, परन्तु चेतन की सत्ता को चरम वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं करते। बल्कि उसको भूत के गुणात्मक परिवर्तन द्वारा ही उद्भूत मानते है; अतः इनके मत में विश्व के मूल में तो एक मात्र भूत ही चरम वास्तविकता है।

वैज्ञानिकों के भौतिकवाद के समर्थन मे यह एक युक्ति दी जाती है कि शक्ति की अनश्वरता का नियम (ला ऑफ कोन्जरवेशन ऑफ ऐनर्जी) विज्ञान का प्रतिष्ठित नियम है। इस नियम के अनुसार विश्व की कुल शक्ति

---

१. पाश्चात्य दार्शनिकों में डेमोक्रिटस की यह मान्यता थी कि भौतिक परमाणुओं से ही 'आत्मा' का निर्माण होता है। आत्मा की उत्पत्ति अत्यन्त ही चिकने, गतिशील और गोल परमाणुओं से होती है।

२. देखें, वैज्ञानिक भौतिकवाद, ले० राहुल सांकृत्यायन, (प्रथम संस्करण), पृ० ५८-६०।

३. वही, पृ० ५९।

समान रहती है; न घटती है और न बढ़ती है, लेकिन रूपान्तरित होती है। यदि जीव और चैतन्य को हम अभौतिक मान लेते हैं, तो उस नियम का उल्लंघन होता है। विज्ञान ने सिद्ध किया है कि शरीर भौतिक तत्त्वों से बना है, इसलिए भौतिक है। जीवन और चैतन्य का अधिष्ठान वही है। हम देखते हैं कि भौतिक पदार्थों (जैसे—अन्न, जल, गर्मी आदि) से जीवन-शक्ति बढ़ती है। अब, यदि जीवन-शक्ति भौतिक शक्ति से भिन्न है, तो उसका अर्थ होगा कि बढ़ी हुई जीवन-शक्ति के रूप में नई शक्ति की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि अभौतिक होने से उसे भौतिक शक्ति (अन्न, जल आदि से प्राप्त शक्ति) का रूपान्तर नहीं कहा जा सकता। हम यह भी देखते हैं कि मानसिक इच्छाओं के कारण शरीर के अंगों का संचालन होता है। यहां भी मन या चैतन्य को अभौतिक मानने का अर्थ होगा कि शारीरिक क्रियाओं के रूप में व्यक्त अभौतिक शक्ति मन की इच्छाओं की अभौतिक शक्ति से उत्पन्न नई शक्ति है; क्योंकि भौतिक होने के कारण उसे अभौतिक शक्ति का रूपान्तर नहीं माना जा सकता। इस प्रकार जीव और चैतन्य को अभौतिक मानने का निष्कर्ष होता है—नई शक्ति की उत्पत्ति। किन्तु ऐसा होने से विश्व की कुल शक्ति में वृद्धि हो जायेगी, जो कि उपर्युक्त नियम के विरुद्ध है। चूंकि वह नियम सत्य है, उसका विरोधी निष्कर्ष सत्य नहीं हो सकता; अतः जीव और चैतन्य को अभौतिक नहीं माना जा सकता।[1] भौतिकवादियों की इस तर्क का निराकरण जैन दर्शन के आधार पर सहजतया हो सकता है। जैन दर्शन के तथ्यों का विवेचन हम कर चुके हैं, उनमें से इन तथ्यों को ध्यान में रखना होगा :

१. पंचास्तिकाय रूप विश्व का प्रत्येक अस्तिकाय 'अस्तित्व' की दृष्टि से एक-दूसरे से स्वतंत्र है; अतः जीव और पुद्गल का अस्तित्व भी परस्पर स्वतन्त्र है।

२. सत् (वास्तविकता) की परिभाषा[2] में ही प्रत्येक अस्तिकाय की 'अनश्वरता' (Conservation) का नियम निहित है। पर्यायत्व की अपेक्षा से सत् उत्पन्न और नष्ट होता रहता है, फिर भी द्रव्यत्व की अपेक्षा से तो सदा ध्रुव ही रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पर्याय (अवस्था) के सतत प्रवाह में प्रति समय परिवर्तन पाता हुआ भी पुद्गल द्रव्य सदा ही पुद्गल रहता है और जीव सदा जीव रहता है, न पुद्गल कभी जीव के रूप में परिणत होता है और न जीव कभी पुद्गल के रूप में।

३. पुद्गल द्रव्य में सभी भौतिक पदार्थों का और भौतिक शक्तियों

१. देखें, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ७४।

२. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-३१।

का समावेश हो जाता है. अतः पुद्गल द्रव्य की अनश्वरता के नियम में भौतिक पदार्थों और भौतिक शक्तियों के परस्पर रूपान्तरण का निषेध नहीं है। अब पदार्थ और शक्ति की सुरक्षा का नियम वैज्ञानिक जगत् में संयुक्त रूप धारण कर चुका है। और इसके अनुसार विश्व के सभी प्रकार के भौतिक पदार्थ और भौतिक शक्ति की तुला-राशि सदा अचल रहती है। यह नियम केवल भूत तत्त्व पर ही लागू होता है। जैन दर्शन आत्मा को पुद्गल से भिन्न मानता है; अतः जैन दर्शन में आत्मा की अनश्वरता और पुद्गल की अनश्वरता के दो नियम बन गये हैं। प्रथम नियम के अनुसार पुद्गल-तत्त्व, चाहे वह भौतिक शक्ति के रूप में, द्रव्य की अपेक्षा से अक्षय और ध्रुव रहता है। दूसरे नियम के अनुसार जीव तत्त्व द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत और अचल रहता है।

इन दो पृथक् नियमों के आधार पर ऊपर दिये गये तर्क का सहजतया निराकरण हो जाता है। शरीर-सम्बन्धी समस्त क्रियाएं पौद्गलिक हैं, अतः अन्न, जल, गर्मी आदि जिस शक्ति का उत्पादन करते है, वह भी पौद्गलिक ही है। ऊपर दिये गये तर्क मे जिस जीवन-शक्ति को भौतिक शक्ति से भिन्न कहा गया है, वह वस्तुतः भिन्न नहीं है; बल्कि भौतिक (पौद्गलिक) ही है; क्योंकि अन्नादि की परिणति रस, रक्त, वीर्य, आदि में होती है, जो सारे पौद्गलिक है और इनके ही रूपान्तर को ऊपर 'जीवन-शक्ति' कहा गया है। उसी प्रकार मन या चैन्तय से शारीरिक क्रियाओं की उत्पत्ति मानना भी गलत है। जैन-दर्शन के अनुसार कर्म-पुद्गलों से आवृत्त और संश्लिष्ट आत्मा तो पौद्गलिक क्रियाओं का केवल प्रेरक बनता है। शारीरिक क्रियाओं में जो शक्ति व्यक्त होती है, वह कोई आत्मा से उत्पन्न नहीं होती है, बल्कि वह तो पौद्गलिक पदार्थ और पौद्गलिक शक्तियों का ही रूपान्तरण होता है। इसलिए चैतन्य (आत्मा) को अभौतिक मानने पर 'अनश्वरता' का नियम जरा भी खंडित नहीं होता।

दूसरे प्रकार से भी उक्त तर्क का खंडन किया जा सकता है। जैसे—"यह तर्क तभी कारगर हो सकता है, जबकि पहले यह मान लिया जाये कि जीव (चेतन) तथा जड़ सबकी व्याख्या भौतिक रासायनिक नियमों द्वारा हो सकती है। क्योंकि शक्ति की अनश्वरता का नियम भौतिक रासायनिक नियम ही है।[1] किन्तु यह मान लेना तो भौतिकवाद को ही मान लेना है। अतएव यह तर्क भौतिकवाद को प्रमाणित करने के पहले ही उसे मान लेता है, जो कि उचित नहीं है। कुछ प्रमुख वैज्ञानिकों का मत है कि उक्त नियम भौतिक-रासायनिक जगत् के लिए ही है, जीव या चेतन-जगत् के लिए नहीं।

१. देखें, एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलोसोफी, ले० डब्ल्यू जेरूसलेम, पृ० १४७।

उस हालत में तो निस्सन्देह ही वह भौतिकवाद की पुष्टि नहीं कर सकता।[1] इस प्रकार भौतिकवाद के समर्थन में दिये जाने वाले उक्त तर्क का निराकरण हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद चेतन की सत्ता को इन्कार तो नहीं करता, किन्तु चेतन को भूत के गुणात्मक परिवर्तन से उद्भूत मानता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवादियों का कहना है कि पृथ्वी की आयु २०,००० लाख वर्ष की है, जबकि मन (आत्मा) की आयु ५०० लाख वर्ष से पुरानी नहीं है। अर्थात् विश्व में पहले केवल भूत ही था और ५०० लाख वर्ष पूर्व उस भूत के गुणात्मक परिवर्तन से चेतन की उत्पत्ति हुई।[2] आधुनिक विज्ञान, जैन दर्शन और सामान्य तर्क के आलोक में यदि हम इस मान्यता पर विचार करेंगे, तो सहसा ही इसकी निर्मूलता का पता चल सकता है।

आधुनिक विज्ञान न तो विश्व को केवल पृथ्वी तक ही सीमित मानता है और न जीवन को भी। पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य आकाशीय पिण्डों पर भी जीव के अस्तित्व की संभावना की जा रही है।[3] और भावी अन्तरिक्ष-यात्राएं सम्भवतः इसके पुष्ट प्रमाण उपस्थित कर सकेंगी, ऐसी आशा की जाती है। पृथ्वी पर भी जीवन कब अस्तित्व मे आया, यह अब तक निश्चित नही हो पाया है। भूत के गुणात्मक परिवर्तन से जीव की उत्पत्ति 'क्यों और कैसे होती है' इसका कोई उत्तर वैज्ञानिक आधारो पर नही दिया सकता।[4] अतः यदि यह मान भी लिया जाये कि पृथ्वी पर 'जीवन' का प्रारम्भ पृथ्वी की उत्पत्ति के बहुत समय बाद हुआ, तो भी 'भूत' के गुणात्मक परिवर्तन से ही 'चेतन' की उत्पत्ति हुई, ऐसा किसी भी वैज्ञानिक आधार पर नहीं कहा जा सकता; यह तो केवल आनुमानिक कल्पना ही है।

सामान्य अनुभव के आधार पर भी उक्त मान्यता की असिद्धि सरलतया हो सकती है। सामान्य अनुभव हमें यही बतलाता है कि जीव और भूत; इन दोनों तत्त्वों मे गुणों की मौलिक भिन्नता है। आत्मा के चैतन्य-गुण का भूत में सर्वथा अभाव है। जिस पदार्थ में जिस गुण का सर्वथा अभाव हो, वह गुण किसी भी प्रकार के परिवर्तन द्वारा प्रकट नही हो सकता। तर्कशास्त्र में उपादान की यह मर्यादा सर्वमान्य है; अतः गुणात्मक परिवर्तन का उक्त

---

१. दर्शन शास्त्र की रूपरेखा, लेखक राजेन्द्रप्रसाद, पृ० ७८-७९; भौतिकवाद की समर्थक तर्कों और उसके निराकरण के लिए देखें, वही, पृ० ७२-७९।

२. वैज्ञानिक भौतिकवाद, (प्रथम संस्करण) पृ० ३६।

३. कोरोनेट, खण्ड २६, अंक ५, पृ० ३०।

४ द्रष्टव्य, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ७८।

प्रकार का सिद्धांत ही गलत हो जाता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी अनुभव करते हैं कि जब आज भी जीवन की उत्पत्ति भूत-पदार्थ से होनी शक्य नहीं है, तो अतीत में ऐसा हुआ हो, यह कैसे माना जा सकता है।

जैन दर्शन के आलोक मे यदि उक्त मान्यता का अवलोकन किया जाये, तो सहसा उसकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। जैन दर्शन बतलाता है कि आत्मा और पुद्गल; ये दोनो तत्त्व सदा से इस विश्व मे थे और सदा रहेंगे। दोनों के अस्तित्व को अनादिकालीन माने बिना 'विश्व-आयु' सबधित अनेक प्रदेशों का समाधान नही मिल सकता। अब यदि विकासवादियों द्वारा कथित पृथ्वी की जीवन-विकास की कहानी को सत्य माना भी जाये, तो भी यह मानना जरूरी नही है कि 'भूत' ही स्वयं परिवर्तित होकर चेतन का रूप धारण कर विकसित हो रहा है। जैन दर्शन के काल-चक्र का सिद्धात यह तो निरूपण करता ही है कि विकास और ह्रास का क्रम विश्व के कुछ क्षेत्रों में चलता रहता है। 'पृथ्वी' के आदिकाल में पौद्गलिक परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण जीवों के उत्पन्न होने के योग्य योनियों के अभाव में यहां जीवन का अभाव हो, यह सम्भव है। बाद में जैसे-जैसे जीवनानुकूल स्थिति बनी और जीवों के उत्पन्न होने योग्य योनियों का प्रादुर्भाव हुआ, तो 'जीव' उनमें आकर जन्म लेने लगे। ऐसे ही संभवतः जीवन-विकास का क्रम बना हो। इस प्रकार भूत के गुणात्मक परिवर्तन से चेतन की उत्पत्ति को मानने की अपेक्षा जीव और भूत को पृथक्-पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकार करना ही तर्कसंगत है।

इस चर्चा के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भौतिकवाद, चाहे वह प्राचीन रूप में हो या नवीन रूप में, 'विश्व क्या है ?' का जो उत्तर प्रस्तुत करता है, वह न्यायसंगत नही है। केवल भूत को चरम वास्तविकता मान लेने से 'विश्व क्या है' की प्रहेलिका सुलझ नही सकती।

बर्ट्रेण्ड रसल का दर्शन और जैन दर्शन

विश्व की चरम वास्तविकता एक नही, अपितु अनेक हैं; यह अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद है। दार्शनिक विचारधाराओं मे यदि कोई विचार-धारा जैन दर्शन के अधिक निकट हो, तो वह अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकता-वाद की है। इस विचारधारा में भी तत्त्वों के स्वरूप, संख्या आदि को लेकर अनेक अभिप्राय प्रस्तुत हुए हैं। द्वैतवाद विश्व में दो तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन करता है। अनुभयवाद जड़ और चेतन के अतिरिक्त तीसरे ही प्रकार के तत्त्वों को विश्व की वास्तविकता मानता है।

आधुनिक दार्शनिकों मे बर्ट्रेण्ड रसल की विचारधारा में 'अनेक तत्त्वा-त्मक वास्तविकवाद' का प्रतिपादन हुआ है। वे भौतिक पदार्थों के अस्तित्व

को अनुभूति पर आधारित नहीं मानते। रसल ने सभी प्रकार की आदर्शवादी और ज्ञाता-सापेक्षवादी विचारधाराओं का तार्किक ढंग से खण्डन किया है। बर्कले के अनुभववाद और प्लुतो के 'प्रत्ययों के सिद्धान्त' की भी उन्होंने तर्कपूर्ण रीति से धज्जियां उड़ाई हैं। ज्ञान-मीमांसिक विश्लेषण की दृष्टि से रसल ने एक नये प्रकार के वास्तविकतावाद को जन्म दिया है। इसमें स्पष्ट रूप से माना गया है कि ज्ञेय पदार्थों का अस्तित्व ज्ञाता से सर्वथा स्वतंत्र है। जैन-दर्शन भी इस सिद्धांत को स्वीकार करता है। इस प्रकार पदार्थों के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को दोनों दर्शनों मे स्वीकार किया गया है।

बर्ट्रेण्ड रसल जहां पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, वहां चैतन्य के अस्तित्व को भी स्वीकार करते है; अतः भौतिकवाद के भी वे विरोधी हैं। यहां तक तो उनका जैन दर्शन के साथ सामजस्य रहता है। किन्तु इससे आगे वे मानते है कि विश्व की वास्तविकता 'अनुभय' अर्थात् जड और चेतन से परे तीसरे प्रकार के तत्त्व है, जिनको वे घटनाए (ईवेण्ट्स) कहते है। इस प्रकार उनके अनुसार विश्व के सभी पदार्थ घटनाओ के समूह हैं। घटनाए अपने आप मे जड़ और चेतन दोनो से भिन्न हैं और आकाश-काल के सीमित प्रदेश मे स्थित है।[1] इन घटनाओं को वे स्वभावतः गत्यात्मक (डाइनेमिक) मानते है तथा एक-दूसरे से सबंधित भी। 'घटना' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने लिखा है—"जब मैं 'घटना' के विषय मे कह रहा हूं, तो मेरा तात्पर्य किसी अनुभवातीत वस्तु से नही है। बिजली की चमक को देखना एक घटना है; मोटर के टायर को फटते सुनना अथवा सड़े अण्डे को सूंघना या किसी मेढक के शरीर की शीतता का अनुभव करना···· आदि 'घटनाए' है।"[2] इन घटनाओं के सम्बन्ध परस्पर भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जिनके कारण उसका कोई समूह 'जड' कहलाता है और कोई 'चेतन।' इस प्रकार जड पदार्थो की घटनाओ के पारस्परिक सबध चेतन पदार्थों की घटनाओ के संबधो से भिन्न है, यद्यपि दोनो मे विद्यमान घटनाओं का स्वरूप एक ही है।[3]

जैन दर्शन के द्रव्य-गुण-पर्यायवाद के साथ यदि रसल के इस 'घटना सिद्धांत' की तुलना की जाए, तो इनके बीच रहे हुए सादृश्य-वैसदृश्य का पता लग सकता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय का आश्रय है।[4] प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य मे जो परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहा

१. एन आउटलाइन ऑफ फिलोसोफी, पृ० २८७।
२. वही, पृ० २८७।
३. दर्शन शास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३१।
४. गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्। —श्री जैन सिद्धांत दीपिका, १-३।

गया है।[1] जीव और पुद्गल, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, आकाश एवं काल; सभी द्रव्यों में प्रतिक्षण यह पर्याय का क्रम चलता रहता है। जिसको रसल 'घटना' कहते हैं, वह संभवतः 'पर्याय' का द्योतक है। रसल पदार्थों को घटनाओं के समूह रूप मानते हैं; जैन दर्शन 'पर्याय-प्रवाह' के आधार को द्रव्य मानता है। रसल की 'घटनाएं' गत्यात्मक है और एक-दूसरे से संबंधित हैं, तो जैन दर्शन भी पर्यायों को सदा गतिमान और एक-दूसरे से संबंधित मानता है। घटनाएं और पर्याय दोनो हमारे अनुभव से परे नही हैं। रसल जहां घटनाओ को विविध सम्बन्धों से जड़ और चेतन में विभाजित करते है और जड़ पदार्थों की घटनाओ के पारस्परिक सबंधो को चेतन पदार्थों की घटनाओं के सबंध से भिन्न मानते है, वहां जैन दर्शन भी पुद्गल और जीव की पर्यायों को भिन्न-भिन्न मानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि रसल प्रत्येक घटना को एक स्वतत्र तत्त्व 'अनुभय' मानते हैं, जबकि जैन दर्शन पर्याय को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्वीकार नही करता। यथार्थता की दृष्टि से देखने पर रसल का यह अनुभयवाद भी अन्ततः तो द्वैतवाद मे ही परिणत हो जाता है; क्योंकि जहां पारस्परिक सम्बन्धो से वे घटनाओं को दो प्रकारों में विभाजित करते है, वहा मौलिक तत्त्व घटनाए न रह कर जड़ और चेतन ही बन जाते हैं।

जड़-चेतन की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी सम्बन्धों की परीक्षा करते हुए डा० डब्ल्यू० टी० स्टेस (W. T. Stace) इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ये संबध अनुभयवाद को वस्तुतः द्वैतवाद बना डालते है।[2] वे कहते है—"यदि जड़ और चेतन का अन्तर उनके तत्त्वों के सबधों का अन्तर है, तो इसका तात्पर्य यह है कि चेतन पदार्थ के तत्त्वों में जो संबंध है, वह भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध से बिलकुल भिन्न है, अर्थात् वह भौतिक नही है। यह भी निश्चित है कि यह अनुभय नही है, तो अवश्य ही मानसिक या चेतन होगा। अनुभय नही होने का मतलब है कि जड़ और चेतन; दोनों से भिन्न नही है, अर्थात् भौतिक या मानसिक है। यह भी मालूम है कि भौतिक नही है; इसलिए अवश्य ही मानसिक होगा। इसी तरह यह दिखाया जा सकता है कि भौतिक पदार्थों के तत्त्वों में विद्यमान सम्बन्ध भौतिक है। अतएव अनुभय तत्त्वों से चेतन पदार्थ को उत्पन्न करने वाले संबंध सिर्फ चेतन हैं और भौतिक पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सिर्फ भौतिक। इसका मतलब है कि जड़ और चेतन की भिन्नता मौलिक या आधारिक है। किन्तु ऐसा होने से उनका वास्तविक द्वैत सिद्ध हो जाता है। इस द्वैत का परिहार नही हो सकता, क्योंकि यह द्वैत

१. पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः। —वही, १-४४।

२. देखें, दी फिलोसोफी ऑफ बर्ट्रेण्ड रसल, पी० ए० सिल्प द्वारा सम्पादित, पृ० ३५५-३८४।

सम्बन्धों का है और सम्बन्ध ही जड़ को जड़ और चेतन को चेतन बनाने वाले हैं।"[1] इस प्रकार, यद्यपि रसल ने घटनाओं को अनुभय तत्त्वों के रूप में बताया है, पर वस्तुतः तो उनके मूल में जड़ या चेतन कोई-न-कोई होता ही है।[2]

यह तो जैन दर्शन भी मानता है कि जितने भी चेतन-तत्त्व हैं और परमाणु-पुद्गल है, वे सभी स्वतन्त्र वास्तविकताएं है और इस दृष्टि से विश्व के मूल तत्वों की सख्या तो अनन्त ही है। जहा हम इन तत्त्वों को प्रकारों मे बाटते हैं, वहां हमारे सामने केवल दो भेद रह जाते है - जीव और पुद्गल।[3] अस्तु, रसल का दर्शन पाश्चात्य जगत् का एक ऐसा दर्शन है, जो संभवतः जैन दर्शन के सबसे निकट माना जा सकता है।

समीक्षात्मक वास्तविकतावाद और जैन दर्शन

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों मे प्रो० हेनी मार्गेनो की विचारधारा भी जैन दर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है। प्रो० मार्गेनो ने कन्स्ट्रक्ट्स' के सिद्धान्त का निरूपण करके यह बताया है कि ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ दोनां का स्वतन्त्र अस्तित्व हैं। अभौतिक वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते है।[4] इस प्रकार जैन दर्शन के साथ इनकी विचारधारा का काफी सामजस्य प्रतीत होता है। मार्गेनो की विचारधारा मे ज्ञान-मैमांसिक विश्लेषण के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ की वास्तविकता के विषय मे चिन्तन किया गया है और वह विचारधारा समीक्षात्मक वास्तविकतावाद के निकट चली जाती है।

समीक्षात्मक वास्तविकतावाद[5] के अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया मे तीन तत्त्व होते हैं :

१. ज्ञाता
२. ज्ञेय
३. ज्ञात पदार्थ

'ज्ञाता' ज्ञान प्राप्त करने वाला है। जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है, उसी को 'ज्ञेय पदार्थ' कहते है। मन या ज्ञाता की चेतना के समक्ष जो पदार्थ विद्यमान रहता है, उसी को 'ज्ञात पदार्थ' कहते है। उसे प्रदत्त (डेटम) भी कहते है; क्योंकि ज्ञाता को यह प्राप्त होता है, वास्तविक वस्तु नही

---

१. दर्शन शास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३३।
२. रसल ने स्वयं अपने दर्शन को द्वैतवाद कहा है; देखें, दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ३७१
३. धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय; ये तीन वास्तविक तत्त्व हैं, किन्तु इनकी संख्या एक-एक ही है।
४. दी नेचर ऑफ फिज़िकल रियलिटी, पृ० ४५८।
५. देखें, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४५।

मिलती। यह सिद्धांत वास्तविक वस्तु और ज्ञात वस्तु; दोनों में द्वैत या भिन्नता मानता है, इसलिए इस ज्ञान-शास्त्रीय द्वैतवाद (एपिस्टेमोलोजिकल ड्यूअलिज़्म) कहते है। इस प्रकार इसके अनुसार ज्ञेय पदार्थ और ज्ञात पदार्थ मे सख्यात्मक भिन्नता तो होती है, किन्तु इन प्रदत्तों के द्वारा यथार्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। क्योंकि हम प्रदत्तों को नही देखते, बल्कि चश्मे की तरह उनके माध्यम से वस्तुओं को देखते है।

जैन दर्शन ज्ञेय पदार्थ को स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है तथा ज्ञाता का भी स्वतन्त्र वास्तविक अस्तित्व मानता है। 'ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ से सख्यात्मक भिन्नता रखता है। ज्ञान प्रक्रिया मे दो प्रकार के साधनों का उपयोग होता है—ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय। ऐन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ से न केवल संख्यात्मक भिन्नता रखता है बल्कि इनमें स्वरूपात्मक भिन्नता भी होनी सभव है। हां, यह ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ और ऐन्द्रिय उपकरणों के पारस्परिक सम्बन्धो के अनुरूप ही होता है। गणित की भाषा मे इसे कहें तो - यदि अ ज्ञेय पदार्थ है और ब ऐन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञात पदार्थ है, तो ब=फ (अ, ऐन्द्रिय सम्बन्ध)[1] होता है। इस प्रकार हमारे ज्ञान मे आने वाले विश्व और वास्तविक विश्व मे यह 'द्वैत' हो जाता है। जहा अतीन्द्रिय साधनो के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, वहां ज्ञात पदार्थ और ज्ञेय पदार्थ में सख्यात्मक द्वैत तो रहता है, किन्तु स्वरूपात्मक द्वैत नही रहता। अर्थात् यदि क अतीन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञात पदार्थ है, तो

क=अ होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन और समीक्षात्मक वास्तविकतावाद में बहुत कुछ सादृश्य है, किन्तु थोड़ा अन्तर भी है। समीक्षात्मक वास्तविकतावाद जहा प्रदत्त और यथार्थ वस्तु में स्वरूपात्मक भिन्नता को स्वीकार नही करता, वहा जैन दर्शन उसकी सम्भवता को स्वीकार करता है। दूसरी बात यह है कि 'प्रदत्तों' को जैन दर्शन मे कोई स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार नही किया गया है, किन्तु वह वस्तुत. ज्ञाता का ही एक अंग बन जाता है। हां, उसका स्वरूप 'ज्ञेय पदार्थ' पर आधारित अवश्य होता है। ऐसा मानने से जो दोष समीक्षात्मक वास्तविकतावाद मे आते है,[2] जैन दर्शन की विचारधारा उनसे मुक्त रह जाती है।

हाइजनबर्ग का दर्शन और जैन दर्शन

वैज्ञानिको में अनेक ऐसे हैं, जो अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद को स्वीकार करते है। प्राचीन युग मे न्यूटन ने स्पष्ट रूप से भूत और चेतन के

---

१. फ ( ) फलन (फंक्शन) का चिह्न है।

२. विवरण के लिए देखें, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४७-३४८।

स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया था। आधुनिक युग में हाइजनबर्ग, व्हीट्टाकर आदि भी पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकार करते हैं, इसकी चर्चा हम कर चुके हैं। हाइजनबर्ग का स्थान वर्तमान वैज्ञानिकों की प्रथम श्रेणी में है। उन्होंने अपने **भौतिक विज्ञान और दर्शन** नामक ग्रन्थ में आधुनिक विज्ञान के दर्शन की जो चर्चा की है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने भौतिक पदार्थों को वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में माना है साथ ही चेतन तत्त्व की वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते है। उन्होंने माना है कि 'चेतन तत्त्व' को भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र और विकासवाद के सिद्धान्तों पर नही समझाया जा सकता।[1] हाइजनबर्ग यह भी मानते हैं कि 'वास्तविकता' को समझने के लिए हमारी सामान्य धारणाओं की सूक्ष्म परिभाषाएं आवश्यक है।[2] इनकी विचारधारा को हम आधुनिक प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत मान सकते है। उन्होने स्वयं आधुनिक प्रत्यक्षवाद की चर्चा में यह कहा है कि 'पदार्थ', 'अनुभूति,' 'अस्तित्व' आदि की समीक्षात्मक परिभाषाएं आवश्यक है।[3]

जैन दर्शन के साथ यदि इसकी तुलना की जाये, तो कहा जा सकता है कि वैज्ञानिको की दार्शनिक विचारधाराओ में हाइजनबर्ग की विचारधारा जैन दर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है। दोनो ही भूत और चेतन के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते है। ज्ञाता, ज्ञेय-सम्बन्धी हाइजनबर्ग की दार्शनिक विचारधारा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध न होने से इतनी ही समीक्षा पर्याप्त मानी जा सकती है।

हाईजनबर्ग के अतिरिक्त अन्य कुछ वैज्ञानिक भी भौतिक पदार्थों और चेतन तत्त्व को भी वास्तविक मानते हैं। किन्तु उनकी विचारधाराए दर्शन के रूप में उपलब्ध न होने से उनकी तुलनात्मक समीक्षा नही की जा सकती।

उपसंहार

'विश्व क्या है ?' इस प्रमुख प्रश्न के समाधान में दिये गये दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के विचारों और सिद्धांतों को जैन दर्शन के साथ एक तुलनात्मक समीक्षा करने का हमने प्रयत्न किया। हमने देखा कि विश्व की वास्तविकता के विषय में उल्लिखित इन विविध दर्शनों में और जैन दर्शन में सादृश्य भी है और वैसदृश्य भी। किसी ने केवल 'ईश्वर' को वास्तविक माना है और सारे विश्व को अवास्तविक। किसी ने अनुभूत विश्व को अवास्तविक मानकर वास्तविकता को पारमार्थिक बताया है। किसी ने

१. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ९५।
२. वही, पृ० ८४
३. वही, पृ० ७८।

अनुभूति को ही वास्तविकता का मूल कारण माना है और अनुभूत विश्व को अवास्तविक कहा है। किसी ने केवल आत्मा या चेतन को ही वास्तविक माना है और भूत को अवास्तविक। किसी ने केवल भूत को वास्तविक माना है, तो चेतन को अवास्तविक अथवा भूत से ही उद्भूत। किसी ने चेतन, भूत सभी को अवास्तविक कहा है। किसी ने चेतन को भी वास्तविक कहा है और भूत को भी तथा किसी ने चेतन और भूत से भिन्न अनुभय को वास्तविक माना है।

विज्ञान का दर्शन उक्त विषय में क्या दृष्टिकोण रखता है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। हम देख चुके हैं कि वैज्ञानिक इस विषय में पृथक्-पृथक् विचार रखते हैं। विज्ञान का प्रायोगिक पक्ष बहुधा सर्वसम्मत दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है तो दार्शनिक पक्ष भी क्या ऐसा प्रतिपादन नहीं कर सकता? इस विचारणीय प्रश्न को हम उक्त सीमा के आलोक में हल करने का प्रयत्न करेंगे। हम देख चुके हैं कि वैज्ञानिकों के दार्शनिक विचार मुख्यत: तीन भागों मे विभाजित हो जाते हैं—१. आदर्शवाद, २. भौतिकवाद, ३. अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकवाद। इनमें प्रथम दो दृष्टिकोण एकतत्त्ववाद (मोनिज़म) का समर्थन करते है। किसी भी प्रकार के एकत्ववाद की यह त्रुटि है कि वह तर्क और अनुभव के आधार पर खरा नहीं उतरता। आदर्शवादी वैज्ञानिक भौतिक विश्व की वस्तु-निष्ठता को अस्वीकार कर केवल चैतन्य को ही विश्व की वास्तविकता मानने का आग्रह करते हैं, तो भौतिकवादी वैज्ञानिक केवल भूत को ही विश्व की चरम वास्तविकता बताते हैं। दोनों पक्षों के वैज्ञानिक अपनी विचारधारा को विज्ञान-सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वैज्ञानिकों के इस दार्शनिक विवाद के पीछे राजनीति का भी प्रभाव है, ऐसा लगता है।

साम्यवादी नेताओं को जब पता चला कि कुछ वैज्ञानिक आधुनिक भौतिक विज्ञान के आदर्शवाद की विचारधारा के पक्ष मे बताते हैं, तो उन्हें बड़ी चिंता हुई।[1] वे इस प्रयत्न में लगे कि 'भौतिकवाद' को ही वैज्ञानिक दर्शन का स्थान प्राप्त हो। लेनिन ने ठेठ ई० १९०८ में लिखा था—"सामान्य विज्ञान के क्षेत्र में एवं भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी वैज्ञानिकों का विशाल बहुमत भौतिकवाद के पक्ष में है। बहुत ही अल्पसंख्या में कुछ एक आधुनिक भौतिक विज्ञानवेत्ता आदर्शवाद के चक्कर में पड़ गए हैं। यह नया आदर्शवादी भौतिक विज्ञान जो अभी-अभी प्रचारित हो रहा है, केवल प्रतिक्रियात्मक और अस्थाई है……।"[2] लेनिन के इस विचार की प्रतिक्रियारूप ही संभवत:

१. देखें, फिलोसोफी एण्ड फिज़िसिस्ट्स, भूमिका, पृ० ११।
२. मेटेरियलिज़म एण्ड एम्पिरियो-क्रिटिसिज़म, पृ० ३१०।

एडिंग्टन, जीन्स आदि वैज्ञानिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को और भौतिक पदार्थों के ज्ञाता-सापेक्ष अस्तित्व को वैज्ञानिक सिद्धांतों के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार एक ओर आदर्शवाद को तो दूसरी ओर भौतिकवाद को विज्ञान-सम्मत बताने के प्रयत्न वैज्ञानिकों के द्वारा हुए। यह सहज संभव है कि इस प्रकार के प्रयत्नो मे विज्ञान की तर्क-संगतता और अनुभव-सगतता को गौण कर दिया गया हो। इन दोनों विचारधाराओं की समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दोनो विचारधाराएं पूर्ण रूप से विज्ञान-सम्मत और तर्क-सम्मत नही है।

प्रो० श्रीमती स्टेबिंग, जिन्होंने एडिंग्टन और जीन्स के आदर्शवादी विचारों की कटु आलोचना की है और उनके विचारो में रही हुई असंगतता को प्रकट किया है, 'भौतिकवाद' को भी विज्ञान-सम्मत दर्शन नही मानती। उन्होंने इस बात को स्पष्ट रूप से लिखा है कि "भौतिकवादी येन-केन प्रकारेण किसी प्रकार के तत्त्व-मैमांसिक भौतिकवाद की स्थापना करना चाहते है। (वे चाहते हैं कि) वैज्ञानिक निष्कर्षों का जिस किसी भी प्रकार से ऐसा प्रतिपादन किया जाए, जिससे वे दार्शनिक विचार पुष्ट हो, जिन पर उनका राजनैतिक दर्शन व्यवसायिक रूप से आधारित है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के पोषकों की उतनी ही निकृष्ट तत्त्व-मीमासा और उतना ही अपूर्ण दर्शन है, जितना कि उन लोगो का है, जो दार्शनिक आदर्शवाद को मान्यता देते हैं।.... "मैं इस सम्भावित भ्रांति को दूर करना चाहती हू। यदि मैं इस बात को सिद्ध करने मे सफल होती हूं कि वर्तमान भौतिक विज्ञान के सिद्धांत आदर्शवाद के किसी भी प्रकार की पुष्टि नही करते तो ऐसा भी नही समझना चाहिए कि उन्हे (भौतिक विज्ञान के सिद्धांतों को) भौतिक-वाद के किसी रूप की पुष्टि करने वाले सिद्ध करती हूं।"[1] प्रो० स्टेबिंग के आदर्शवाद-विरोधी विचारो की चर्चा हम कर चुके है और देख चुके हैं कि उन्होंने सफलतापूर्वक एडिंग्टन और जीन्स दार्शनिक विचारो को विज्ञान और तर्क के साथ असंगत सिद्ध किया है। उक्त उद्धरण से कहा जा सकता है कि भौतिकवाद को भी वे विज्ञान-सम्मत मानने को तैयार नही है। इस उद्धरण से विज्ञान के दर्शन पर राजनीति के प्रभाव को भी देखा जा सकता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा ज सकता है कि वैज्ञानिक दर्शन की संज्ञा न तो आदर्शवाद को दी जा सकती है और न भौतिकवाद को।

तीसरा विकल्प रह जाता है—द्वैतवाद या अनेकतत्त्ववाद का। हाइजनबर्ग आदि वैज्ञानिकों की मान्यता सम्भवतः विज्ञान के दर्शन को निष्पक्ष रूप से प्रतिपादित करती है। उनके अभिमत में आत्मा (चेतन) और

---

१. फिलोसोफी एण्ड दी फिजिसिस्ट्स, भूमिका, पृ० १२।

भूत; दोनों को स्वतन्त्र मौलिक वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार यद्यपि इन वास्तविकताओं के तात्त्विक स्वरूप के विषय मे वर्तमान विज्ञान का चिन्तन स्पष्ट नही हो पाया है, फिर भी इनके स्वतन्त्र अस्तित्व को तो स्वीकार कर ही लिया गया है। हाइजनबर्ग ने अपनी भौतिक विज्ञान और दर्शन नामक पुस्तक के उपसंहारात्मक अध्याय में लिखा है: "मन, आत्मा, जीवन या ईश्वर-सम्बन्धी उन्नीसवीं शताब्दी[1] की हमारी धारणाओं से आज आधुनिक भौतिक विज्ञान के विकास के कारण इनके विषय मे हमारी धारणाए काफी भिन्न हो गई हैं। एतद् विषयक धारणाए प्राकृतिक भाषा के साथ सम्बन्धित होने के कारण वास्तविकता को अधिक छूती है। यद्यपि यह सही है कि इनकी व्याख्याएं वैज्ञानिक अर्थ में इतनी सुस्पष्ट नही है और सम्भवतः इनके परिणामस्वरूप अनेक असंगतिया भी उत्पन्न हो जाती है, फिर भी हमे वर्तमान मे तो उनको वैसे ही अपनाना होगा। क्योंकि हम जानते हैं कि वे वास्तविकता को छूती है। इसके सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना होगा कि विज्ञान के अधिकतम समीचीन अश—गणित मे हमे बहुत सारी ऐसी धारणाओं को प्रयुक्त करना होता है, जो असगतियों को जन्म देने वाली होती है। उदाहरणार्थ—'यह सर्व विदित है कि 'अनंत' संबंधी (गणित की) धारणा असगतियों को उत्पन्न करती है, जिनका विश्लेषण भी किया गया है; परन्तु इस धारणा के बिना गणित के प्रमुख अशो का निर्माण प्रायः अशक्य-सा बन जाता है।"[2] हाइजनबर्ग के इस कथन का तात्पर्य यही होता है कि विज्ञान-सम्मत दार्शनिक विचारधारा आत्मा की वास्तविकता को स्वीकार करती है।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि 'विश्व क्या है?' की प्रहेलिका का विज्ञान-सम्मत हल निकालने मे अब तक सभी वैज्ञानिक एकमत नही हो पाए है। जैन दर्शन की विचारधारा और उसके आलोक में की गई समीक्षा के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन दर्शन का अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद प्रस्तुत प्रहेलिका का विज्ञान-सम्मत हल निकालने मे मार्ग-दर्शक बन सकता है। जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है, फिर भी दार्शनिक आदर्शवाद से सहमत नही है। तत्त्व-मीमांसा के दृष्टिकोण में पुद्गल और जीव; दोनों के अस्तित्व का समान मूल्य है। अतः भौतिकवाद और आदर्शवाद के

१. १९ वी शताब्दी के वैज्ञानिको के दर्शन मे प्रमुखतया भौतिकवाद को ही स्थान मिला था। 'यांत्रिक भौतिकवाद' उन्नीसवी शताब्दी के भौतिक विज्ञान की देन है।

२. फिज़िक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० १७२।

बीच की खाई को पाटने के लिए जैन दर्शन का तत्त्व-मैमांमिक दृष्टिकोण बहुत उपयोगी हो सकता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित सत् (वास्तविकता) की परिभाषा द्रव्य, गुण, पर्याय का निरूपण, पांच अस्तिकायों का स्वरूप आदि तथ्य अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद के समक्ष उपस्थित होने वाली तर्कों का समाधान दे सकते है।

अभ्यास

१. दर्शन और विज्ञान के मूलभूत अन्तर को समझाते हुए इनकी निकटता को स्पष्ट करें।
२. दर्शन और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन क्यों जरूरी है ?
३. आधुनिक विज्ञान के दर्शन को विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है ?
४. जैन दर्शन के साथ निम्नलिखित आधुनिक वैज्ञानिकों के दर्शन की तुलना करें—
   (क) एडिंगटन
   (ख) जेम्स जीन्स
   (ग) हाइज़नबर्ग
५. जैन दर्शन द्वारा भौतिकवाद के वैज्ञानिक दर्शन का निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है ?
६. वैज्ञानिकों विभिन्न दर्शन के संदर्भ में जैन दर्शन का मूल्यांकन करें।

२. अध्यात्म और विज्ञान

(१) धर्म और विज्ञान

धर्म और विज्ञान—ये दो नहीं, वस्तुतः एक ही विषय हैं। धर्म स्वयं विज्ञान है। एक वैज्ञानिक यहां हिन्दुस्तान में बैठा हुआ किसी प्रकार का प्रयोग या अन्वेषण करता है और जो निष्कर्ष उसके प्रयोग का निकलेगा, वही निष्कर्ष अमेरिका में बैठा हुआ एक वैज्ञानिक उसी तरह का प्रयोग करके प्राप्त करेगा। हजार वर्ष पहले किसी वैज्ञानिक ने प्रयोग करके जो फल निकाला था, हजार वर्ष बाद भी आज का वैज्ञानिक वैसे ही प्रयोग से वही फल प्राप्त करेगा। अतः यह स्पष्ट है कि त्रिकालाबाधित सत्य ही विज्ञान है। देश या काल के कारण इसमे कोई अन्तर नही आ सकता। यही बात धर्म के लिए भी हम कह सकते हैं। अतः मानना पड़ेगा धर्म स्वयं विज्ञान है। किसी वस्तु को जानने का जो माध्यम है, वह है विज्ञान, और उस माध्यम के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, वह है धर्म। विज्ञान वस्तु को जानने की प्रक्रिया है और धर्म आत्मा को पाने की प्रक्रिया है, साधन है।

मनुष्य में सत्य की जिज्ञासा और उसकी खोज का प्रयत्न चिरकाल से रहा है। उसका स्थूल रूप हमारे सामने है। मनुष्य केवल स्थूल से संतुष्ट नही होता। वह निरन्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान करता है। धर्म की खोज सूक्ष्म तत्त्व की खोज है। आत्मा, परमात्मा, परमाणु, कर्म—ये सभी सूक्ष्म तत्त्व है। साधारण जीवन-यात्रा से इनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। इस खोज का माध्यम रहा है—अन्तर्दृष्टि, अतीन्द्रिय चेतना और गंभीर एवं एकाग्र चिन्तन।

विज्ञान ने भी सूक्ष्म सत्यों को खोजा है। उसकी खोज का माध्यम है—सूक्ष्मदर्शी उपकरण। वैज्ञानिक जगत् में ये उपकरण प्रचुर मात्रा में विकसित हुए हैं। इनके द्वारा एक सामान्य मनुष्य भी सूक्ष्म तत्त्वों को जान सकता है। किन्तु एक वैज्ञानिक के लिए ये उपकरण ही पर्याप्त नही हैं। उसके लिए अन्तर्दृष्टि, चिन्तन की एकाग्रता और निर्विचारता उतने ही आवश्यक हैं जितने एक धर्म की खोज करने वाले के लिए।

धर्म भी सत्य की खोज है और विज्ञान भी सत्य की खोज है। जहां सत्य की खोज का प्रश्न है, दोनों एक बिंदु पर आ जाते हैं। पर उद्देश्य की

दृष्टि से दोनों के अवस्थिति-बिंदु भिन्न हैं। धर्म के क्षेत्र में सत्य की खोज का उद्देश्य है—अस्तित्व और चेतना का विकास। विज्ञान के क्षेत्र में सत्य की खोज का उद्देश्य है—अस्तित्व और पदार्थ का विकास। विज्ञान ने जीवन-यात्रा के लिए उपयोगी अनेक तत्त्व खोजे हैं। खाद्य, चिकित्सा व सुविधा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई है। धर्म ने सुविधा देने वाला कोई तत्त्व नहीं खोजा, पर उसने चेतना के उन आयामों की खोज की जो सुविधा के अभाव मे होने वाली असुविधा को सह सकें।

अध्यात्म और विज्ञान द्वारा नियमों की खोज

भीतर की गहराइयों में गये बिना सच्चाई को जाना नहीं जा सकता। प्रत्येक देश और काल का अपना मूल्य होता है। आज का देश और काल विज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित है। आज का प्रबुद्ध आदमी विज्ञान की भाषा समझता है। बहुत सहजता से समझ लेता है। वह पुरानी भाषा को इतनी सहजता से नही पकड पाता। अध्यात्म की भाषा पुरानी हो गई, इसलिए उसे पकड़ने मे कठिनाई हो रही है। अध्यात्म स्वय विज्ञान है। विज्ञान और अध्यात्म को बाटा नही जा सकता। उनके बीच मे कोई भेद-रेखा नही खींची जा सकती। किन्तु आज चलने वाली धारा हजार वर्षों के बाद अनबूझ पहेली बन जाती है।

वर्तमान की धारा लोगो के लिए सुलभ होती है। आज यही हुआ है। आज अध्यात्म को हम भूल गए और विज्ञान हमारी पकड़ मे आ गया। गहरे में उतर कर देखें तो अध्यात्म और विज्ञान मे अन्तर नही लगता। दोनों की प्रकृति एक है। दोनों नियमों के आधार पर चलते है।

अध्यात्म ने चेतना के नियम खोजे और विज्ञान पदार्थ के नियमों की खोज कर रहा है। दोनों ने नियमों की खोज की है। जहां नियम की खोज नही होती, वहां सच्चाई का पता नही चलता।

यह सारा जगत् नियमों के आधार पर चल रहा है। हम नियमों को नही जानते, इसलिए वे हमारे लिए चमत्कार बन जाते है। इस दुनिया मे चमत्कार जैसी कोई बात नही होती। जो चमत्कार माने जाते हैं, वे सारे के सारे इस जगत के नियम है। जो नियम से अनभिज्ञ हैं, उसके लिए चमत्कार और जो नियम का ज्ञाता है उसके लिए चमत्कार समाप्त हो जाते हैं।

जब पहली बार आग जली, तब बड़ा चमत्कार लगा। लोगों ने सोचा, यह क्या है ? यह कहां से आ गई ? उस समय कोई उसे समझ नही सका। जैसे-जैसे आग के नियम ज्ञात होते गए, आग जलना कोई चमत्कार नहीं रहा।

एक दिन जब रेलें पटरियों पर दौड़ने लगीं, तब लोगों को बड़ा चमत्कार लगा। अनेक ग्रामीणों ने उसे देवता मान पूजा की। अनेक लोग डर के मारे भाग गए। जब लोग रेल के नियमों को समझ गए, तब रेल न चमत्कार रहा, न भय रहा और न आतंक रहा।

ये जितने जादू के चमत्कार है, जितने तन्त्र-विद्या के चमत्कार हैं, वे सारे नियमों के चमत्कार हैं। नियम के प्रतिकूल कुछ भी नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि जो नियमों को जानता है, उसके लिए कोई चमत्कार नहीं है और जो नियमों को नहीं जानता, उसके लिए सब चमत्कार है।

चुम्बक लोह को खींचता है। ग्रामीण व्यक्ति के लिए वह चमत्कार है। जो चुम्बकीय नियम को जानता है, उसके लिए चमत्कार जैसा कुछ भी नहीं है।

दोनों ने—अध्यात्म को विज्ञान ने—नियमों को खोजा। इसीलिए एक वैज्ञानिक व्यक्ति आगे चलते-चलते आध्यात्मिक बन जाता है और एक आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी यात्रा करते-करते वैज्ञानिक बन जाता है। यह नहीं हो सकता कि वैज्ञानिक आध्यात्मिक न हो और यह भी नहीं हो सकता कि आध्यात्मिक वैज्ञानिक न हो। यह इसलिए होता है कि दोनों का मार्ग एक है, दिशा एक है, पद्धति एक है और निष्पत्ति एक है। इतना होने पर ये दोनों अलग कैसे रह सकते हैं? भिन्न-भिन्न दिशाओं से आने वाली ये दो धाराएं एक महानदी में मिलकर एक हो जाती हैं। वैसे ही विज्ञान की धारा, अध्यात्म की धारा तथा भिन्न-भिन्न लगने वाली और भी अनेक धाराएं जब सत्य के महासमुद्र में विलीन होती है, तब वे सब एक बन जाती हैं। उनका भेद समाप्त हो जाता है।

नियमों को जानना बहुत आवश्यक है। नियमों को जाने बिना कोई व्यक्ति आध्यात्मिक नहीं बन सकता। नियमों को जाने बिना कोई व्यक्ति वैज्ञानिक नहीं बन सकता। अध्यात्म के अपने नियम हैं और विज्ञान के अपने नियम है। आध्यात्मिक व्यक्ति को विज्ञान पढ़ना बहुत जरूरी है और वैज्ञानिक को अध्यात्म पढ़ना बहुत जरूरी है। अच्छा यह होगा कि अध्यात्म के प्रकाश मे विज्ञान को पढा जाए और विज्ञान के प्रकाश में अध्यात्म को पढा जाए, तब नियमों की पूरी शृंखला हमारे सामने आ सकती है।

धर्म और विज्ञान की महानता

आज लोग विज्ञान को केवल दो शताब्दी पुराना ही मान बैठे हैं। इस काल में जो अन्वेषण और प्राप्ति विज्ञान ने की है सिर्फ वही विज्ञान है, ऐसी लोगों ने धारणा बना ली है। लेकिन जो उपलब्धियां सामने हैं,

वे विज्ञान नहीं हैं। वे तो उपलब्धियां मात्र हैं। यथार्थ भाव से देखना ही विज्ञान है। आत्मा से भिन्न कोई विज्ञान है ही नहीं।

अणुबम विज्ञान की देन है। लेकिन वह अपने आप कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि वह जड़ है। चेतना की शक्ति ही उसका उपयोग करके विनाश ढहाती है। शक्तियों का विकास कोई दोष नहो लेकिन उनका उपयोग सही ढंग से हो। जो विज्ञान को बुरा कहते है, उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि धर्म भी बुरा है क्योंकि उनको अलग करने का हमारे पास कोई साधन नही है। धर्म और विज्ञान त्रिकालाबाधित सत्य है, यही निष्कर्ष है।

अध्यात्म की तरह विज्ञान का क्षेत्र भी अत्यन्त प्राचीन है। विज्ञान के लिए हजारो ने अपने आपको खपाया है। भारत मे हजारो वर्ष पहले भी विज्ञान के क्षेत्र में अध्यात्म की तरह ही ऐसे-ऐसे अनुसन्धान हुए हैं; आज यदि आपके सामने उनकी उपलब्धिया रखी जाए तो आप आश्चर्यचकित हो जाएंगे।

इसी तरह के अनुसंधान अध्यात्म-क्षेत्र में किए गए। अनेक ने गूढ़ साधनाएं की, तभी अध्यात्म की अनुभूतिया प्राप्त हुई। गुस्सा या आवेग जब आता है तो तत्काल दो क्षण के लिए श्वास रोक ले। गुस्सा स्वतः ठंडा पड़ जाएगा। इसी तरह के अनेक प्रयोग किए गए हैं। योगशास्त्र को जानने वाला खोज करके देखे कि प्राचीन आचार्यों ने कितने प्रयोग किए है। प्राचीन समय मे हजारों कोस दूर बैठा साधु किसी अन्य साधु को सिर्फ याद करके उसका आसन डोला (हिला) सकता था और वह समझ जाता था कि उसे याद किया गया है।

इस दृष्टि से धर्म और विज्ञान दो धाराएं या शाखाएं नहीं हैं, एक ही चेतना-प्रवाह की दो कड़ियां है। मूल एक है, टहनियां दो हैं।

जिस तरह विज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग विनाशकारी कार्यों में किया गया है, जो सर्वविदित है, उसी प्रकार धर्म का उपयोग भी अनुचित ढंग से किया गया है और कहीं-कहीं तो उसका अत्यधिक दुरुपयोग भी किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि विज्ञान और धर्म का क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हुए भी मूल एक है। और मैं तो कहता हूं यह विशाल नगरो के फ्लैट सिस्टम (Flat System) की तरह है; जहां एक ही मकान में कई फ्लैट होते हैं और उसमें रहनेवाले वर्षों से वहां रहते हुए भी एक-दूसरे से अपरिचित-से बने रहते हैं।

धर्म से प्रभावित लोग मानते हैं—विज्ञान ने मनुष्य-जाति को सहार के कगार पर पहुंचा दिया है। विज्ञान से प्रभावित लोग मानते हैं—धर्म ने

मनुष्य को परंपरावादी या रूढ़िवादी बना दिया है। इस आरोप और प्रत्यारोप में सचाई नही है। सचाई यह है कि धर्म और विज्ञान सत्य को उपलब्ध करने की पद्धतियां हैं। धर्म का रूढिवाद से और विज्ञान का संहारक शस्त्रों से कोई संबंध नही है।

जैसे धर्म-स्थान धर्म नही है, वैसे ही प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) विज्ञान नही है। जिसका उपयोग होता है, उसका दुरुपयोग भी हो सकता है। उपयोग और दुरुपयोग के बीच मे कभी भी लक्ष्मणरेखा नहीं खीची जा सकती। दुरुपयोग धर्म का भी हो सकता है और विज्ञान का भी हो सकता है। जो धर्मसत्ता और संपत्ति के साथ जुड़ जाता है, वह घातक बन जाता है। ठीक इसी प्रकार विज्ञान भी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के साथ जुड़कर संहारक बन रहा है। संहार विज्ञान की प्रवृत्ति नही है। उसका स्वरूप नहीं है। धर्म और विज्ञान दोनों की प्रकृति है—स्थूल स सूक्ष्म की दिशा मे प्रस्थान—जागतिक नियमों की खोज, सामान्यीकरण, सत्य की परिक्रमा।

कुछ धार्मिक नेता कहते है— विज्ञान के कारण जनता की धर्म के प्रति आस्था डगमगा गई है। किन्तु इसमे सचाई नही लगती। यदि धर्म से सत्य की खोज होती है, तो कोई दूसरी शक्ति उसके प्रति अनास्था पैदा नही कर सकती। उसे पदच्युत नहीं कर सकती।

आइंस्टीन महान् वैज्ञानिक था। वह इतना आस्थावान था कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी उतना आस्थावान नहीं हो सकता। वैज्ञानिक और आत्मा परमात्मा के प्रति आस्थावान—यह एक समस्या है। इतना बड़ा वैज्ञानिक और फिर धार्मिक ! यह कैसे ? यह प्रश्न हमारी ही मूढता के कारण उत्पन्न हुआ है। अपनी विसंगतियों के कारण उत्पन्न हुआ है। अपनी विसंगतियों के कारण हमने ऐसे मूल्य स्थापित कर दिए, ऐसे मानदड स्थापित कर लिए कि यदि वैज्ञानिक धार्मिक होता है तो आश्चर्य होता है और नही होता है तो कोई आश्चर्य नही होता। बल्कि आइस्टीन ने स्वयं लिखा है—

"Religion without science is blind; science without religion is lame."

इस वैज्ञानिक युग ने मनुष्य जाति का बहुत उपकार किया है। आज धर्म के प्रति जितना सम्यक् दृष्टिकोण है वह ५०-१०० वर्ष पूर्व नही हो सकता था। आज सूक्ष्म सत्य के प्रति जितनी गहरी जिज्ञासा है, उतनी पहले नही थी। उसे अन्धविश्वास कहा जाता था। एक ऐसा शब्द है अन्धविश्वास कि उसकी ओट में सब कुछ छिपाया जा सकता है। किन्तु विज्ञान ने जैसे-जैसे सूक्ष्म सत्य की प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की, वैसे-वैसे अन्धविश्वास कहने का साहस टूटता गया। अब यदि कोई व्यक्ति किसी बात को अन्धविश्वास

कह कर टालता है तो वह साहस ही करता है। आज विज्ञान जिन सूक्ष्म सत्यों का स्पर्श कर चुका है, दो शताब्दी पूर्व उनकी कल्पना करना भी असंभव था। यह कहा जा सकता है कि विज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान की सीमा के आस-पास पहुच रहा है। प्राचीन काल में साधना द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास और सूक्ष्म सत्यो का साक्षात्कार किया जाता था। आज के आदमी ने अतीन्द्रिय ज्ञान की साधना भी खो दी और अतीन्द्रिय ज्ञान के विकास करने का अभ्यास भी खो दिया, पद्धति भी विस्मृत हो गई। अब सिवाय विज्ञान के कोई साधन नही है। वैज्ञानिकों ने कोई साधना नही की, अध्यात्म का गहरा अभ्यास नहीं किया, अतीन्द्रिय चेतना को जगाने का प्रयत्न नही किया, किन्तु इतने सूक्ष्म उपकरणों का निर्माण किया, जिनके माध्यम से अतीन्द्रिय सत्य खोजे जा सकते है, देखे जा सकते है। वे सारे सत्य इन सूक्ष्म उपकरणों से ज्ञात हो जाते है। इसका फलित यह हुआ कि आज का विज्ञान अतीन्द्रिय तथ्यो को जानने-देखने और प्रतिपादन करने मे सक्षम है।

आइन्स्टीन ने एक बार कहा था—"हम लोग वैज्ञानिक दावे तो बहुत बड़े-बडे करते है, लेकिन हमारे पास जानने के साधन इन्द्रियां और मन इतने दुर्बल हैं कि हमे अनेक बार भ्रांति मे डाल देते हैं।" यह बिलकुल सत्य है। लोग कहते है आंखों-देखी बात झूठी कैसे हो सकती है ? लेकिन सत्य यह है कि ऐसा अनेक बार होता है। गाडी मे बैठे हुए लोग अनुभव करते हैं कि पेड़ दौड रहे हैं, गाड़ी नहीं। क्या आखें धोखा नही दे रही हैं ? चलते समय मार्ग मे हमने देखा लगभग एक मील सीधी सड़क जो कम-से-कम आठ फूट चौडी तो होगी ही, साफ दिखाई दे रही है लेकिन अन्त में उसका किनारा सिर्फ एक लकीर-सा दिखाई देता है। फिर हमने देखा आकाश जमीन को छूता हुआ-सा लग रहा है, लेकिन ज्योही हम चलते-चलते उस स्थान पर पहुचे तो देखा उस स्थान पर नही, और आगे वह जमीन को छू रहा है। यह आखो का धोखा नही तो क्या है ? इन्द्रियों की की शक्ति अत्यन्त सीमित है। आंख मे देखने की शक्ति है, पर वह एक सीमित दूरी पर रही हुई वस्तु को ही देख पाती है। कान मे सुनने की शक्ति है, पर वह निश्चित फ्रीक्वेन्सी वाली शब्द-तरग ही पकड पाता है। हमारे चारों ओर न जाने कितनी ध्वनिया हो रही है। वे कानों से टकराती है। पर कान उन सारी ध्वनियों को ग्रहण नही कर पाता। वे ही ध्वनिया कान में ग्राह्य होती हैं जो कि निश्चित आवृत्ति में आती है। शेष ध्वनियां आती हैं, टकराती है और चली जाती है।

हमारे सामने दो प्रकार का जगत् है—इन्द्रिय-जगत् और इन्द्रियातीत जगत्। हमारा पूरा विश्वास इन्द्रिय-जगत् में है। क्योंकि वह हमारे

प्रत्यक्ष है। उससे हमारा सीधा संबंध है। उसके प्रति हमारी इतनी गहरी आस्था बन गई है कि इन्द्रियातीत की कोई बात सामने आ जाती है तो भी उस पर विश्वास नही होता। वह समझ में नही आती। इन्द्रियों से परे का जगत् बहुत विराट है। इसका पूरा साक्ष्य है आज का विज्ञान। विज्ञान ने सूक्ष्म उपकरणों के माध्यम से ऐसे जगत् को खोजा है जो इन इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो चीज आंखों के द्वारा नहीं देखी जा सकती, वह माइक्रोस्कोप के द्वारा देखी जा सकती है। विज्ञान ने इतने सूक्ष्म जगत् का पता लगा दिया है कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। एक सूई की नोंक पर अरबो-खरबों परमाणु समा जाते है। यह विज्ञान की बात है। दार्शनिक जगत् की बात तो और सूक्ष्म है। उनके अनुसार सूई की नोक पर अनन्त जीव समा सकते हैं। अनन्तकायिक वनस्पतियां इसका प्रमाण है। यह बहुत सूक्ष्म अन्वेषण है। वैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से तथा सूक्ष्म उपकरणों के माध्यम से जो देखा गया वह यह है कि एक कण भूमि में बीस हजार कीटाणु समा जाते है। बहुत विराट् है सूक्ष्म जगत्, किन्तु इन्द्रिय-जगत् के प्रति हमारे कुछ दार्शनिकों और तार्किकों की इतनी प्रगाढ़ आस्था हो गयी कि वे इन्द्रियातीत को अवास्तविक मानने लग गए।

जैन आगम के सूक्ष्म सत्य

जैन आगम-साहित्य मे सूक्ष्म सत्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ मे उन्हे समझने मे सुविधा होती है। उदाहरणार्थ यहां कुछ एक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की चर्चा की जा रही है—

१. निगोद वनस्पति के सुई की नोक टिके उतने भाग में अनन्त जीव होते है—यह एक धार्मिक सिद्धान्त है। यह सहज बुद्धिगम्य नहीं है, इसलिए चिरकाल तक सदेह का विषय बना रहा। किन्तु अब इस सूक्ष्मता मे सदेह नही किया जा सकता। शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर के पिन की नोंक टिके उतने भाग मे में दस लाख कोशिकाए हैं। पांच फीट के मानव शरीर मे छह सौ खरब कोशिकाएं हैं। यह विशाल सख्या वनस्पति-विषयक संख्या को संभव बना देती है।

२. मनोविज्ञान के क्षेत्र में जिस दिन चेतन मन की सीमा को पार कर अवचेतन और अचेतन मन की अवधारणा निश्चित हुई, उस दिन चेतन-जगत् की सूक्ष्मता की दिशा में एक अभिनव अभियान शुरू हो गया।

३. लेश्या या आभामंडल का सिद्धात समझ से परे हो रहा था। प्रत्येक जीव के आस-पास एक आभामंडल होता है। भाव-परिवर्तन के साथ-साथ वह परिवर्तित होता रहता है। मृत्यु के आस-पास वह क्षीण होने लगता है और मृत्यु के साथ वह समाप्त हो जाता है। अथवा इस प्रकार कहा जा

सकता है कि उसके क्षीण होने पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है।

विज्ञान के क्षेत्र में आभामंडल का सिद्धांत प्रतिष्ठित हो चुका है। किर्लियन दंपति के इस विषय में किए गए प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।[1] उन्होंने पदार्थ और प्राणी दोनों के आभामंडल के फोटो लिये। उन दोनों में एक प्रकाशमय ढाचा बना हुआ था। सिक्के का आभामंडल नियत था, जबकि प्राणी का आभामंडल परिवर्तनशील था।

पहले मृत्यु की घोषणा हृदय की धड़कन और नाड़ी की गति बंद होने तथा मस्तिष्क की कोशिकाओं के निष्क्रिय होने पर की जाती थी। अब उसकी घोषणा आभामंडल के आधार पर की जाती है। जब तक आभामंडल क्षीण नहीं होता है प्राणी की मृत्यु नहीं होती। इसलिए तथाकथित मृत्यु की घोषणा होने के बाद भी अनेक मनुष्य जी उठते है।

४. कर्म-परमाणुओं के प्रत्येक स्कन्ध में असंख्य संस्कारों के स्पंदन अंकित होते हैं। यह विषय बुद्धिगम्य नहीं है। किन्तु क्रोमोसोम (गुणसूत्र) और जीन (संस्कार-सूत्र) की वैज्ञानिक व्याख्या के पश्चात् वह विषय अस्पष्ट नहीं रहा। प्रत्येक जीन में छह लाख आदेश अंकित माने जाते है। जीन और कर्म का तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही दिलचस्प विषय है।

५. कर्म के संक्रमण का सिद्धान्त—पुण्य को पाप के रूप में और पाप को पुण्य के रूप में बदलने की प्रक्रिया में अब संदेह नहीं किया जा सकता। जेनेटिक इंजीनियरिंग के अनुसार जीन के परिवर्तन का सिद्धांत मान्य हो चुका है और उसके परिवर्तन के उपाय खोजे जा रहे है।

६. खनिज धातु में जीव का सिद्धान्त बहुत विवादास्पद रहा। किन्तु अब विज्ञान के चरण उस विवाद के समाधान की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

कुछ भूवैज्ञानिक मानते है कि पत्थर और पहाड़ भी बढ़ते रहते है। धातु पर प्रहार करने पर उसमें थकान आती है। कुछ समय बाद आराम के क्षणों में वह पूर्ववत् हो जाती है। थकान आना आरम्भ के क्षणों में पूर्व स्थिति में चले जाना—ये जीव के लक्षण है, जो खनिज धातु में भी पाए जाते हैं।

७. वनस्पति की चेतना और उसकी संवेदनशीलता चर्चा का विषय बनी हुई थी। उसमें क्रोध, अहंकार, कपट, लोभ, भय और मैथुन की प्रवृत्ति होती है। इसे स्वीकारना सहज सरल नहीं था। किन्तु वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा वनस्पति में इन सबका अस्तित्व प्रमाणित हो जाने पर वह विषय संदेहास्पद नहीं रहा। इस विषय में 'सीक्रेट लाइफ ऑफ प्लान्ट्स' पुस्तक पठनीय है।

८. जैन आगमों की गणना की परम कोटि का उल्लेख है। उसकी संज्ञा है—शीर्ष प्रहेलिका। उसके समक्ष आज की संख्या बहुत छोटी होती है।

१ देखें पृ० ५४।

एक अंक पर दो सौ चालीस शून्य लगाने से वह संख्या बनती है। वह उत्कृष्ट संख्या है। जब विज्ञान ने सूक्ष्म गणित की बातें प्रस्तुत कीं, तब शीर्षप्रहेलिका की सत्यता स्वयं प्रस्थापित हो गई और उसे बहुत महत्त्वपूर्ण खोज माना गया।

९. जैन साहित्य में उल्लेख है कि एक घंटा है अवस्थित। वह एक स्थान पर बजता है। उसकी ध्वनि से प्रकंपित होकर दूर-दूर हजारों-लाखों घंटे बज उठते हैं। असंख्य योजन तक यह घटना घटित होती है। लोगों ने इस उल्लेख को कपोल-कल्पित बताया। किन्तु जब विज्ञान ने ध्वनि-तरंगों की द्रुतगामिता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, तब यह सत्य भी प्रमाणित हो गया। आज यह ध्वनि-विज्ञान महानतम उपलब्धि माना जाता है।

जब तक व्यक्ति सूक्ष्म पर्यायों की ओर प्रस्थान नहीं करता तब तक सचाई को नहीं पा सकता। जब तक अनेकान्त की दृष्टि का विकास नहीं होता तब तक उस दिशा में प्रस्तान नहीं हो सकता।

एस्ट्रल प्रोजेक्शन और समुद्घात

एक हब्शी महिला है। उसका नाम है—लिलियन। वह अतीन्द्रिय प्रयोगों में दक्ष है। उससे पूछा गया—तुम अतीन्द्रिय घटनाएं कैसे बतलाती हो? उसने कहा, 'मैं एस्ट्रल प्रोजेक्शन के द्वारा उन घटनाओं को जान लेती हूं। प्रत्येक प्राणी में प्राणधारा होती है। उसे एस्ट्रल बॉडी भी कहा जाता है। एस्ट्रल प्रोजेक्शन के द्वारा मैं प्राण शरीर से बाहर निकल कर, जहां घटना घटित होती है, वहां जाती हूं और सारी बातें जानकर दूसरों को बता देती हूं।'

विज्ञान द्वारा सम्मत यह एस्ट्रल प्रोजेक्शन की प्रक्रिया जैन परंपरा की समुद्घात प्रक्रिया है। समुद्घात का यही तात्पर्य है कि जब विशिष्ट घटना घटित होती है तब व्यक्ति स्थूल शरीर से प्राणशरीर को बाहर निकाल कर घटन वाली घटना तक पहुंचाता है और घटना का पूरा ज्ञान कर लेता है। यह प्राणशरीर बहुत दूर तक जा सकता है। इसमें अपूर्व क्षमताएं हैं।

समुद्घात सात है—वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात। जब व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है तब उसका प्राण शरीर बाहर निकल जाता है। यह कषाय समुद्घात है। जब आदमी के मन में अति लालच आता है तब भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार भयंकर बीमारी में, मरने की अवस्था में भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। आज के विज्ञान के सामने ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई हैं।

एक रोगी आपरेशन थियेटर में टेबल पर लेटा हुआ है। उसका मेजर

ऑपरेशन होना है। डॉक्टर ऑपरेशन कर रहा है। उस समय उस व्यक्ति में वेदना समुद्घात घटित हुई। उसका प्राण-शरीर स्थूल शरीर से निकलकर ऊपर की छत के आसपास स्थिर हो गया। आपरेशन चल रहा है और वह रोगी अपने प्राण शरीर से सारा ऑपरेशन देख रहा है। ऑपरेशन करते-करते एक बिन्दु पर डॉक्टर ने गलती की। तत्काल ऊपर से रोगी ने कहा, डॉक्टर! यह भूल कर रहे हो। डॉक्टर को पता नहीं चला—कौन बोल रहा है। उसने भूल सुधारी। वेदना कम होते ही रोगी का प्राण शरीर पुनः स्थूल शरीर में आ जाता है। प्रोजेक्शन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। होश आने पर रोगी ने डॉक्टर से कहा, छत पर लटकते हुए मैंने पूरा ऑपरेशन देखा है।

शरीर-प्रक्षेपण की अनेक प्रक्रियाएं हैं। इन प्रक्रियाओं में प्राण-शरीर बाहर चला जाता है।

उस हब्शी महिला लिलियन ने कहा—'मैं एस्ट्रल प्रोजेक्शन के द्वारा यथार्थ बात जान लेती हूं। मैं लोगों के आभामंडल में प्रविष्ट होकर उनके चरित्र का वर्णन कर सकती हूं। किन्तु शराबी आदमी के चरित्र को मैं नहीं जान सकती, क्योंकि शराबी आदमी का आभामंडल अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह इतना धुंधला हो जाता है कि उसके रंगों का पता ही नहीं चलता।'

हमारी भावनाएं, हमारे आचरण आभामंडल के निर्माता हैं। जब अच्छी भावनाएं और पवित्र आचरण होता है तब आभामंडल बहुत सशक्त और निर्मल होता है, जब भावधारा मलिन होती है और चरित्र भी मलिन होता है तब आभामंडल धूमिल विकृत और दूषित हो जाता है।

सोवियत रूस के इलेक्ट्रानिक विशेषज्ञ सेमयोन किर्लियान तथा उनकी वैज्ञानिक पत्नी वेलेन्टिना ने फोटोग्राफी की एक विशेष विधि का आविष्कार किया। उस विधि द्वारा प्राणियों और पौधों के आस-पास होने वाले सूक्ष्म विद्युतीय गतिविधियों का छायांकन किया जा सकता है। जब एक पौधे से तत्काल तोड़ी गयी पत्ती की सूक्ष्म गतिविधियों की फिल्म खींची गयी तो आश्चर्यकारी दृश्य सामने आये। पहले चित्र में पत्ती के चारों ओर स्फुलिंगों, झिलमिलाहटों और स्पदों ज्योतियों के मंडल दिखाई दिये। दस घंटे बाद लिए गए छाया-चित्रों में ये आलोक-मंडल क्षीण होते दिखाई दिये। अगले दस घंटों के छाया-चित्रों में आलोक-मंडल पूरी तरह क्षीण हो चुके थे। इसका तात्पर्य है कि पत्ती की तब मौत हो चुकी थी।

किर्लियान दम्पत्ति ने एक रुग्ण पत्ती की फिल्म उस विशेष विधि से खींची। उसमें आलोक-मंडल प्रारंभ से ही कम था। वह शीघ्र ही समाप्त हो गया। किर्लियान दम्पत्ति ने उस विशेष विधि द्वारा अत्यंत निकट के मानव शरीर के छाया-चित्र खींचे। उन छाया-चित्रों में गर्दन, हृदय, उदर आदि

अवयवों पर विभिन्न रंगों के सूक्ष्म धब्बे दिखाई दिये। वे उन अवयवों से विसर्जित होने वाली विद्युद्-ऊर्जाओं के द्योतक थे।

लेश्या वनस्पति के जीवों में भी होती है। पशु-पक्षी तथा मनुष्य में भी होती है। इसलिए आभामंडल भी प्राणीमात्र में होता है।

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिकों ने यह तथ्य प्रगट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रों को चुम्बकीय क्षेत्र नही बना लेता, एलेक्ट्रो-मेग्नेटिक फील्ड नही बना लेता तब तक उसमे पारदर्शन की क्षमता नही जाग सकती। चैतन्य-केन्द्रों और चक्रो की सारी कल्पना का मूल उद्देश्य है—शरीर को विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र बना लेना। सहिष्णुता और समभाव वृद्धि के प्रयोग उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास—इन सारी प्रक्रियाओ से शरीर के परमाणु विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र मे बदल जाते है और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है।

आज के पेरासाइकोलॉजिस्ट टैलीपैथी का प्रयोग करते हैं। टैलीपैथी का अर्थ है—विचार-संप्रेषण। एक आदमी कोसों की दूरी पर है। उससे बात करनी है कैसे हो सकती है? आज तो टेलीफोन और वायरलेस का साधन है। घर बैठा आदमी हजारों कोसो पर रहने वाले अपने व्यक्तियो से बात कर लेता है। प्राचीन काल मे ये साधन नही थे, तो दूर स्थित व्यक्तियो से बात कैसे करते थे? टैलीपैथी शब्द भी नही था। यह अंग्रेजी का शब्द है। उस समय विचारों को हजारो कोस दूर भेजना विचार-सप्रेषण की प्रक्रिया से होता था। जैसे एक योगी है। उसका शिष्य पाच हजार मील की दूरी पर है। योगी उसे कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है। उस समय विचार-सप्रेषण की साधना की जाती थी जिससे विचारों का आदान-प्रदान हो जाता था।

अतीन्द्रिय ज्ञान

अभी परामनोविज्ञान परिचित्त बोध, दूरदृष्टि, पूर्वाभास तथा भूताभास रूपो मे अतीन्द्रिय ज्ञान की खोज कर रहा है। पर असल मे यह सारा प्रामाण्य मन के आस-पास ही घूम रहा है। अतीन्द्रिय ज्ञान तो मन से भी ऊपर है। ज्ञान की पराकाष्ठा तो अनन्त का स्पर्श है। वह पढ़ने-लिखने, यंत्रों या मनःकल्पनाओं से प्राप्त नही होता। उस अनन्त ऊर्जा का उद्घाटन तो मनुष्य अपने साधना-बल से ही कर सकता है। अभी हम अनन्त की बात न भी करे तो भी विज्ञान ने इन्द्रिय-बोध की जो संभावनायें व्यक्त की हैं वे भी बहुत आश्चर्यकारी है। वैज्ञानिको का मानना है कि मनुष्य के मस्तिष्क मे इतने न्यूरोन-कनेक्शन है कि उन सारों की गणना की जाये तो एक के अंक

पर ८०३ शून्य लगाने पड़ेंगे। इस गणना की गुरुता का बोध हम इस तथ्य से अच्छी तरह से कर सकते है कि पूरी पृथ्वी पर परमाणुओं की सख्या एक के अक पर १०८ शून्य लगाने जितनी है। १०८ और ८०३ के अन्तर को सहज ही समझा जा सकता है। मनुष्य आज अपने मस्तिष्क मे अधिक से अधिक आठ दस खरब न्यूरोन कनेक्शनों का उपयोग कर रहा है। ऐसी स्थिति में खरबो-खरबों अपार न्यूरोन-कनेक्शन निष्क्रिय पड़े है। यदि उनका ठीक से समायोजन किया जा सके तो मनुष्य कितनी क्षमता प्राप्त कर सकता है, उसकी कल्पना हमे सहज ही हो सकती है।

(II) प्राण-शक्ति का आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक महत्त्व

शरीर-शास्त्र

शरीर-शास्त्री नाडियों को जानता है, नाड़ी-सस्थान को जानता है, ग्रंथियो को जानता है, शरीर के एक-एक अवयव को जानता है, छोटी-से-छोटी धमनी को जानता है रक्त के प्रवाह को जानता है, रक्त-सचार को जानता है और रक्त के द्वारा होने वाली क्रियाओ को जानता है।

एक मशीन है—बहुत विलक्षण है। एक साथ २५० फोटो लेती है शरीर का। एक्स-रे के सामने आदमी खडा होता है, एक फोटो आता है। उस मशीन म २५० फोटो आते है। और छोटी-से छोटी शिरा का फोटो उसम अकित हो जाता है। एक मशीन और है जो रक्त की जितनी क्रियाए, जितने फक्शन होते है, उन सारे कार्यों का विश्लेषण कर देती है। आज का डाक्टर इतना विलक्षण काम करके दिखाता है कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। इतना जान लेने पर भी, समूचे शरीर को चीर-फाड़कर एक-एक अवयव सामने रख देने पर भी क्या शरीर के पूरे रहस्यो को जान लिया गया? नही जाना जा सका। आज के एनोटॉमी और फिजिओलॉजी के बडे-बडे विद्वान् और मर्मवेत्ता कहते है कि अभी तक मस्तिष्क के रहस्यो को नही जाना जा सका है। हजारवा भाग भी नही जाना जा सका है। लघु मस्तिष्क इतने रहस्यो से भरा है कि उसको हम पूर्ण रूप मे अभी तक नही जान पाए है। पिनियल, पिच्यूटरी ग्लैण्ड के रहस्यो को पूरा नही जाना जा सका है। नाडी-तत्र और ग्रथि-तत्र मे इतने रहस्य है कि आज भी उनका कोई पता नही चलता।

डॉक्टर लोग जानते है, शरीरशास्त्री जानते है कि एड्रीनल ग्रथि का अधिक स्राव होने से उत्तेजना बढ जाएगी, गुस्सा बढ जाएगा, वासना बढ़ जाएगी और वृत्तियां उभर जाएगी। इस बात का पता है उनको, किन्तु इनके स्राव को कैसे नियत्रित किया जा सकता है, पिनियल और पिच्यूटरी के स्राव को कैसे नियत्रित किया जा सकता है, थाइराइड के स्राव पर कैसे

कंट्रोल किया जा सकता है, वे नहीं जानते। योग के आचार्यों ने शरीर के बारे मे इतनी सूक्ष्म खोजें की थीं, अध्यात्म के आचार्यों ने इस शरीर को इतनी गहराई के साथ पढ़ा था कि उन्होंने जिन रहस्यो का उद्घाटन किया वे रहस्य आज भी शरीरशास्त्र के माध्यम से उद्घाटित नहीं हो पा रहे हैं।

सूक्ष्म का साक्षात्कार

हम व्यक्त अवस्थाओं को पकड़ते हैं, स्थूल रूपान्तरणों को जानते है। उनको हम स्थूल भाषा के माध्यम से स्थूल अभिव्यक्ति देते है। किन्तु जब सूक्ष्म जगत् को जानें तो वहा का लेखा-जोखा इतना विचित्र है कि वहां भाषा भी समाप्त हो जाती है और सभी शब्दकोशो के सारे शब्द अकर्मण्य बन जाते है। उनको अभिव्यक्ति देने वाला कोई शब्द प्राप्त नहीं होता।

इतना होने पर भी हम सूक्ष्म जगत् की चर्चा इसलिए कर रहे है कि हम सूक्ष्म परिवर्तनो को जान सकें और सूक्ष्म परिवर्तन की प्रक्रिया को पकड़ सकें।

सबसे पहले हमे यह स्थूल शरीर दिखाई देता है। यह शरीर केवल स्थूल पदार्थों का ही पिण्ड नही है। इस शरीर के साथ सूक्ष्म जगत् का घना सम्बन्ध है। हम बाहर की चमड़ी को देखते है। हमारा उससे सम्बन्ध जुड़ जाता है और हम वहो अटक जाते है। यदि कोई व्यक्ति चमडी को या अन्य अवरोधकों को पार कर भीतर प्रवेश करे तो उसे ज्ञात होगा कि भीतर में सूक्ष्म जगत् इतना विराट् है कि जिसकी कल्पना नही की जा सकती।

जितने पुराने ग्रन्थ है, उनमे सांकेतिक भाषा बहुत है, स्पष्टताएं कम है। हमने विज्ञान के माध्यम से जो कुछ बातें समझी है, वे बातें पुराने ग्रन्थो के आधार पर नही समझी जा सकतीं। फिर चाहे वह पातजल योग दर्शन हो या अन्य कोई योग का ग्रन्थ हो।

शरीर के विषय मे ध्यानी योगियों ने बहुत चर्चाए की हैं, पर वर्तमान शरीर-शास्त्रीय चर्चाओं के परिप्रेक्ष्य मे वे चर्चाएं अपर्याप्त-सी लगती है। आज शरीर-शास्त्र ने शरीर के इतने तथ्य अनावृत किए हैं, जिनका अनावरण प्राचीन काल में नहीं हुआ था। जब से जीवाणु का सिद्धान्त, जीवन और क्रोमोसोम का सिद्धान्त, डी० एन० ए० आदि रसायनों का सिद्धान्त सामने आया है, उससे सूक्ष्म जगत् की अद्भुत परिकल्पनाएं प्रस्तुत हुई है। पचीस हजार जीवाणु ज्ञात कर लिए गए हैं। इन जीवाणुओं के 'जीन' के माध्यम से विलक्षण कार्य सम्पन्न किए जा सकते है।

आज जीवन की ऐसी शृंखला ज्ञात कर ली गई है, जिससे आदमी को बदला जा सकता है, स्वभाव और जीवन को बदला जा सकता है, नस्ल को बदला जा सकता है। 'बायोटेकनोलॉजी' और 'जीन-इंजीनियरिंग' के माध्यम से नयी-नयी अवधारणाएं सामने आने लगी हैं। ये जानकारियां प्राचीन ग्रंथों में बहुत कम हैं। यह एक सर्वथा नया क्षेत्र उद्घाटित हुआ है।

जीन के रूपान्तरण का अर्थ होता है 'पूरे व्यक्तित्व का रूपान्तरण। एक जीन बदलता है और उस आनुवंशिकी यांत्रिकी के द्वारा पूरी जाति का स्वभाव ही बदल जाता है। यह परिवर्तन की बात सर्वथा नयी नहीं है, किन्तु उसकी विशद व्याख्या और विशद जानकारी आज हमें उपलब्ध हैं। इससे हम अधिक लाभान्वित हो सकते हैं। केवल दृष्टिकोण का अन्तर होता है। एक शरीरशास्त्री और मानवशास्त्री परिवर्तन की बात भौतिक सीमा के अन्तर्गत सोचता है और एक अध्यात्मशास्त्री उसे भाव-तरंगों की सीमा में ले जाता है।

यह शरीर कुछेक रसायनों से निष्पन्न पिण्ड है। प्राचीन भाषा में इसे सप्तधातुमय माना जाता है। आज यह मान्यता बदल चुकी है। आज का शरीरशास्त्री शरीर को धातु, लवण, क्षार और रसायनों से बना हुआ मानता है। इसकी प्रक्रिया बहुत जटिल है, गहरी है। इस शरीर में एन्जाइम्स, रसायन, हारमोन्स काम करते हैं, इनकी सक्रियता से आदमी के व्यक्तित्व का, भाव का और विचार का निर्माण होता है। इस पूरी प्रक्रिया को समझ लेने के बाद साधना की बात ठीक समझ में आ जाती है। कहना यह चाहिए कि जिस व्यक्ति ने शरीर को समझने का प्रयत्न नहीं किया, वह न आत्मा को समझ सकता है और न परमात्मा को समझ सकता है। वह मनुष्य और प्राणी-जगत् के सम्बन्ध को भी नहीं समझ सकता।

शरीर की शक्तियों का दोहन

हम शरीर की शक्तियों को दोहना नहीं जानते। हमारे शरीर के भीतर कितनी बड़ी शक्तियां हैं! एक आदमी को कहा जाए कि तुम एक आसन में तीन घंटे बैठ जाओ। अरे! कैसे बैठा जा सकता है, कभी नहीं बैठा जा सकता। शरीर के भीतर इतनी ताकत है कि तीन घंटे नहीं, तीन महीने तक एक स्थान पर बैठा जा सकता है। हम अपनी शक्ति का उपयोग करना नहीं जानते। हमें अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है। हमें अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं है।

मैंने देखा, दो वर्ष पहले एक शिविर था। एक भाई हैदराबाद से आया। वह युवक था, पढ़ा-लिखा था। उसने कहा—मैं ध्यान तो कर सकता हूं, पर मेरी कठिनाई यह है कि आधा घंटा भी एक आसन में नहीं बैठ

सकता। मैंने कहा—चिंता मत करो। पांच-चार दिन बीते। शिविर का छठा दिन, चैतन्य केन्द्रों का ध्यान किया गया। दर्शन केन्द्र पर ध्यान टिका, गहराई आयी, आधा घंटा बीता, एक घटा बीता, दो घटे बीत गये, उसे पता ही नही कि कहां बैठा हूं, कब बैठा हू। देशातीत, कालातीत और शरीरातीत बन गया। पता ही नही चला। ये दो घटा बीत जाने के बाद एक भाई ने आकर मुझे कहा, वह तो वैसा-का-वैसा बैठा है। मैं गया और जाकर उसको सबोधित किया तब अकस्मात् जैसे वह कोई नीद में से जागा हो, उठा और आकर पैर पकड़ लिए। उसने कहा—मैं तो आज इस स्थिति में चला गया कि दुनिया क्या है और मैं कौन हू, कुछ भी भान नही रहा। अपूर्व स्थिति बनी। आनन्दमय, केवल आनन्दमय।

हमारी शक्ति असीम है, यदि हम उसका उपयोग करना जाने। हमारे शरीर में शक्ति के तीन स्थान है—गुदा, नाभि और कंठ। एक नीचे, एक बीच मे और एक ऊपर। नीचे का लोक, मध्य का लोक और ऊपर का लोक। ये तीन हमारे शक्ति के केन्द्र है। होता यह है कि शक्ति ऊपर से नीचे को आ रही है। जबकि होना यह चाहिए कि शक्ति नीचे से ऊपर की ओर जाए। आचार्यो ने, तीर्थंकरो ने कहा कि इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्त मत बनो। क्या उन्हे कोई द्वेष था? क्या घृणा थी? क्या कोई बुरा लगता था? भला खाना किसको अच्छा नहीं लगता! इन्द्रियों के सारे विषय बहुत अच्छे लगते है, किसी को बुरे नही लगते। किन्तु उन्होंने देखा कि इन इन्द्रियो के माध्यम से हमारी बड़ी-से-बड़ी शक्ति नीचे के स्रोत से बाहर जा रही है और आदमी शक्ति से खाली हो रहा है और शक्ति-शून्य होकर एक प्रताड़ना का जीवन जी रहा है। इसलिए उन्होने कहा कि संयम करो। आज सयम को शायद लोग मान बैठें है कि यह दमन है, नियंत्रण है। आज का मनोवैज्ञानिक कहता है कि दमन नही होना चाहिए। आज का प्रबुद्ध आदमी कहता है नियंत्रण की कोई जरूरत नही। अच्छी बात है, दमन की कोई जरूरत नही है। नियंत्रण की कोई जरूरत नही है। कुछ भी आवश्यक नहीं तो क्या हम एक ऐसे दरवाजे को खोल दें, ऐसी खिड़की को खोल दें, जिसमे से भीतर में सिमटी हुई सारी शक्ति बाहर चली जाए? मुझे लगता है, यदि हम भीतर के महत्त्व को समझ पाते, शरीर का मूल्य कर पाते तो यह नही होता कि नीचे का नाला तो खुला रहे और ऊपर का नाला बन्द हो जाए। दो स्रोत हैं हमारे शरीर मे। शक्ति और आकर्षण के ये दो केन्द्र हैं। एक है काम की शक्ति और दूसरी है ज्ञान की शक्ति। ज्ञान की शक्ति ऊपर रहती है, काम की शक्ति नीचे रहती है। नीचे के स्रोत में कामनाएं, वासनाएं, इच्छाएं, हिंसा, असत्य, चोरी की भावना—ये सारी वृत्तियां पैदा होती है। एक है ज्ञान का केन्द्र हमारे सिर में, जहा सारी निम्न वृत्तियां

समाप्त हो जाती हैं। चेतना का विकास, ज्ञान का विकास, बुद्धि का विकास, उदारता, परमार्थ—यह महान् चेतना जहां पैदा होती है, वह है ऊपर का केन्द्र—सिर। आवश्यकता इस बात की थी कि हम शरीर का मूल्यांकन करते और नीचे की शक्ति को ऊपर की शक्ति के साथ मिलाकर महान् बना देते। किंतु ऐसा नहीं हुआ।

हमारे शरीर में बिजली है। बिजली नहीं होती है तो आदमी शून्य-सा हो जाता है। शरीर निकम्मा, इन्द्रियां निकम्मी, बुद्धि निकम्मी, सब कुछ निकम्मा-सा बन जाता है। बिजली थोड़ी होती है तब टिमटिमाता है दीप। और जब बिजली शरीर में पूरी होती है तो आदमी जगमगाने लग जाता है।

हमारे शरीर की विद्युत, हमारी प्राण-ऊर्जा जितनी शक्तिशाली बनती है, उतना शक्तिशाली बनता है हमारा जीवन। शरीर का आध्यात्मिक मूल्यांकन है उस ऊर्जा की सुरक्षा करना, ऊर्जा को विकसित करना और ऊर्जा के स्रोत को मोड़कर नीचे से ऊपर की ओर ले जाना। साधना की समूची पद्धति, अध्यात्म का समूचा मार्ग ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण का मार्ग है।

शरीर बहुत मूल्यवान् है। मांसपेशियों का भी आध्यात्मिक मूल्य है। रक्त, नाड़ी-संस्थान और ग्रन्थियों का भी आध्यात्मिक मूल्य है। ऊपर का स्रोत खुलता है तो प्राणशक्ति का प्रवेश होता है और नीचे का स्रोत खुला रहता है तो प्राणशक्ति का निर्गमन होता है, बिजली बाहर जाती है और आदमी शक्तिशून्य हो जाता है।

अध्यात्म-विज्ञान में शरीर का महत्त्व

जो इस स्थूल शरीर से परे है, वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। किन्तु हमारे शरीर में कुछ ऐसे तत्त्व है, जिनके विषय में चिंतन और अनुभव करते-करते हम अपनी बुद्धि और चिद्-शक्ति के द्वारा इन्द्रियों की सीमा से परे जाकर सूक्ष्म शरीर की सीमा में प्रविष्ट हो सकते है। उनमें एक तत्त्व है प्राण-विद्युत। अग्निदीपन, पाचन, शरीर का सौष्ठव और लावण्य ओज—ये जितनी आग्नेय क्रियाए है, ये सारी सप्त धातुमय इस शरीर की क्रियाएं नहीं है। इस स्थूल शरीर के भीतर तेज का एक शरीर और है, वह है विद्युत शरीर, तैजस शरीर। वह सूक्ष्म शरीर है। वही इस स्थूल शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करता है। उस सूक्ष्म शरीर में से विद्युत् का प्रवाह आ रहा है और उस विद्युत्-प्रवाह में सब कुछ संचालित हो रहा है। उस सूक्ष्म शरीर को प्राण शरीर भी कहा जाता है। यह शरीर प्राण का विकिरण करता है और उसी प्राण-शक्ति से क्रियाशीलता आती है।

श्वास, मन, इन्द्रियां, भाषा, आहार और विचार—ये सब प्राण-शक्ति के ऋणी हैं। उससे ही ये सब संचालित होते है, क्रियाशील होते हैं। प्राणशक्ति तैजस शरीर से निःसृत है।

इसी सदर्भ मे एक प्रश्न और होता है कि वह तैजस शरीर किसके द्वारा संचालित है? वह प्राणधारा को प्रवाहित अपने आप कर रहा है या किसी के द्वारा प्रेरित होकर कर रहा है? यदि अपने आप कर रहा है तो तैजस शरीर जैसा मनुष्य मे है वैसा पशु मे भी है, पक्षियों मे भी है और छोटे-से-छोटे प्राणी मे भी है। एक भी प्राणी ऐसा नही है, जिसमें तैजस शरीर, सूक्ष्म शरीर न हो। वनस्पति मे भी तैजस शरीर है, प्राण-विद्युत् है। वनस्पति मे भी ओरा होता है। आभामडल होता है। वह आभामंडल इस स्थूल शरीर से निष्पन्न नही है। आभामडल (ओरा) उस सूक्ष्म शरीर—तैजस शरीर का विकिरण है। प्रश्न होता है, यह रश्मियों का विकिरण क्यों होता है? यदि तैजस शरीर का कार्य केवल विकिरण करना ही हो तो मनुष्य इतना ज्ञानी, इतना शक्तिशाली और इतना विकसित तथा एक अन्य प्राणी इतना अविकसित क्यों? यह सब तैजस शरीर का कार्य नही है। तैजस शरीर के पीछे भी एक प्रेरणा है सूक्ष्मतर शरीर की। वह सूक्ष्मतर शरीर है कर्म-शरीर। जिस प्रकार के हमारे अर्जित कर्म और संस्कार होते है, उनका जैसा स्पदन होता है, उन स्पदनो से स्पदित होकर तैजस शरीर अपना विकिरण करता है। तैजस शरीर जिस प्रकार की प्राणधारा प्रवाहित करता है, वैसी प्रवृत्ति स्थूल शरीर मे हो जाती है।

तीन शरीरों की एक शृंखला है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्मतर शरीर। स्थूल शरीर यह दृश्य शरीर है। सूक्ष्म शरीर है तैजस शरीर और सूक्ष्मतर शरीर है कर्म-शरीर, कार्मण शरीर। प्राणी की मूलभूत उपलब्धिया तीन है—चेतना (ज्ञान), शक्ति और आनन्द। चेतना का तारतम्य—अविकास और विकास, शक्ति का तारतम्य—अविकास और विकास, आनन्द का तारतम्य—अविकास और विकास—यह सारा इन शरीरों के माध्यम से होता है।

कुंडलिनी : स्वरूप और जागरण

कुंडलिनी-जागरण का प्रश्न शरीरों के साथ जुड़ा हुआ है। तीन शरीरों से जो मध्य का शरीर है, तैजस शरीर (सूक्ष्म शरीर), उसकी एक क्रिया का नाम है 'तेजोलब्धि'। हठयोग तंत्र मे इसे 'कुंडलिनी' कहा गया है। कहीं-कहीं इसे 'चित्‌शक्ति' कहा जाता है। जैन साधना-पद्धति में इसे 'तेजोलब्धि' कहा जाता है। नाम का अन्तर है। कुडलिनी के अनेक नाम हैं। हठयोग में इसके पर्यायवाची नाम तीस गिनाए गए हैं। उनमें एक नाम

है 'महापथ'। जैन साहित्य में 'महापथ' का प्रयोग मिलता है। कुंडलिनी के अनेक नाम हैं। भिन्न-भिन्न साधना-पद्धतियों में यह भिन्न-भिन्न नाम से पहचानी गयी है। यदि इसके स्वरूप-वर्णन में की गयी अतिशयोक्तियों को हटाकर इसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो इतना ही फलित निकलेगा कि यह हमारी विशिष्ट प्राणशक्ति है। प्राणशक्ति का विशेष विकास ही कुंडलिनी का जागरण है। प्राणशक्ति के अतिरिक्त, तैजस शरीर के विकिरणों के अतिरिक्त कुंडलिनी का अस्तित्व वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध नहीं हो सकता। उनके प्रयास में कुंडलिनी का अस्तित्व प्रमाणित होता है, पर होता है वह सामान्य शक्ति के विस्फोट के रूप में। वह कुछ ऐसा आश्चर्यकारी तथ्य नहीं है, जिसे अमुक योगी ही प्राप्त कर सकते है या जिसे अमुक-अमुक योगियों ने ही प्राप्त किया है। यह सर्वसाधारण है। कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जिसकी कुडलिनी जागृत न हो। वनस्पति के जीवों की भी कुडलिनी जागृत है। हर प्राणी की कुडलिनी जागृत होती है। यदि वह जागृत न हो तो वह चेतन प्राणी नही हो सकता। वह अचेतन होता है। जैन आगम ग्रन्थों मे कहा गया—चैतन्य (कुडलिनी) का अनन्तवां भाग सदा जागृत रहता है। यदि यह भाग भी आवृत्त हो जाए तो जीव अजीव बन जाए, चेतन अचेतन हो जाए। चेतन और अचेतन के बीच यही तो एक भेद-रेखा है।

प्रत्येक प्राणी की कुडलिनी यानी तैजस शक्ति जागृत रहती है। अतर होता है मात्रा का। कोई व्यक्ति विशिष्ट साधना के द्वारा अपनी इस तैजस शक्ति को विकसित कर लेता है और किसी व्यक्ति को अनायास ही गुरु का आशीर्वाद मिल जाता है तो साधना मे तीव्रता आती है और कुडलिनी का अधिक विकास हो जाता है। वह अनुभव आगामी यात्रा मे सहयोगी बन सकता है। बनता है यह जरूरी नही है। गुरु की कृपा ही क्यो, मैं मानता हू कि जिस व्यक्ति का तैजस शरीर जागृत है, उस व्यक्ति के सान्निध्य मे जाने मे भी दूसरे व्यक्ति की कुडलिनी को (तैजस शरीर को) उत्तेजना मिल जाती है और वह अर्द्धजागृत कुडलिनी पूर्ण जागृत हो जाती है। प्रश्न है विद्युत्-प्रवाहो का। 'क' और 'ख' दो व्यक्ति है। 'क' के विद्युत-प्रवाह बहुत सक्रिय है। 'ख' के विद्युत् प्रवाह कमजोर है। यदि 'ख' 'क' के पास जाता है तो 'क' के विद्युत्-प्रवाह 'ख' को प्रभावित करेंगे और उसमे एक प्रकार के विद्युत् स्पदन पैदा हो जाएगे।

गुरु-कृपा का तात्पर्य है उस व्यक्ति का सान्निध्य जिसका तैजस जागृत है। गुरु का अर्थ परम्परागत गुरु से नही है। जिस व्यक्ति की तैजस शक्ति विकसित है, उसके पास जाने से, उसके आशीर्वाद प्राप्त करने मे, उसके हाथों का मस्तिष्क पर स्पर्श प्राप्त होने से या पृष्ठरज्जु पर

उसका स्पर्श मिलने से कुंडलिनी-शक्ति को जगाने में सहयोग मिलता है। उसको अनुभव होने लग जाता है। वह क्षणिक अनेभव विद्युत्-जागरण जैसा होता है। गुरु-कृपा से मिलने वाला यह क्षणिक अनुभव या जागरण क्षणिक ही होता है, स्थायी नहीं होता। एक क्षण में अपूर्व अनुभव हुआ और दूसरे क्षण में वह समाप्त हो गया। इलैक्ट्रोड लगाने से क्षणिक अनुभव होता है और से हटा देने से वह अनुभव भी समाप्त हो जाता है। वैसा ही यह अनुभव ोता है। अन्ततः कुंडलिनी का जागरण साधक को स्वयं ही करना पड़ता है। उसे प्रयास करना होता है। गुरु-कृपा का इतना-सा लाभ होता है कि एक बार जब अनुभव हो जाता है, फिर चाहे वह अनुभव क्षणिक ही क्यों न हो, वह आगे के अनुभव को जगाने के लिए प्रेरक बन जाता है।

कुंडलिनी-जागरण के मार्ग

प्रेक्षाध्यान से कुंडलिनी जाग सकती है। उसको जगाने के और भी अनेक मार्ग है, अनेक उपाय है। संगीत के माध्यम से भी उसे जगाया जा सकता है। संगीत एक सशक्त माध्यम है कुंडलिनी के जागरण का। व्यायाम और तपस्या से भी वह जाग जाती है। भक्ति, प्राणायाम, व्यायाम, उपवास, संगीत, ध्यान आदि अनेक साधन है, जिनके माध्यम से कुडलिनी जागती है। ऐसा भी होता है कि पूर्व संस्कारों की प्रबलता से भी कुडलिनी जागृत हो जाती है और यह आकस्मिक होता है। व्यक्ति कुछ भी प्रयत्न या साधना नहीं कर रहा है, पर एक दिन उसे लगता है कि उसकी प्राणशक्ति जाग गयी। इसलिए कोई निश्चित नियम नही बनाया जा सकता कि अमुक के द्वारा ही कुंडलिनी जागती है और अमुक के द्वारा नहीं जागती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति गिरा, मस्तिष्क पर गहरा आघात लगा और कुंडलिनी जाग गयी। उसकी अतीन्द्रिय चेतना जाग गयी। कुडलिनी के जगाने के अनेक कारण हैं। औषधियों के द्वारा भी कुंडलिनी जागृत होती है। अमुक-अमुक वनस्पतियों के प्रयोग से कुंडलिनी के जागरण में सहयोग मिलता है। तिब्बत में तीसरे नेत्र का उद्घाटन में वनस्पतियो का प्रयोग भी किया जाता था। पहले शल्यक्रिया करते, फिर वनौषधियों का प्रयोग करते थे। औषधियों का महत्त्व सभी परम्पराओं में मान्य रहा है। प्रसिद्ध सूक्त है— **अचिन्त्यो मणिमंत्रौषधीनां प्रभावः**—मणियों, मंत्रों और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। मत्रो के द्वारा भी कुंडलिनी को जगाया जा सकता है तथा विविध मणियों, रत्नों के विकिरणों के द्वारा और औषधियो के द्वारा भी उसे जागृत किया जा सकता है।

प्राण-शक्ति की विद्युत् का चमत्कार

एक अंगुली हिलती है। कितना बड़ा चमत्कार है एक अंगुली का

हिलना, किंतु इसे चमत्कार मानते ही नहीं हैं। क्योकि यह बेचारी रोज हिलती है। अगर कभी-कभी हिलती तो यह भी बडा चमत्कार होता। इसे कोई चमत्कार नही मानते, किंतु जानने वाले जानते हैं कि एक अंगुली को हिलाने के लिए कितने बडे तंत्र का सहारा लेना पड़ता है। इतना बड़ा तंत्र शायद सरकार का भी नही है। पहले सोचते है, मस्तिष्क के ज्ञानतंतु सक्रिय होते हैं और फिर वे क्रियावाही ततुओ को निर्देश देते हैं। वह निर्देश वहां तक पहुंचता है तो अगुली हिलती है। बहुत छोटी-सी बात है, मैंने थोडे मे, एक मिनट मे कह दी। पर प्रक्रिया इतनी बडी है कि करने बैठें तो हजारों-हजारो कर्मचारी भी जीवन में पूरी नही कर सकते। मस्तिष्क की रचना बहुत विचित्र है। कोई वैज्ञानिक हमारे मस्तिष्क जैसे सूक्ष्म अवयवों का कम्प्यूटर बनाना चाहे तो आज की पूरी पृथ्वी भर जाए— इससे भी शायद ज्यादा बडा होगा। एक अगुली के हिलने मे कितनी क्रिया होती है, हम समझ ही नही पाते।

कायोत्सर्ग का मूल्य समझ मे नही आता किन्तु जो शरीर की क्रिया को जानता है, वह व्यक्ति समझ सकता है कि कायोत्सर्ग कितना मूल्यवान् है? कायगुप्ति का कितना मूल्य है? शरीर को स्थिर करने का कितना मूल्य है? हम इसको इस संदर्भ मे समझें कि एक अंगुली हिलती है, इसका मतलब है मन की शक्ति खर्च होती है चित्त की शक्ति खर्च होती है और पूरे शरीर मे जो काम करने वाली विद्युत् है, ऊर्जा है, प्राणशक्ति है, वह खर्च होती है। कायोत्सर्ग करने का अर्थ होता है कि बिजली खर्च नही होती, मन की शक्ति खर्च नही होती, शरीर की शक्ति एवं मस्तिष्क की शक्ति भी खर्च नही होती। सब भडार मे रिजर्व रह जाती है।

बहुत बार ऐसा होता है कि बल्ब लगे रहते है किन्तु प्रकाश गायब हो जाता है। हम शरीर को देखते है, शरीर की भी यही हालत है। शरीर पड़ा है, आखें, कान, नाक पूरे-के-पूरे अवयव हैं, किन्तु बिजली गायब हो गई।

पढ़ा होगा आपने, कुछ घटनाएं ऐसी होती है कि चिता में जलाने के लिए शव को लिटा दिया, वह बीच मे ही खडा हो गया। पोस्टमार्टम के लिए रोगी को सुलाया गया और डॉक्टर पोस्टमार्टम करने बैठा। अस्त्र लगा, वह खड़ा हो गया। आपको आश्चर्य होगा कि यह कैसे हो सकता है? बिजली गायब हो गई थी, फिर कोई ऐसा बटन दबा, बिजली आ गई और वह जी गया। लोगों ने समझ लिया कि यह तो भूत हो गया। यह बहुत बडा चमत्कार है हमारे प्राण की शक्ति का। आख मे देखने की ताकत नही, कान मे सुनने की शक्ति नही, जीभ मे रसास्वाद की अनुभूति नही यह सब जो करता है, भरता है शक्ति को, वह है प्राण। एक प्राण का प्रकाश आता है,

सब अपना-अपना काम करने लग जाते हैं।

मूल प्रश्न है प्राण का। प्राण सबसे बड़ा चमत्कार है। दुनिया में जितने चमत्कार होते हैं वे सब प्राण के द्वारा होते है। यदि प्राण की शक्ति न हो तो दुनिया में कोई चमत्कार नहीं। आज विद्युत् का युग है, वैज्ञानिक युग है। कहना चाहिए विद्युत् है इसलिए विज्ञान है। सब कुछ चल रहा है बिजली के आधार पर। वास्तव में विद्युत् का युग है। इतने बड़े चमत्कार आज की दुनिया में चलते हैं कि कमरा बन्द है, आदमी आया। जैसे ही कमरे में पैर रखा, दरवाजा अपने आप खुल जाता है। जैसे ही भीतर गया, कुर्सी पर बैठा, पंखा अपने आप चलने लग गया। कोई बटन दबाने की जरूरत नहीं। बल्ब जल उठा। यह तो आज की बात है। ईसवी सन् २००० के बाद ऐसा होगा कि आदमी भोजन की टेबल पर जाकर बैठेगा, अपने आप भोजन आ जाएगा। खा लिया, हाथ अपने आप धुल जाएंगे, रूमाल आ जाएगा, कुछ भी करने की जरूरत नहीं। बस पचाना पड़ेगा। बाकी सारा होगा बिजली के द्वारा।

हम इतने निकट हैं और हमारी प्राणशक्ति, प्राण-विद्युत् इतनी निकट है कि हम सही मूल्यांकन नहीं कर पाते। एक अवयव में से बिजली चली जाए, प्राण सिकुड़ जाए, तब पता चलता है कि क्या होता है? यह लकवा क्या है? प्राणशक्ति सिकुड़ गई, प्राणशक्ति चली गई तो लकवा हो गया। बिजली चली गई, बस! लकवा जब पूरे शरीर पर हो जाता है, व्यक्ति सारा नियन्त्रण खो बैठता है। व्यक्ति बिना मतलब रो देता है, बिना मतलब हंसता है, शरीर काम नहीं करता। एक प्रकार से मृत की भांति बन जाता है। इतना ही नहीं, यह तो केवल बाह्य व्यक्तित्व की चर्चा है। भीतर के व्यक्तित्व की चर्चा करें तो लगता है कि प्राण-शक्ति और विद्युत् एक बहुत बड़ा चमत्कार है। एक व्यक्ति बहुत अच्छा है और एक व्यक्ति बड़ा गुस्सैल है। एक व्यक्ति इतना सहनशील है कि हर बात सहन कर लेता है। एक व्यक्ति ईमानदार है तो दूसरा बड़ा बेईमान है। यह सारा क्यों होता है? यह प्राणशक्ति का खेल है। प्राणशक्ति के इतने दांव-पेच हैं कि वह सारे अनुभव कराती है। हमें सुख का अनुभव भी बिजली से होता है और दुःख का अनुभव भी बिजली से होता है। मनुष्य राजी भी बिजली से होता है और नाराज भी बिजली से होता है। वासना से लिप्त भी बिजली से होता है और वासना से मुक्त भी बिजली से होता है। यदि हमारी भीतर की सारी विद्युत् की गतिविधियों को, प्रवृत्तियों को हम जान लें और उनका ठीक नियोजन करना जान जाए तो बहुत सारी समस्याएं हल हो जाती हैं।

साधना का अर्थ है—अपनी प्राण-विद्युत् को जान लेना और उसका सही उपयोग करना।

विज्ञान की भाषा में एड्रीनल ग्रन्थि विकृत हो गई, आदमी चोर बन गया, अपराधी बन गया। आवश्यकता इस बात की है कि ज्ञान और विद्युत् दोनों साथ-साथ रहें। ज्ञान ऊपर रहता है और बिजली नीचे जाती है तो ज्ञान भी लज्जित होता है और आदमी अपराधी बन जाता है। ज्ञान का मूल्य तभी है कि ज्ञान और प्राण—दोनों साथ रहें, ज्ञान और प्राण का योग बराबर बना रहे।

प्रश्न है इस विद्युत् को कैसे बदला जाए? धर्म की पूरी प्रक्रिया, साधना की पूरी प्रक्रिया, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद—ये सारे उस बिजली के बदलने की पद्धति बतलाते हैं। कैसे बदला जाए? किस प्रकार बदला जाए? किस प्रकार का आचार, किस प्रकार का व्यवहार, किस प्रकार का चिन्तन, किस प्रकार का दर्शन हो, जिससे वह बिजली, प्राण-धारा बदले और प्राण-धारा चेतना के जागरण में सहयोगी बने- ये सब ज्ञातव्य हैं।

पांचों इन्द्रियों की शक्तियां, बोलने की शक्ति, सोचने की शक्ति, चलने-फिरने की शक्ति, श्वास लेने की शक्ति और जीने की शक्ति—ये सारी शक्तियां एक ही शक्ति के विभिन्न रूप हैं। मूलत: एक है—प्राणशक्ति। यदि शक्ति नहीं है तो चेतना का उपयोग नहीं होता। सुख-दुःख का अनुभव तो वास्तव मे शक्ति का ही अनुभव है, बिजली का ही अनुभव है। हमारी प्राणशक्ति, जो निरन्तर हमारे जीवन को संचालित करती है, वह पैदा होती है और खपती रहती है। हर कोशिका बिजली को पैदा करती है और काम चलाती है।

ज्ञान का विकास तब होता है जब प्राणशक्ति बढ जाती है। एक विशिष्ट ज्ञानी, जिसे परिभाषा मे चतुर्दशपूर्वी कहा जाता है, वह ४८ मिनट के भीतर इतनी बडी ज्ञानराशि का अर्जन कर लेता है, जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। वे इतनी बडी ज्ञान-राशि का केवल कुछ मिनटों में पुनरावर्तन कर लेते है। प्राणशक्ति की विशिष्टता के कारण ऐसा संभव हो सकता है। प्राण की शक्ति जैसे-जैसे सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति बढती जाती है। जो गणित एक आदमी अपने पूरे जीवन में कर सकता वह गणित कम्प्यूटर कुछ क्षणों में कर लेता है। चतुर्दशपूर्वी तो बडा कम्प्यूटर है। सबको इतना जल्दी दोहरा लेता है कि हर आदमी तो कर ही नहीं सकता। वह प्राणशक्ति को इतना विकसित कर लेता है कि उसमे अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है।

प्राण-शक्ति जैसे-जैसे सूक्ष्म होती चली जाती है वैसे-वैसे उसकी क्षमता और कार्यशक्ति भी बढती चली जाती है। ध्यान की साधना प्राण-शक्ति को सूक्ष्म करने की साधना है। श्वास की संख्या जितनी बढती है, शक्ति उतनी ही खर्च होती चली जाती है। श्वास की संख्या जितनी कम

होती है, उतनी ही शक्ति बढ़ती चली जाती है।

ध्यान करने वाला व्यक्ति, महाप्राण की साधना करने वाला व्यक्ति श्वास को सूक्ष्म करता चला जाता है। एक मिनट में १२, १०, ८, ६, ४, २, १। एक मिनट में एक श्वास और दो मिनट में एक श्वास चलता चले। चलते-चलते यह स्थिति आएगी कि पन्द्रह दिनों मे एक श्वास, एक महीने में एक श्वास।

मूल बात है शक्ति का भंडार होना चाहिए, शक्ति का संचय होना चाहिए। जो प्राण की साधना को नही जानता, वह शक्ति का संग्रह नही कर सकता। शक्ति आती है और चुक जाती है, संचय कभी होता ही नही।

शक्ति-संचय की बात को अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में भी सोचें। अहिंसा प्राणशक्ति का आध्यात्मिकीकरण है। अगर अहिंसा नही है तो व्यक्ति शक्तिशाली कैसे बनेगा? अहिंसा नही है तो जो शक्ति आयी वह हिंसा के द्वारा खर्च हो जाएगी। हिंसक व्यक्ति सोचता है कि दूसरे की शक्ति को खर्च कर दूं, किन्तु उसकी अपनी शक्ति चुक जाती है। दूसरो की निंदा करने वाला, चुगली करने वाला, ईर्ष्या करने वाला, जलने वाला, मन में दाह रखने वाला व्यक्ति अपनी शक्ति के भंडार को विकसित नही कर सकता। दूसरों के प्रति बुरे विचार रखने वाला कोई भी अपनी शक्ति के संग्रह को बढा नही सकता। ये सारे शक्ति के चुकने के कारण हैं, न होने के कारण है। अहिंसा इसलिए जरूरी है कि उससे हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है।

अब्रह्मचर्य के द्वारा शक्ति समाप्त होती है। ब्रह्मचर्य का उपदेश इसलिए दिया गया कि व्यक्ति की शक्ति खर्च न हो। शक्ति का अर्जन और शक्ति का विसर्जन भी चलता रहे। यह कैसे हो? अर्जन और विसर्जन के बीच तीसरी बात होती है सुरक्षा की, रक्षण की, संरक्षण की। ब्रह्मचर्य का सिद्धांत इसीलिए प्रतिपादित किया कि व्यक्ति शक्ति को खर्च न करे। कुछ लोग बहुत उलझ जाते हैं। आज के डॉक्टर भी उलझ जाते हैं। वे कहते हैं—वीर्य का कोई मूल्य नहीं हमारी दृष्टि में। वीर्य का मूल्य नही होगा उनकी दृष्टि में, उन्होंने उसका रासायनिक विश्लेषण किया होगा। किन्तु इस बात का तो मूल्य है कि प्रत्येक अब्रह्मचर्य की घटना के साथ बिजली भी खर्च होती है। बिजली बाहर जाती है, बिजली खर्च होती है और आदमी बिजली से शून्य होता है।

सबसे बड़ी सुरक्षा करनी है—प्राण-विद्युत् की। हमारी बिजली कम खर्च हो, उसका संग्रह कर सकें, उसका सही दिशाओं में प्रयोग कर सकें।

विद्युत् के बिना चेतना के केन्द्रों को सक्रिय नहीं किया जा सकता और चेतना के केन्द्रों को सक्रिय किए बिना कोई भी विशिष्टता प्राप्त नहीं

की जा सकती।

प्राण की ऊर्जा को संगृहीत करना और उस ऊर्जा का आध्यात्मिकीकरण करना, यह अपेक्षित है। आध्यात्मिकीकरण का अर्थ है—नीचे के केन्द्रों में ऊर्जा का न रखना, उस ऊर्जा को ऊपर के केन्द्रों में ले जाना। यह आध्यात्मिकीकरण की प्रक्रिया है।

ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण के दो मुख्य साधन है :

१. श्वास लेने की समुचित प्रक्रिया का अभ्यास।

२. चित्त को लम्बे समय तक एक बिन्दु पर टिकाए रखने का अभ्यास।

जो सांस लेना ठीक ढंग से नहीं जानता, वह प्राण को विकसित नहीं कर सकता। प्राण की शक्ति सांस के साथ नथुनों के द्वारा ही बाहर आती है। जो सांस को ठीक लेना नहीं जानता, वह प्राण का संग्रह कर नहीं सकता।

जिस व्यक्ति ने मन को एकाग्र करना सीख लिया, श्वास का संयम करना सीख लिया, वह फिर जहां चाहे वहां प्राण-ऊर्जा का उपयोग कर सकता है।

कोई साधक चाहे कि भृकुटि के बीच प्राण-ऊर्जा को टिकाना है तो उसका मन भी टिक जाएगा, प्राण-ऊर्जा भी टिक जाएगी और वहां पूरी प्रक्रिया शुरू हो जाएगी, अपने आप वहां का चैतन्य-केन्द्र सक्रिय हो जाएगा।

प्राण की प्रक्रिया, प्राण-ऊर्जा के विकास की प्रक्रिया, प्राण का आध्यात्मिकीकरण, बिजली को आध्यात्मिक बना देना, यह साधना का रहस्य है। जिस दिन प्राण को आध्यात्मिक बनाने की प्रक्रिया हमारी समझ में आ जाएगी, हम उसका अभ्यास शुरू करेंगे, प्राणशक्ति का संग्रह शुरू करेंगे और फिर उसका जीवन के ऊर्ध्वगमन में, ऊंचे-ऊचे स्थानों के विकास में उपयोग करेंगे, नाभि से ऊपर के केन्द्रो को विकसित करने में उस शक्ति को लगाएंगे तो एक अनुपम आनन्द, निर्मल चेतना, शक्तिशाली प्रज्ञा हमारे व्यक्तित्व में जागेगी और ऐसे व्यक्तित्व तैयार होंगे जिनकी आज के इस कलह-प्रधान, क्रोध-प्रधान, अधैर्य-प्रधान मानवीय सभ्यता में सबसे ज्यादा अपेक्षा है।

आज के युग में निरन्तर हिंसा, मार-काट, हत्याएं, आत्महत्याएं और नाना अपराधों का विकास हो रहा है, नींद कम होती जा रही है, स्मरण-शक्ति कम होती जा रही है, आंतरिक शक्तियां और सहिष्णुता की शक्ति कम होती जा रही है, धैर्य का लोप होता जा रहा है। इस प्रकार के युग में यदि समस्याओं का समाधान पाना है तो प्राणशक्ति का विकास और उसका आध्यात्मिकीकरण हमारे लिए नितांत अनिवार्य है।

(iii) आध्यात्मिकवैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण

श्रद्धा और तर्क, नया और पुराना, अध्यात्म और विज्ञान, पूर्व और पश्चिम—ये बहुत सारे द्वन्द्व हैं। जीवन के लिए दोनों की ही उपयोगिता है। कहीं यदि श्रद्धा होती है तो इतनी प्रगाढ़ होती है कि तर्क बेचारा विवश हो जाता है। 'नया' जीवन पर हावी होता है तो इस तरह से होता है कि आदमी 'पुराने' से बिलकुल टूट जाता है। 'विज्ञान' आदमी के नजदीक होता है तो 'अध्यात्म' आदमी से बहुत दूर हो जाता है। 'पूर्व' एक छोर पर होता है तो 'पश्चिम' दूसरे छोर पर होता है। दोनों में एक अलंघ्य फासला दिखाई देता है।

अध्यात्म स्वयं एक विज्ञान

इसमें कोई सन्देह नही कि अध्यात्म एक अनुत्तर विज्ञान है और वह जीवन को आनन्द प्रदान करता है। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि विज्ञान भी सत्य की खोज का एक मार्ग है और ढेर सारी सुविधाएं प्रदान करता है। पूर्ण रूप से अध्यात्म में जीने वाले व्यक्ति के लिए अपने आपमें ही वह मिल जाता है। उसे विज्ञान के सामने अपना भिक्षा-पात्र फैलाने की आवश्यकता नही रहती। विज्ञान के ताने-बाने में बुने जाने वाले वस्त्र में जीवन को अप्राप्य ऊंचाइया देने की क्षमता है। पर आज कठिनाई यही है कि अध्यात्म जहा ऊपरी क्रियाकांडों से उलझ गया है, वहां विज्ञान केवल भौतिक प्रवृत्तियों से प्रतिबद्ध हो गया है।

वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक दृष्टि अपेक्षित है। शांतिपूर्ण जीवन के लिए आध्यात्मिकता भी अनिवार्य है। आध्यात्मिकता + वैज्ञानिकता = आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व।

विज्ञान से मनुष्य ने इतना सामर्थ्य अर्जित किया है कि उससे पूरी धरती पर सुख की फसल उगाई जा सकती है। पर आज तो वही दुनिया का सबसे बड़ा सिरदर्द बन रहा है। भले ही शस्त्रास्त्रों का युद्ध स्तर पर उपयोग करने में राजनैतिक स्वार्थ मुख्य मोहरे बनते हों, पर विज्ञान यदि राजनीति के हाथों में नहीं खेलता तो वह विनाश का सर्जन-हार नही बनता।

अब भी समय है कि आदमी संभले। अध्यात्म के संभलने का अर्थ है लिखे-लिखाए शब्दों की लीक पर चलने से पूर्व उन पर प्रायोगिक परीक्षा करें। प्रेक्षाध्यान विज्ञान के प्रकाश में योग को प्रायोगिक स्वरूप प्रदान कर रहा है जो आज के चिकित्सा-शास्त्र को भी मान्य हो रहा है। सामान्यतया जनभावना में अध्यात्म के प्रति जो एक उदासीनता दीख रही थी, उसमें जो ठहराव आ गया था वह टूटता हुआ प्रतीत हो रहा है। युवकों में प्रेक्षाध्यान

के प्रति बढ़ता हुआ उत्साह इस तथ्य का प्रकट निदर्शन है।

आध्यात्मिकवैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण का तात्पर्य केवल इन दोनों विषयों का तुलनात्मक अध्ययन ही नही है अपितु उस चेतना का जागरण है जो शाश्वत सत्यों और प्रयोग—दोनो की सत्ता को एक स्वीकार करे। तुलनात्मक अध्ययन तो इसका सतही स्तर है।

वैज्ञानिक विकास : वरदान या अभिशाप

आज मनुष्य के पास बोझ ढोने के अनेक साधन है। ट्रकें, ट्रालियां, ट्रेन आदि ऐसे अनेक भीमकाय भारवाही वाहन निकल गए है। उसके पास इतने तीव्र गति वाले यान-वाहन आ गए है कि सन् १९३८ मे प्रतिघण्टा बीस मील चलने वाला आदमी आज ४०,००० मील प्रतिघण्टा की यात्रा आराम से कर सकता है। कोलम्बिया शटल के कार्यरत हो जाने से न केवल धरती पर ही अपितु अन्तरिक्ष मे भी मनुष्य का बेरोक-टोक आवागमन शुरू हो गया है।

यन्त्रों, कम्प्यूटरों तथा रोबोटों का आविष्कार हो जाने से न केवल मनुष्य का श्रम ही बच गया है अपितु उसे बहुत सारी चीजे उपलब्ध होने लगी है। आज दस्सून जैसे औद्योगिक ईकाई मे केवल अठारह आदमी ही प्रतिदिन दो हजार कारों का उत्पादन करने लगे है। टेक्सास इस्ट्रूमेंट्स तथा हेलविट एण्ड मैकार्ड जैसे प्रतिष्ठानो में तो आदमी का कोई बच्चा भी काम नही कर रहा है। आभियांत्रिकी के सबोध से आज हर चीज मनुष्य को घर बैठे उपलब्ध होने लगी है। वह अपने कमरे मे बैठा हमारी दुनिया के ही नही अपितु अन्य ग्रहो के लोगो से भी न केवल बातचीत ही कर सकता है अपितु उनसे साक्षात्कार भी कर सकता है।

आज टेलीफोन करने मात्र से ही मनपसन्द के माडल रूपाकार की नवनिर्मित कार उसके दरवाजे के आगे आकर खड़ी हो जाएगी। भविष्य में विज्ञान की यह गति और भी अधिक बढ़ जाने वाली है तथा मनुष्य के पास सुख-सुविधाओं का अम्बार लग जाने वाला है। शक्ति-स्रोतों के विविध उपादानो के साथ-साथ अणु-शक्ति ने भी मनुष्य को अकल्प्य रूप मे विस्तृत कर दिया है।

फिर भी तनाव बढ़े हैं

पर बडे-बड़े रिएक्टर, हाईड्रोइलेक्ट्रिक पावर हाउस तथा अणु-बिजलीघरों का खतरा भी कम गहरा नही हुआ। औद्योगिक प्रदूषण से पूरी दुनिया के संतुलन को खतरा पैदा हो गया है। आदमी आज मशीन का इतना दास बन गया है कि उसके तनावो का भी कोई पार नहीं है। यद्यपि तनाव हमेशा मनुष्य का पीछा करते हैं पर आज मनुष्य जिस रूप से तनावग्रस्त है, उससे उपरोक्त सारी प्रगति पर एक प्रश्नचिह्न लग गया है।

श्रम को हेय न मानें

विश्राम की मनोवृत्ति के साथ-साथ आज श्रम को हेय समझने की मनोवृत्ति का भी इतना विकास हो गया है कि अपने आपको सभ्य मानने वाला मनुष्य जरा-सा श्रम करते हुए भी हिचकिचाता है। ऐसी स्थिति में हमें फिर से मुड़कर देखना होगा। ऐसा नहीं है कि आदमी विज्ञान की उपलब्धियों की अनदेखी कर दें पर उसे यदि आनन्दपूर्ण जीवन जीना है तथा दूसरों के आनन्द को नही छीनना है, तो यह आवश्यक है कि न केवल वह स्वयं ही श्रम से जी न चुराएं अपितु अन्य लोगों के श्रम को छीनकर उन्हें दर-दर भटकने देने का भागीदार भी न बने। आज बहुत सारे विकसित देशों ने अपने उद्योगों के द्वारा बहुत सारे अविकसित देशो के सामने समस्याएं खड़ी कर दी है, जिनसे निपटना बड़ा कठिन हो गया है। सबसे बड़ी आवश्यकता तो यह है कि मनुष्य श्रम को हेय न समझे। सचमुच में मानव-मात्र की हित-चिन्ता तथा अपने तनावों से मुक्त होने की यह टेक्नीक आदमी को विज्ञान से नही अध्यात्म से सीखनी होगी। वैसे विज्ञान ने भी अध्यात्म के इस सत्य पर अपनी मुहर लगाना शुरू कर दिया है कि श्रम के बिना आदमी का अपना जीवन भी आनन्दमय नही बन सकेगा। वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रकाश में आज अध्यात्म की पुस्तक पढ़ना आवश्यक हो गया है।

मन की शांति

आज इस वैज्ञानिक युग में मन की शांति का प्रश्न अहं प्रश्न है। मन की समस्याओं पर चर्चाएं चलती है। हमे इस सदर्भ मे यह जानना चाहिए कि हमारा मन किन-किन प्रभावो से कितना प्रभावित होता है। मन क्षेत्र से भी प्रभावित होता है और काल से भी प्रभावित होता है। ज्योतिर्विज्ञान का विकास प्रभावों के विश्लेषण के लिए हुआ था। किन्तु आज उसका रूप बदल गया है। वह केवल फलित में उलझ गया है। उसका विषय तो था—हमारी इस पृथ्वी पर, पूरे वातावरण पर और वायुमंडल पर तथा मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार पर सौरमंडल का क्या प्रभाव होता है, इसका अध्ययन और विश्लेषण करना, पर वह उससे दूर चला गया। यह स्पष्ट है कि हमारा सारा वातावरण अंतरिक्ष से प्रभावित है। पृथ्वी और अंतरिक्ष को सर्वथा विभक्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य के लिए जितनी संपदा पृथ्वी पर है, उससे कम अन्तरिक्ष मे नही है। मनुष्य पर पृथ्वी का जितना प्रभाव पड़ता है, अंतरिक्ष का प्रभाव उससे कम नहीं पड़ता। आदमी अतरिक्ष से अधिक प्रभावित होता है। अंतरिक्ष में जैसा सौरमंडल है, वैसा सौरमडल प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में है। ग्रहों और अंतर्ग्रहों का बहुत गहरा सम्बन्ध है।

हमारे अंतर्ग्रह आकाश के ग्रहों के विकिरणों से बहुत प्रभावित होते हैं। मनुष्य जीता है ऋतुचक्र के साथ-साथ।

ऋतु का एक चक्र है। भारत में छह ऋतुओं का विकास हुआ। हो सकता है कि भौगोलिक कारणों से कुछ स्थानों में ऋतुएं छह न होती हों, कम होती हों। किन्तु भारत में छह ऋतुएं होती हैं और उन ऋतुओं से मनुष्य का जीवन जुड़ा हुआ है। जैसे ऋतुचक्र बदलता है, हमारा शरीर भी बदलता है और स्वास्थ्य में भी परिवर्तन आता है। आयुर्वेद ने ऋतुचक्र के परिवर्तन के साथ-साथ स्वास्थ्य-परिवर्तन और शरीर-परिवर्तन की विशद चर्चा की है। इसमें केवल स्वास्थ्य और शरीर ही नहीं बदलता, भाव भी बदलते हैं। भाव बदलता है तो मन बदलता है। भाव और मन दोनों बदलते हैं। यह आयुर्वेद और अध्यात्म का मिला-जुला योग है। यह आवश्यक है कि ऋतु-परिवर्तन के साथ मनुष्य में होने वाले परिवर्तनों का संयुक्त अध्ययन किया जाए और यह जाना जाए कि क्या-क्या परिवर्तन घटित होते हैं।

आयुर्वेद की मान्यता है कि ऋतु के साथ-साथ भोजन का परिवर्तन भी हो जाना चाहिए। आयुर्वेद में किस ऋतु का भोजन क्या है, इसकी उन्मुक्त चर्चा है। शरीर के लिए कब कैसा भोजन अपेक्षित होता है, इस विषय में बहुत सुन्दर प्रतिपादन वहां प्राप्त होता है। ज्योतिष के ग्रन्थों ने इस विषय को आगे बढ़ाते हुए प्रतिपादन किया कि किस ऋतु में किस प्रकार के भाव पैदा होते हैं और उनका क्या-क्या असर होता है।

वर्ष के दो अयन हैं—उत्तरायन और दक्षिणायन। हमारे मन के भी दो अयन होते हैं—उत्तरायन और दक्षिणायन। तपस्या, तेजस्विता, उग्रता—यह हमारे मन का उत्तरायण है। जड़ता और नींद की शांति—यह हमारे मन का दक्षिणायन है। ऑकल्ट साइंस में दो ध्रुवों की चर्चा है—एक है उत्तरी ध्रुव और दूसरा है दक्षिणी ध्रुव। दोनों ध्रुवों का मन के साथ गहरा सम्बन्ध है। रीढ़ की हड्डी के ऊपर का भाग—ज्ञानकेंद्र—उत्तरीध्रुव है और रीढ़ की हड्डी का निचला भाग—शक्तिकेंद्र और कामकेंद्र—दक्षिणी ध्रुव है। इस प्रकार ऋतुओं और अयनों के साथ मन का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। उपाध्याय मेघविजयजी ने एक ग्रन्थ लिखा है। उसका नाम है—अर्हत् गीता। उसमें ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से मानसिक स्थितियों का सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने पूरे वर्ष, बारह मास, बारह राशियां, दो अयन, छह ऋतु और सात वार—प्रत्येक के साथ मन के सम्बन्ध की चर्चा की है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है और इसका सूक्ष्म विवेचन वहां प्रस्तुत है। यह सारी चर्चा इसलिए कि मानसिक शांति के प्रश्न पर सोचने वाले लोगों को एक ही कोण से नहीं

सोचना चाहिए। अनेक कोणों से सोचना चाहिए। मन की अशांति हजार व्यक्तियों में मिलती है तो हजार व्यक्तियों के लिए अशांति का कारण एक ही नहीं होता, अनेक कारण होते हैं और उन अनेक कारणों के लिए एक ही समाधान देंगे तो वह पर्याप्त नहीं होगा। भिन्न-भिन्न समाधान भी चाहिए। किसकी किस प्रकार की समस्या है और किस प्रकार का हेतु मन की अशांति को उत्पन्न कर रहा है, जब तक इसका विश्लेषण नहीं कर लिया जाएगा और इसका सम्यक् बोध नहीं होगा, तब तक दिया हुआ समाधान असमाधान ही बना रहेगा।

चिकित्सा की एक शाखा 'मनश्चिकित्सा' विस्तार पा रही है। आज बड़े अस्पतालों के साथ एक मनश्चिकित्सक भी रहता है। वह मन की चिकित्सा करता है। यह एक शाखा तो बन गई। किन्तु मन की बीमारियों की एक शाखा तो नहीं है।

बुद्धि की प्रखरता ने इतनी कल्पनाएं दे दीं, इतनी महत्त्वाकाक्षाएं जगा दीं, इतने बड़े-बड़े मूल्य सामने रख दिए कि पूर्ति नहीं हो रही है और मन की अशांति के लिए बहुत अच्छी सामग्री है। महत्त्वाकांक्षा तो बहुत बढ़ जाए और पूर्ति हो न सके, इससे विकट और कोई समस्या हो नहीं सकती। जब तक आदमी की महत्त्वाकांक्षा न जागे, शायद वह शान्ति का जीवन जी सकता है। हो सकता है कि विकास का जीवन न हो, पर शान्ति का जीवन जी सकता है। महत्त्वाकांक्षा जाग जाए और उसकी संपूर्ति न हो, उस स्थिति में क्या बीतता है, वही जानता है या भगवान् जानता है, कल्पना नहीं की जा सकती। इतनी बेचैनी, इतनी कठिनाई और परेशानी होती है कि उस परेशानी को कोई बता नहीं सकता।

मानसिक समस्याओं के अनेक कारण है। उन सबका सम्यक् विश्लेषण किए बिना हम मन की समस्या का समाधान नहीं दे सकते। हर व्यक्ति जाने या न जाने, पर कम से कम जो मानसिक शान्ति के क्षेत्र में काम करने वाले है, मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में काम करने वाले है, अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाले हैं और जो विश्व-शान्ति की चर्चा और परिक्रमा करने वाले हैं, उन लोगों के लिए तो यह बहुत जरूरी है कि वे उन सारे हेतुओं को जानें और फिर समाधान की बात करें।

एक बहुत बड़ा हेतु है कालचक्र, जो मनुष्य के साथ-साथ चलता है। काल से जब स्थूल शरीर में परिवर्तन होता है, तो बहुत स्वाभाविक है कि हमारे भावचक्र मे भी परिवर्तन होगा। भाव में परिवर्तन होता है, यह अब केवल पौराणिक मान्यता ही नहीं है, वैचारिक मान्यता भी बन गई। पुराने ग्रन्थों में कुछ तिथियों का विशेष चुनाव किया गया—पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा। इन तिथियों के चयन के बारे में हमारे

सामने बहुत प्रश्न आते हैं। अष्टमी को विशेष धर्म करना चाहिए, सप्तमी को नहीं, ऐसा क्यों? अब ज्योतिविज्ञान और वैज्ञानिक अध्ययनों और विश्लेषणों के बाद इसका बहुत अच्छा उत्तर दिया जा सकता है।

चन्द्रमा का हमारे मन के साथ मे बहुत गहरा सम्बन्ध है। ज्योतिविज्ञान में भी है। किसी आदमी की कुडली देखी जाती है तो मन का स्थान चन्द्रमा से देखा जाता है। चन्द्र कैसा है? चन्द्रमा अच्छा है कुण्डली में तो इसका मन बहुत शांत रहेगा, स्वच्छ रहेगा। चन्द्रमा अच्छा नही है तो पागल बनेगा, यह भविष्यवाणी करने मे कोई कठिनाई नही है। चन्द्रमा के स्थान के आधार पर मन की यह मीमांसा की जा सकती है। मन का और चन्द्रमा का बहुत गहरा सबंध है।

हमारे शरीर मे जल का हिस्सा बहुत बडा है। आपको तो यह शरीर ठोस लग रहा है, पर ठोस कहां है? पानी ही पानी है, सत्तर-अस्सी प्रतिशत तो हमारे शरीर मे पानी है। और भाग तो बहुत थोडा है। पानी का चन्द्रमा के साथ संबंध है। समुद्र के ज्वार-भाटे के साथ चन्द्रमा का संबध है। हमारे मन और शरीर का भी चन्द्रमा के साथ सबध है। मन का ज्वार-भाटा भी चन्द्रमा के साथ आता है। केवल समुद्र मे ही ज्वार-भाटा नही आता, मन मे भी आता रहता है। अमावस्या और पूर्णिमा ज्वार-भाटे के दिन है। बहुत अन्वेषणों के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया कि हत्याए, अपराध, हिंसा, उपद्रव, आत्महत्या—ये सारे पूर्णिमा और अमावस्या के दिन ज्यादा होते है। एक्सीडेण्ट भी पूर्णिमा के दिन ज्यादा होते है। इस विषय पर काफी लिखा गया है। काफी सर्वे किए गए है और खोजे भी की गई हैं। चन्द्रमा के साथ हमारे मन का बहुत गहरा सम्बन्ध है।

कालचक्र और सौरमंडल से हमारा भाव और मन जुड़ा हुआ है। इनसे हम प्रभावित होते है। इसीलिए इन दिनो मे विशेष अनुष्ठानो का विधान किया गया कि अष्टमी, चतुर्दशी को विशेष अनुष्ठान किए जायें जिससे कि मानसिक विक्षिप्तता के प्रभावो से बचा जा सके। यह एक मुख्य हेतु था। चन्द्रमा की भांति ही दूसरे ग्रहों का भी प्रभाव पड़ता है। सूर्य का भी प्रभाव होता है, मंगल का भी प्रभाव होता है और गुरु का भी प्रभाव होता है। हम इतने प्रभावो से प्रभावित हैं कि अप्रभावित अवस्था हमे प्राप्त नही है। इस स्थिति मे मानसिक शान्ति की समस्या और जटिल बन जाती है।

इसमें कोई सदेह नही कि जो व्यक्ति सामाजिक वातावरण को जैसा ग्रहण करता है वैसा ही उसका व्यक्तित्व बनता है। किन्तु कोई भी बात यदि एकांगी दृष्टिकोण से स्वीकृत होगी तो उसमें सचाई नहीं होगी। सचाई होगी तो अधूरी सचाई होगी। पूरी सचाई नही होगी और समस्या

के समाधान तक ले जानेवाली गहराई नही होगी। एकांगी दृष्टिकोण से कोई भी बात पकड़ ली जाती है तो उलझन बहुत बढ़ जाती है।

व्यक्ति समाज का हिस्सा है, यह बात ठीक है। किन्तु व्यक्ति की अपनी वैयक्तिकता भी है। यदि सामाजिकता को समाप्त नहीं किया जा सकता तो वैयक्तिकता को भी समाप्त नही किया जा सकता।

व्यक्ति की अपनी विशेषताएं होती है और यदि वे विशेषताएं न हों तो इन रोग के कीटाणुओं का इतना भयंकर आक्रमण हो सकता है कि कोई बच ही नही सकता। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी अवरोधक शक्ति होती है। हर व्यक्ति अपनी क्षमता और शक्ति के आधार पर कीटाणुओ से लड़ता है, अपनी शक्ति का उपयोग करता है।

व्यक्तिगत विशेषताओ पर भी हमे विचार करना होगा। एक ओर हम वातावरण से, परिस्थितियों से, हेतुओं से, निमित्तो से प्राप्त होनेवाली समस्याओं पर विचार करें तो दूसरी ओर व्यक्ति के आन्तरिक स्रोतो पर भी विचार करें। यही अध्यात्म का और इस भौतिक विज्ञान का एक केन्द्र-बिन्दु बनता है। हम व्यक्ति के आन्तरिक स्रोतो पर विचार करें। एक बहुत सुन्दर पुस्तक निकली है—Man the Unknown। उसमे वैज्ञानिक दृष्टि से इतना विश्लेषण किया गया है कि 'मनुष्य' अभी तक अज्ञात है। मनुष्य का थोड़ा-सा हिस्सा, उसके मस्तिष्क का पाच-सात प्रतिशत हिस्सा ही ज्ञात हुआ है। नब्बे प्रतिशत से अधिक हिस्सा अज्ञात ही है। ज्ञात के आधार पर इतने बड़े अज्ञात को अस्वीकार करना कैसे सभव होगा? अध्यात्म के आचार्यों ने अज्ञात पर भी बहुत अनुसधान किया है। उन्होंने अपनी अन्तःदृष्टि और अन्तःप्रेरणा से अज्ञात को समझने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया है। अध्यात्म का यह बिन्दु हमें उपलब्ध है। आज से नही, किसी वैज्ञानिक की पुस्तक से नही, किन्तु हजारो-हजारो वर्ष पहले उन घोषणाओ से हम परिचित हैं कि प्रत्येक प्राणी मे, न केवल मनुष्य मे, किन्तु प्रत्येक प्राणी मे अनन्त शक्ति विद्यमान है। अनन्त चतुष्टयी जैन दर्शन में बहुत प्रसिद्ध है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द—यह अनन्त चतुष्टयी है। वैदिक साहित्य मे सत्, चित् और आनन्द बहुत प्रसिद्ध है।

अध्यात्म के आचार्यों ने मनुष्य के भीतर की गहराइयों में जाकर झांका, उस अनन्त चतुष्टयी में कुछ डुबकियां लेकर जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा की, जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया और मनुष्य के व्यक्तित्व का चित्र उभारा, यदि वह हमारे सामने होता तो शायद मन की शान्ति का प्रश्न, शान्ति की समस्या जटिल नही होती। उन्होने व्यक्ति को समझा, उस आलोक में देखा और परखा कि भाव-शुद्धि के बिना मन की शाति का प्रश्न कभी समाहित नही हो सकता। हमारे विकास का, जीवन के विकास का

सबसे बड़ा आधार है भाव-शुद्धि। एक धारा हमारे भीतर है भाव-अशुद्धि की और दूसरी धारा प्रवहमान है भाव-शुद्धि की। दोनों धाराएं निरन्तर प्रवहमान हैं हमारे व्यक्तित्व में। जब-जब हम भाव की अशुद्धि की धारा से जुड़ते हैं, मन की समस्याएं उलझ जाती है। मानसिक पागलपन, मानसिक विक्षिप्तता उभरकर सामने आ जाती है। जब-जब हम अपनी भाव-शुद्धि की धारा से जुड़ते हैं, सब कुछ ठीक हो जाता है।

आज के शरीर-शास्त्री बतलाते हैं कि हमारे मस्तिष्क में दो ऐसी ग्रन्थियां है, एक है हर्ष की और एक है शोक की। दोनों सटी हुई है। हर्ष की ग्रन्थि उद्घाटित हो जाए तो हर घटना में व्यक्ति सुख का अनुभव करे। उसे दुःख नहीं होगा। यदि शोक वाली ग्रन्थि खुल जाए तो फिर चाहे जितना ही सुख हो, करोड़पति बन जाए, दुःख का अन्त होनेवाला नहीं है। पर खतरा यही है कि एक को खोलते समय दूसरी खुल जाए तो फिर सारा चौपट हो जाए। सुख और दुःख की धाराएं सटी हुई चल रही हैं।

जो व्यक्ति निरन्तर भाव को शुद्ध रखता है, उस पर आक्रमण नहीं हो सकते। और होते भी है तो बहुत मंद होते है। वह बच जाता है। भाव-शुद्धि एक शक्तिशाली उपाय है। यदि उसके प्रति हमारी जागरूकता बढ़ जाए तो इन खतरों से बचा जा सकता है।

संयम

हम विज्ञान के संदर्भ मे तथा नृवंश विद्या (anthropology) की दृष्टि से संयम पर विचार करें—प्रश्न होगा कि मनुष्य जाति का विकास कैसे हुआ? इसके उत्तर में अनेक उत्तर दिए जा सकते हैं। किन्तु नृवंश विद्या के आधार पर इसका जो उत्तर दिया गया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसमे कहा गया है कि मनुष्य जाति के विकास का मूल आधार है—वाणी। पशु-पक्षियो का विकास नहीं हुआ। गाय, भैंस और घोड़ा ये हजारों वर्षों से समानरूप से रह रहे हैं। इनमे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। गधे, घोड़े, खच्चर कभी हड़ताल नहीं करते। वे सदा ही भार ढो रहे है और ढोते रहेंगे। क्यों? इसलिए कि उनका विकास नहीं हुआ। उनमें भाषा नहीं है। बन्दर ने कभी घर नहीं बनाया। आज भी वह वृक्षवासी है। मनुष्य ने घर बनाया। घर बनाने में उसने बहुत विकास किया। इसका कारण बताया गया है कि मनुष्य अपनी रीढ की हड्डी को सीधा रखता है। रीढ की हड्डी को सीधा रखने के कारण ही मनुष्य के विकास का प्रथम चरण प्रारम्भ हुआ। विकास का दूसरा मुख्य तत्त्व है कि मनुष्य की अंगुलियां और अंगूठा विपरीत दिशा में है। अंगुलियों की सीध में यदि अंगूठा होता तो आदमी न लिख पाता और न अन्य काम ही कर पाता। मनुष्य पशु जैसा ही होता।

पशुओं के अंगुलियां और अंगूठा विपरीत दिशा में नहीं होते। यह बहुत बड़ा अंतर है। इसी अंतर के कारण आदमी प्रगति कर रहा है, विकास कर रहा है।

दूसरी दृष्टि—योग की दृष्टि से देखें तो मुद्रा के आधार पर विश्लेषण करना होगा। योग ने मुद्रा की दृष्टि से बहुत विकास किया है। दो अंगुलियों को मिलाने से एक प्रकार की मुद्रा बन जाती है। तीन अंगुलियों को मिलाने से दूसरी मुद्रा बन जाती है। अनामिका और अंगूठे को मिलाने से अन्य मुद्रा बन जाती है। इस प्रकार सैकड़ों-सैकड़ों मुद्राएं है। इन मुद्राओं के परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते है। मंत्रशास्त्र में मुद्राओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। देवता का आह्वान करना हो तो कौन-सी मुद्रा होनी चाहिए। हठयोग मे मुद्राओं का काफी विवेचन है। प्राणायाम करना है, दीर्घश्वास की क्रिया करनी है तो अमुक मुद्रा में करने से फेफड़ों में पूरा प्राणवायु पहुंचेगा, अन्यत्र नहीं। मुद्राओं के आधार पर परिणाम में अन्तर आ जाता है।

'एक्यूप्रेशर' और 'एक्यूपंक्चर'—ये दो प्राचीन चिकित्सा पद्धतियां है। शरीर के अमुक भाग को दबाने से या शरीर के अमुक केन्द्र पर सुई चुभाने से अमुक बीमारी शात हो जाती है। श्वास की बीमारी है या हार्ट की बीमारी है तो अमुक पॉइन्ट को दबाने या उस पर सुई चुभाने से वह बीमारी शांत हो जाती है। आज भी यह पद्धति चीन और जापान में चलती है। भारत में भी यत्र-तत्र इसके विशेषज्ञ मिलते है।

आयुर्वेद का एक प्रसिद्ध श्लोक है—

दन्तानामञ्जनं श्रेष्ठं, कर्णानां दन्तधावनम्।
शिरोभ्यंगश्च पादानां, पादाभ्यंगश्च चक्षुषोः॥

आखो को आंजने से दांत स्वस्थ रहते हैं। दांतों को धोने से कान स्वस्थ रहते है। सिर पर मालिश करने से पैरों को लाभ होता है और पैरों पर मालिश करने से आंखो की ज्योति बढ़ती है।

इस प्रकार शरीर में सैकड़ों केन्द्र है, जिनको जानना बहुत लाभप्रद होता है। उनमें हाथ-पैर बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

हम विद्युत्-विज्ञान की दृष्टि से भी देखें। आज का शरीरशास्त्र मानता है कि शरीर की विद्युत् का बहिःनिष्क्रमण मुख्यतः तीन स्थानों से होता है—हाथ की अंगुलियों से, पैरों की अंगुलियों से और आंखों से। जब शरीर रोग-ग्रस्त होता है तब रोग-ग्रस्त भाग पर अंगुलियां घुमाई जाती हैं। उससे विद्युत् मिलती है और रोग शांत भी होता है। गुरु के चरणों मे मस्तक रखने से उनके पैरों से निकलने वाली विद्युत् का लाभ मिलता है। जब वे अपना हाथ भक्त के सिर पर रखते है तब अंगुलियों से निकलने वाली

विद्युत् भी मिलती है और जब वे शांत आंखों से भक्त को देखते हैं तब आंखों से निकलने वाली विद्युत् भी प्राप्त होती है। मन तीनों ओर से लाभान्वित होता है। यह भी एक विज्ञान है।

जो चैतन्य-केन्द्र मस्तिष्क में हैं, वे हाथ में भी हैं। भावना के सभी केन्द्र हाथ में हैं।

जिन व्यक्तियों का ध्यान नहीं टिकता उनके लिए बताया गया है कि वे दाहिने पैर के अंगूठे पर ध्यान करें। ध्यान सधने लगेगा। यह है पैर का संयम। यह आचार-शास्त्र का बहुत बड़ा अंग है। यह तो नहीं कहा कि पूरे शरीर का संयम करो। हाथ-पैर के संयम की बात कही, इसका हमें आचार-शास्त्रीय दृष्टि से भी महत्त्व आंकना चाहिए। आचारशास्त्रीय दृष्टि से संयम तब होता है, जब हम हाथ-पैर को स्थिर रख सकें, लंबे समय तक रख सकें। जो व्यक्ति उकड़ू आसन में बैठता है, वह पैरों का संयम साधता है। उसकी आध्यात्मिक शक्तियां जागती हैं। उसमें ब्रह्मचर्य की शक्ति का विकास होता है। यह है आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण।

तीसरा है गणितशास्त्रीय दृष्टिकोण। हाथ और पैर का गणित करना होगा। दोनों हाथों की दस अंगुलियां। दोनों पैरों की दस अंगुलियां। उन पर बनी रेखाओं का गणित, हाथ और पैरों की रेखाओं का गणित और मूल्यांकन।

पुराने जमाने में तर्कशास्त्र पढ़ा जाता था सूत्रों के आधार पर और आज पढ़ा जाता है गणित के आधार पर। यह सही विज्ञान है। आचार-शास्त्र भी गणित के आधार पर पढ़ाया जाता है। विनोबा कहा करते थे कि जैन दर्शन को 'अंक दर्शन' (गणित दर्शन) कहना चाहिए। जैन साहित्य का लगभग आधा भाग गणित से भरा पड़ा है। जैन आचार्यों ने गणित का बहुत उपयोग किया। गणितशास्त्र की दृष्टि से भी तत्त्व का विश्लेषण होना चाहिए।

सत्यनिष्ठा

गुडो हि कफहेतुः स्याद्, नागरं पित्तकारणम्।
द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे।

—गुड़ कफ पैदा करता है और सूंठ पित्त पैदा करती है। दोनों को मिलाने पर न कफ होता है और न पित्त। उनके मूल दोष मिट जाते हैं और तीसरा गुण पैदा हो जाता है। दोनों यदि अलग-अलग होंगे तो दोनों की दूरी बनी रहेगी। वे एक दृष्टि से दोषकारक ही होंगे, गुणकारक नहीं। दोनों का योग होने पर गुणवत्ता आ जाती है।

चेतना दो प्रकार की है—सूक्ष्म चेतना और स्थूल चेतना। मनोविज्ञान

की भाषा में सूक्ष्म चेतना को अवचेतन मन कहा जाता है और दर्शन की भाषा में वह सूक्ष्म चेतना है या कर्मशरीर के साथ काम करने वाली चेतना है। मनोविज्ञान के चेतन मन का अर्थ है स्थूल शरीर के साथ, मस्तिष्क के साथ काम करने वाली चेतना, स्थूल चेतना। दोनों के बीच दूरी है; इसे दूर करना जरूरी है। तभी सत्य प्रगट होगा। अन्यथा माया प्रगट होगी।

सत्य का अर्थ है—नियम की खोज।

सत्य का बोध है—नियम का बोध।

सत्य का आचरण है—नियम का आचरण।

सत्य की यह व्याख्या बहुत ही व्यावहारिक और व्यापक है। यथार्थ में सत्य का अर्थ है—नियम।

यह संसार नियमों से बधा हुआ है। प्रत्येक वस्तु और मनुष्य नियम के आधार पर चल रहा है। नियम को वह जाने न जाने, यह दूसरी बात है, किन्तु नियम अपना काम कर रहा है। नियम एक नहीं है, हजारों-हजारों नियम है।

अनेकान्त का सिद्धान्त नियमों को जानने का साधन है। अनेकान्त ने नियमों की व्याख्या की है, फिर चाहे वह वाणीगत नियम हो या वस्तुगत नियम हो।

जो व्यक्ति नियमों को जानता है, वह सत्य को पकड लेता है। आज के विज्ञान ने अनेक सूक्ष्म नियमों की खोज की है। वैज्ञानिक जगत् में यंत्रों का जितना निर्माण हुआ है, वह सारा नियमों के अवबोध के आधार पर हुआ है। वैज्ञानिक वह होता है, जिसमे नियम को पकड़ने की, समझने की क्षमता होती है। नियम को बनाने वाला कोई नहीं होता। नियम अनादि है, यूनिवर्सल है। जो इन नियमों को पकडता है, वह होता है ऋषि, वह होता है मुनि और वह होता है वैज्ञानिक। मुनि और वैज्ञानिक—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। मुनि का अर्थ है—ज्ञानी, नियमों को जानने वाला। मुनि शब्द 'मुण् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न होता है। इसलिए मुनि का अर्थ ज्ञानी ही होना चाहिए। मुनि कहो या वैज्ञानिक कहो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। मुनि होता है, जो नियमों को जानता है। वैज्ञानिक वह होता है, जो नियमो को जानता है। मुनि का अर्थ संयमी क्यों चल पड़ा, यह अन्वेषणीय है। संयम मुनि की क्रिया है, वह मुनि का अर्थ नही है।

विज्ञान प्रत्येक नियम की खोज करता है। उसने प्रत्येक क्षेत्र के नियमों को जानने का प्रयास किया है।

आज के वैज्ञानिकों ने अनेक सूक्ष्म नियमों की खोज की है। अपराधों को पकड़ने के लिए उन्होने अनेक साधन आविष्कृत किए हैं। अपराधी को एक यंत्र के सामने खड़ा किया जाता है। अपराधी को, अपराध के विषय में

पूछा जाता है। यदि वह झूठ बोलता है, तो यंत्र (Lie-detector) की सुई घूमती है और भिन्न प्रकार का ग्राफ उभर आता है। यदि वह अपराध को स्वीकृति देता है तो भिन्न प्रकार का ग्राफ उभर आता है। यंत्र के माध्यम से यथार्थ जान लिया जाता है। इसका भी ठोस आधार है। यदि कोई व्यक्ति झूठ बोलता है, यथार्थ को छिपाता है तो उसके भीतर एक प्रकार की प्रक्रिया होती है, एक प्रकार के प्रकपन होते है और जो सत्य बोलता है उसके भीतर भिन्न प्रकार की प्रक्रिया होती है, भिन्न प्रकार के प्रकंपन होते है। यंत्र का काम है प्रकंपनो को पकड़ना और उन्हें ग्राफ पर अंकित करना। उस अंकन के आधार पर निर्णय कर लिया जाता है कि अमुक अपराधी है और अमुक अपराधी नहीं है।

अपराध की खोज केवल यत्र ही नहीं, कुत्ते भी करते हैं। आज पुलिस अपराधियो को पकडने के लिए कुत्तों का उपयोग कर रही है और यह प्रमाणित हो चुका है कि कुत्ते इसमे शत-प्रतिशत सफल रहे है। कुत्ते को हत्या के स्थान पर या चोरी के स्थान पर ले जाया जाता है। कुत्ता वहां सूंघता है और उस गध के आधार पर हजार मील पर जाकर भी अपराधी को पकड लेता है। आश्चर्य होता है कि कुत्ते को इतना ज्ञान कैसे हो जाता है ? हजार मील पर गये चोर को पकड पाना पुलिस के लिए भी कम संभव है तो भला कुत्ता उसे कैसे पकड लेता है। इसका अर्थ यह होता है कि कुत्ता आदमी से अधिक ज्ञानी है। आश्चर्य होना है। पर नियम को समझ लेने पर इसमे आश्चर्य जैसी कोई बात नही है। कुत्ते की घ्राणशक्ति बहुत तीव्र होती है। गंध के आधार पर वह अपराधी को पकड़ने में समर्थ हो जाता है।

सत्य का अर्थ है—नियम—प्राकृतिक नियम और चेतना के नियम। वस्तु-जगत् के नियम, चेतना-जगत् के नियम—ये दो प्रकार के नियम हैं। वस्तु-जगत् के नियमों को जानना अस्तित्ववादी सत्य है और चेतना-जगत् के नियमों को जानना उपयोगितावादी सत्य है, साधना का सत्य है।

कर्मशास्त्र पूरा का पूरा नियमशास्त्र है। जो कर्म किया जाता है, वह अमुक-अमुक समय तक अपरिपाक, अनुदय की स्थिति मे रहता है। उसे अबाधाकाल कहा जाता है। जब वह उदय में आता है तब फल देना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार कर्म का शास्त्र चेतना के नियमो का शास्त्र है।

अनेक शारीरिक और मानसिक बीमारिया ऐसी होती है, जिनको डॉक्टर भी नही पकड पाते और यंत्र भी उन्हें नही पकड़ पाते। सब व्यर्थ हो जाते है। इसका कारण है कि वे बीमारियां शारीरिक नही, मानसिक नही, किन्तु कर्म से निष्पादित हैं। इस तथ्य को आयुर्वेद के आचार्यों ने बहुत ही सूक्ष्मता से पकड़ा। उन्होंने कहा—बीमारी केवल शरीर के दोषों से ही नहीं होती। सारी बीमारियां वात, पित्त और कफ के दोषो से ही नही होती।

बीमारी केवल बाहरी वातावरण से ही पैदा नहीं होती। बीमारी का एक कारण कर्म भी है। जो संस्कार किया है, वह भी बीमारी का कारण बनता है। जिस बीमारी का कारण कर्म होता है, वह बीमारी दवाइयों से ठीक नहीं होती। कोई भी वैद्य या डॉक्टर उसे नहीं मिटा सकता। उसकी सही दवाई है प्रायश्चित्त। यह सूक्ष्म चेतना का नियम है।

आज सर्वत्र द्वन्द्व है। भीतर के प्रकंपन और प्रकार के हैं, बाहर भिन्न प्रकार का प्रदर्शन हो रहा है। भीतर और बाहर में जो दूरी है, वह मिटनी चाहिए। यह दूरी तब मिट सकती है, जब दृष्टिकोण परिष्कृत हो। एक प्रकार से यह सत्य गणित का सत्य है। आज के व्यावहारिक जगत् मे गणित का सत्य सबसे बडा सत्य है। गणित में कोई भूल नहीं होती। ज्योतिष विज्ञान, गणित विज्ञान—ये सारे नियमों की व्याख्या करने वाले विज्ञान हैं।

विज्ञान की बहुत सारी बातें आश्चर्यजनक लगती हैं। एक रेशमी कपड़ा है। उस पर अंगारा रखा और उस अंगारे पर मूंगा रख दिया। अब वह अंगारा रेशमी कपड़े को कैसे नहीं जलाएगा? आश्चर्य उसी को होगा जो नियम को नहीं जानता। यह सामान्य बात है कि मूंगे मे ताप-अवशोषण की क्षमता है। वह अंगारे के ताप का शोषण कर लेता है, कपड़ा जलता नहीं। प्राचीन काल में रत्न-कंबल बनते थे। उनकी धुलाई अग्नि से होती थी। वे अग्नि में नहीं जलते थे, क्योंकि उनमें ताप-अवशोषण की क्षमता होती है। ईंटें भी ऐसी होती हैं जिन पर अग्नि का कोई प्रभाव नहीं होता।

नियमों को जान लेने पर आश्चर्य जैसा कुछ नही रहता। हम स्थूल चेतना के नियमों को जानें, सूक्ष्म चेतना के नियमों को जानें। इसका तात्पर्य है कि हम स्थूल शरीर के नियमों को जानें और कर्म-शरीर के नियमों को भी जानें। इन नियमों के ज्ञात होने पर ही सत्य की चेतना बहुत स्पष्ट हो जाती है। सत्य तब उपलब्ध होता है या भीतर और बाहर की दूरी तब मिटती है जब हम भीतर के विकारों का शोधन करना सीख जाते हैं। कोरा सत्य का ज्ञान, कोरा सत्य का बोध, कोरा सत्य का सगान करने से कुछ नहीं होता। प्राप्त होता है विकार या मोह के उपशमन से। भीतर के उपद्रव, विकार, बुराइयां और भीतर की बीमारियां जितनी कम होती जाएगी, उतना ही जीवन में सत्य प्रज्वलित होता जाएगा।

हमारे मस्तिष्क में अरबों-खरबों सेल्स हैं। सब अपना-अपना कार्य करते हैं। जिस व्यक्ति में सत्य का प्रकोष्ठ (सेल्स) जागृत हो जाता है, सक्रिय हो जाता है, उसमें गहरी सत्यनिष्ठा जाग जाती है। वह अपने नियम या प्रण से बंध जाता है। उसमें प्रामाणिकता आ जाती है। प्रामाणिकता भी नियम के कारण आती है। वह जाने-अनजाने अप्रामाणिक कार्य नहीं करता। यह सत्यनिष्ठा विकार-शमन से प्राप्त होती है। जब आन्तरिक दोष न्यून

होते जाते हैं, तब ये सेल्स जागृत होते जाते हैं। किसी-किसी व्यक्ति की पवित्र आत्मा में सत्यनिष्ठा का प्रकोष्ठ जाग जाता है। जो साधना का जीवन जीते हैं, उन्हें इस सत्यनिष्ठा का अभ्यास ही नहीं, इसे जीवनगत करना जरूरी है। सत्य में बाधा डालने वाले विकारों और वासनाओं का अतिक्रमण करना आवश्यक है। यह होने पर ही सत्यनिष्ठा प्रज्वलित हो सकती है।

अभ्यास

१. धर्म एवं अध्यात्म जैसी प्राचीन विद्याओं का विज्ञान जैसी आधुनिक विद्या के साथ तुलना कहां तक सम्भव है ?
२. क्या विज्ञान ने धर्म का कोई उपकार किया है ?
३. जैन आगमों के सूक्ष्म सत्यों को सरल भाषा मे समझाएं तथा विज्ञान के सन्दर्भ में उनकी व्याख्या प्रस्तुत करें।
४. आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ मे समुद्घात को समझाएं।
५. शरीर के सूक्ष्म रहस्यों पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डालें।
६. अध्यात्म-विज्ञान में शरीर के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कुंडलिनी का विवेचन करें।
७. प्राण-शक्ति की विद्युत् के चमत्कारों को विज्ञान के सन्दर्भ में प्रस्तुत करें।
८. आध्यात्मिकवैज्ञानिक व्यक्तित्व का क्या तात्पर्य है ?
९. निम्नलिखित विषयों की अध्यात्म और विज्ञान के सन्दर्भ मे व्याख्या करें—
   (क) मन की शांति
   (ख) संयम
   (ग) सत्यनिष्ठा

३. जैन दर्शन और परामनोविज्ञान

(i) आत्मवाद एवं पुनर्जन्मवाद

जैन दर्शन का दृष्टिकोण

जैन दर्शन आत्मवादी, कर्मवादी एवं पुनर्जन्मवादी दर्शन है। जैन दर्शन के अनुसार संसार का प्रत्येक प्राणी अपने आप मे एक आत्मा है और कर्मों से बद्ध है, आवृत है। कर्म पुनर्जन्म का मूल कारण है। तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से आत्मा का अस्तित्व अनादिकालीन है, स्वतन्त्र है, वास्तविक है और एक द्रव्य या वस्तु के रूप में है। आत्मा या जीव अस्तिकाय है। प्रत्येक आत्मा असंख्य "प्रदेश" का पिण्ड है। प्रदेश यानी अविभाज्य अंश— जिसके दो विभाग न हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्य परमाणुओं के संघात से बनता है, वैसे जीव असंख्य प्रदेशों के संघात से नही बनता, किन्तु आत्मा के असंख्य प्रदेश सदा संघात रूप में रहते हैं, कभी पृथक् नही होते। जितने स्थान का अवगाहन एक परमाणु करता है, उतने ही स्थान का अवगाहन एक प्रदेश करता है। आत्मा सावयवी या सप्रदेशी होते हुए भी ये आत्मा से कभी अलग नही होते, कभी टूटते नहीं।

प्रत्येक आत्म-प्रदेश के साथ कर्म पुद्गलों का संयोग होता है और कर्म के द्वारा उत्पन्न प्रभाव से आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में गमन करती रहती है। कर्म अपने आप मे जड़ है, फिर भी आत्मा के साथ बद्ध होने से उनमे आत्मा को प्रभावित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। कर्म को हम "चैतसिक-भौतिक बल" (Psycho-physical force) के रूप मे मान सकते है। यही बल आत्मा को पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। अनादिकाल से प्रत्येक जीव (आत्मा) जन्म-मृत्यु की शृंखला से गुजरता हुआ अपना अस्तित्व बनाए रखता है। यही जैन दर्शन का आत्मवाद और पुनर्जन्मवाद का सिद्धांत है।

अध्यात्मवाद बनाम भौतिकवाद

आस्तिक या अध्यात्मवादी एवं नास्तिक या भौतिकवादी दर्शन पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत करते है। सभी अस्तित्ववादी या आस्तिक दर्शन आत्मा को चैतन्यशील, जड़ पदार्थ से सर्वथा स्वतंत्र एवं अनश्वर अर्थात् मृत्यु के पश्चात् भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने वाला, स्वीकार करते हैं, जबकि भौतिकवादी या नास्तिक दर्शन आत्मा की स्वतंत्र

सत्ता को स्वीकार नहीं करते तथा मृत्यु के पश्चात् उसके अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। न्यायशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के ग्रन्थो मे इन दोनो मतों के प्रतिपादकों के पारस्परिक वाद-विवाद की विस्तृत चर्चाएं उपलब्ध होती हैं। ये चर्चाएं तर्क, अनुमान आदि प्रमाण के आधार पर की गई हैं। दोनों पक्षों की ओर से अपने-अपने मत को स्थापित कर विपक्ष को खण्डित करने की चेष्टा की गई है।

पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएं सामने आती हैं:—

१. यदि हमारा पूर्वभव होता, तो हमे उसकी कुछ-न-कुछ स्मृतियां होतीं।

२. यदि दूसरा जन्म होता, तो आत्मा की गति एवं आगति हम क्यों नहीं देख पाते ?

पहली शंका का हम बाल्य-जीवन की तुलना से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलियां हमे स्मरण नही आती, तो क्या इसका अर्थ होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नही थी ? एक-दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाएं स्मरण नहीं होतीं, तो भी अपने बचपन मे किसी को सदेह नही होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा में उड़ा सकते हैं ? पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जाग्रत हो जाए। जिसे 'जाति-स्मृति ज्ञान' [पूर्वजन्म-स्मरण] हो जाता है, वह अनेक जन्मों की घटनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

दूसरी शका एक प्रकार से नही के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसके दो कारण हैं:—

१. वह अमूर्त है; इसलिए दृष्टिगोचर नही होता।

२. वह सूक्ष्म है; इसलिए शरीर मे प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नहीं होता।

नहीं दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नही देखा जाता। इससे इसका अभाव थोड़े ही माना जा सकता है ? अंधकार मे कुछ नही दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहां कुछ भी नही है ? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नही होता।

अब हमें पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनिया में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त असत् से सत् बन जाए—जिसका कोई भी अस्तित्व नहीं, वह अपना अस्तित्व बना ले। अभाव से भाव एवं भाव से अभाव नही होता, तब फिर जन्म और मृत्यु, नाश और उत्पाद, यह क्या है ? परिवर्तन। प्रत्येक पदार्थ में परि-

वर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाता है, किन्तु न तो वह सर्वथा नष्ट होता है और न सर्वथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों में भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियों में भी परिवर्तन होता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं। जन्म का अर्थ अत्यन्त नयी वस्तु की उत्पत्ति नहीं और मृत्यु से जीव का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। केवल वैसा ही परिवर्तन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में चले जाते हैं। यह एक ध्रुव सत्य है कि सत्ता से असत्ता एवं असत्ता से सत्ता कभी नहीं होती। परिवर्तन को जोड़ने वाली कड़ी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर-जन्म दोनों उसकी अवस्थाएं हैं। वह दोनों मे एकरूप रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियों की शृंखला जुड़ती है। शरीरशास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं, सब अवयव नये बन जाते हैं। इस सर्वांगीण परिवर्तन में आत्मा का लोप नहीं होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा ?

जाति-स्मृति ज्ञान

जैन दर्शन की ज्ञान-मीमांसा में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—ये दोनों इन्द्रिय-ज्ञान के भेद हैं। जाति-स्मृति का अर्थ है—पूर्वजन्म की स्मृति।

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मति ज्ञान' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले अनेक समनस्क जीवनों की घटनावलिया जानी जा सकती हैं। पूर्वजन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व-परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवों को पूर्वजन्म की स्मृति नही होती, इसकी कारण-मीमांसा करते हुए आचार्य ने लिखा है—

> **"जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।**
> **तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो॥"**

—व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ हो जाता है; इसलिए साधारणतया उसे जाति की स्मृति नहीं होती।

एक ही जीवन में दुःख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) में स्मृति-भ्रंश हो जाता है, तब वैसी स्थिति में पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमें कोई आश्चर्य ती बात नहीं।

पूर्वजन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नहीं होते, फिर भी आत्मा के दृढ़-संस्कार और ज्ञान-बल से उसकी स्मृति हो आती है। इसलिए ज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान।

जाति-स्मरण ज्ञान की अगणित घटनाएं जैन साहित्य में उपलब्ध है। इसमें विशेषतः मेघकुमार (जो मगध-नरेश श्रेणिक बिम्बिसार का पुत्र था) को भगवान महावीर द्वारा जाति-स्मरण ज्ञान कराने की घटना उल्लेखनीय है। मेघकुमार को अपने पिछले जन्म मे हाथी के जन्म की स्मृति हुई। उससे प्रेरित हो मेघकुमार प्रतिबुद्ध हुए।[1]

विभिन्न धर्म-दर्शनों में पुनर्जन्मवाद

प्रागैतिहासिक मानव सम्बन्धी खोजों से ज्ञात हुआ है कि आज से लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व भी निअडरथाल-मानव के मस्तिष्क मे आत्मा की अमरता के बारे मे कुछ अस्पष्ट से विचार अवश्य थे। मृतक को आदर-पूर्वक खाने-पीने की अनेकानेक वस्तुओं सहित दफनाया जाता था।

कुछ पाश्चात्य विद्वानो जैसे—वेबर, मैक्डोनल व विंटरनिट्स आदि का मत है कि जन्म-जन्मांतर का ऋग्वेद मे कही उल्लेख नहीं किया गया है व इस विचार का प्रवेश हिंदू-धर्म दर्शन मे परवर्ती युग मे हुआ है। किन्तु ऋग्वेद के अधिक गहन अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा की अमरता व जन्मांतर आदि के बारे मे मत्रभाग मे बीज रूप मे जो विचार है वे ही ब्राह्मण आरण्यक व उपनिषदों मे जाकर विकसित रूप में प्रस्फुटित हुए है। पुराणों, स्मृतियों, रामायण व महाभारत आदि ग्रथो मे तो पुनर्जन्म-संबंधी अनेकानेक विस्तृत उल्लेख मिलते ही है। बौद्ध धर्म में भी पुनर्जन्म के विषय में 'जातक' साहित्य उपलब्ध है।

विश्व के अन्य दो प्रमुख धर्मों—ईसाई व इस्लाम के अनुयायी प्रायः पुनर्जन्म में आस्था नही रखते, किंतु यह उल्लेखनीय है कि बाइबिल व कुरान आदि ग्रन्थो मे पुनर्जन्म-समर्थक विचारों की ओर अनेक आधुनिक विद्वानों ने ध्यान आकर्षित करते हुए यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वास्तव मे ये धर्म भी पुनर्जन्म के विचार के विरोधी नही है।

अपनी एक पुस्तिका 'दू केस फार रिइंकारनेशन'[2] मे लेखक श्री लेस्ली डी वेदरहेड ने ईसाई मत के सन्दर्भ मे इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ईसा ने यद्यपि पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादन नही किया है, किन्तु साथ ही उन्होंने कभी इसका विरोध भी नही किया। वस्तुतः उनके समय मे यहूदी धर्म मे यह विचारधारा पहले से ही प्रचलित थी। प्राचीन चर्च पुनर्जन्म का समर्थक था—ईसा से ५५३ वर्ष बाद 'कांस्टनटिपोल' की सभा के बाद ही २ के विरोध मे ३ मतो से इसको अस्वीकार किया गया। ओरिजेन, संत आगस्तीन व असीसी के संत फ्रान्सिस ने फिर भी अपने ग्रंथों

---

१. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्ययन १; युवाचार्य महाप्रज्ञ कृत सम्बोधि।'
२. वैदरहेड, लेस्ली डी०, 'द् केस फॉर रीइंकारनेशन', बेलमॉन्ट, १९६३।

में इस विचार का समर्थन ही किया है ।[1]

इसी तरह, कुरान की निम्न आयतों में भी पुनर्जन्म के विचार का समर्थन देखा गया है : "क्यों कुफ्र करते हो साथ अल्लाह के और थे तुम । मुर्दे पस जिलाया तुमको, फिर मुर्दा करेगा तुमको, फिर जिलाएगा तुमको, फिर उसके फिर जाओगे ।" (सू० रू० ३, आयत ७)

"अल्लाह वह है जिसने पैदा किया तुमको, रिज्क दिया तुमको, फिर जिलायेगा तुमको ।" (सू० र० ३० रू० ४ आयत १३)

श्री ई० डी० वाकर ने अपनी पुस्तक 'रिइंकारनेशन' में लिखा है, "अरब दार्शनिकों का यह एक प्रिय सिद्धांत था और अनेक मुसलमान लेखकों की पुस्तकों में इसका उल्लेख अभी भी देखा जा सकता है ।"[2]

प्राचीन यूनानी विचारक-विद्वान पाइथागोरस, सुकरात, प्लेटो, प्लूटार्क, प्लाटीनस आदि के विचारों में भी हमें "पुनर्जन्म' की आस्था की स्पष्ट झलक मिलती है । पाश्चात्य विद्वानों ने पुनर्जन्म के लिए रिबर्थ, मैट-मसाइकोसिस, ट्रासमाइग्रेशन, पोलिजेनिसिस व रिएम्बार्डीमेंट आदि विभिन्न शब्दों का कभी-कभी एक ही—कभी कुछ भिन्न-से अर्थों मे प्रयोग किया है । पुनर्जन्म में विश्वास प्रकट करने वाले अन्य अनेक दार्शनिकों, लेखकों व कवियों में स्पिनोजा, रूसो, शैलिंग, इमर्सन, ड्राइडन, वर्ड्सवर्थ, शैली व ब्राऊनिंग आदि की गणना की जा सकती है । जोसेफहीड व क्रेसटन ने सवा तीन सौ पृष्ठ की एक पुस्तक 'रिइकारनेशन' मे विश्व के विभिन्न धर्मों में व्याप्त दार्शनिकों, कवियो व वैज्ञानिकों आदि के पुनर्जन्म सबंधी विचारो का संकलन प्रस्तुत किया है ।[3]

वस्तुतः इतिहास के प्रत्येक युग में विश्व-भर के सभी दर्शनों-धर्मों में व जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शीर्षस्थ स्थान रखने वाले व्यक्तियो के विचारों में पुनर्जन्म को महत्त्व दिया गया है ।

तार्किक आधारों पर खण्डन-मण्डन का क्रम प्राचीन काल में ही नहीं, आधुनिक दार्शनिकों में भी चला है । आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डॉ० मेकटेगार्ट जहां पुनर्जन्म के पक्षधर है, वहां पिंगल-पेटिसन आदि उनके विपक्षी हैं । डॉ० टी. जी. कलघटगी ने तो इसके तार्किक प्रामाण्य को असंभव और

१. वेंदरहैड, लेस्ली डी०, द् केस फॉर रीइंकारनेशन, बेलमॉन्ट, १९६३, पृ० ४ ।
२. वॉकर ई० डी०, 'रीइंकारनेशन—ए स्टडी ऑव फॉरगैटन ट्रुथ', यूनिवर्सिटी बुक्स, न्यूयार्क, १९६५ ।
३. हैड जॉसेफ व क्रेन्सटन, एस० एल०, 'रीइंकारनेशन—एन ईस्ट-वेस्ट एन्थोलॉजी द् जूलियन प्रेस, न्यूयार्क, १९६१ ।

अनपेक्षित माना है। उनके अनुसार यह विशिष्ट द्रष्टाओं के परम ज्ञान और अनुभूति के द्वारा व्यक्त सिद्धांत है। पर डॉ० मेकटेगार्ट ने पुनर्जन्म की वास्तविकता को तार्किक आधारों पर प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार यदि यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान जीवन के पूर्व और पश्चात् भी जीवन है, तो पूर्वजन्म के साथ अनश्वरता का सिद्धांत भी अपने आप सिद्ध हो जाता है। पुनर्जन्म के विपक्षियो द्वारा सबसे प्रबल तर्क यही दिया गया है कि पूर्वजन्म की कोई स्मृति हमे नही है। पिगल-पेटिसन ने डॉ० मेकटेगार्ट की इस मान्यता को कि—"आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है जिसमे त्रैकालिक अस्तित्व सदा अमर बना रहता है," समर्थ तर्काधारित मानने से इसलिए इनकार किया है कि पूर्वजन्म की स्मृति के अभाव मे आत्मा की सततता की अनुभूति नही होती। यदि पूर्वजन्म की स्मृति वास्तविक तथ्य के रूप में प्रमाणित हो जाती है, तो पुनर्जन्म का सिद्धात स्वत. सिद्ध हो जाता है। डॉ० कलघटगी ने पूर्वजन्म की स्मृति के प्रमाण को पुनर्जन्म की मान्यता को सिद्ध करने के लिए यथार्थ माना है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म स्मृति वास्तविक अस्तित्ववादी (आस्तिक) दर्शन के लिए एक ऐसा सबल एवं प्रत्यक्ष प्रमाण बन जाता है जिसके लिए फिर तर्क या अनुमान की आवश्यकता नहीं रह जाती।

वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर "पुनर्जन्मवाद" का प्रामाण्य दो बातों पर आधारित हो जाता है (१) पूर्वजन्म-स्मृति की घटनाएं वास्तविक हैं या नहीं, इसे प्रमाणित करना। (२) यदि ये घटनाएं वस्तुतः ही घटित हैं, तो इन घटनाओ की व्याख्या करने मे पुनर्जन्मवाद की परिकल्पना ही केवल सक्षम है, इसे प्रमाणित करना। यदि इन दोनो बातो को सिद्ध कर दिया जाता है, तो आत्मा का स्वतंत्र एव शाश्वत अस्तित्व एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्थित हो जाता है।

परामनोविज्ञान

पुनर्जन्म के विषय में वैज्ञानिक अनुसंधान का कार्य परामनोविज्ञान के क्षेत्र में किया गया है। इससे पूर्व कि परामनोविज्ञान के क्षेत्र में इस सम्बन्ध में क्या कार्य हुआ उसकी चर्चा करें, हम परामनोविज्ञान के इतिहास के विषय में पहले संक्षिप्त चर्चा कर लें ताकि वैज्ञानिक क्षेत्र में पुनर्जन्म, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शक्ति आदि परासामान्य विषयों के अनुसंधान के क्रमिक विकास से हम परिचित हो सकें।

परासामान्य घटनाओं के वैज्ञानिक अनुसंधान का प्रारम्भ "प्रेतात्मा" या "भूतावेश" सम्बन्धी घटनाओं के अध्ययन से होता है। सन् १९५७ में The Book of the Spirits का प्रकाशन हुआ।

प्रेतात्माओं के अस्तित्व, उनसे वार्तालाप करने की संभावना आदि आस्थाओं के आधार पर अनेक नैतिक मान्यताओं व आचारों का प्रतिपादन करते हुए एक नये आंदोलन—प्रेतिकवाद (स्पिरिच्युअलिज्म) का प्रादुर्भाव हुआ और शनैः शनैः इसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई।

प्रेतत्व संबंधी प्रघटनाओं के विस्तार, प्रभाव व उनके प्रति जागृत अभिरुचियों ने अनेक दार्शनिकों, विद्वानों व वैज्ञानिकों को झकझोर डाला। इन सभी घटनाओं के पीछे वास्तव में सत्य क्या है व उसे कैसे जाना जा सकता है ? क्या कोई ऐसा प्रयास किया जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के विवाद-रहित, सुनिश्चित उत्तर सर्व-सुलभ हो सकें ?

लगभग इसी समय विद्वानों, विचारकों व वैज्ञानिकों को कुछ अन्य मिलती-जुलती-सी प्रघटनाओं की अव्याख्येयता की चुनौती का सामना करना पड़ रहा था। इन प्रघटनाओं का सम्बन्ध मूलतः मन की एक विशिष्ट अवस्था से था जिसे आज 'सम्मोहन' (हिप्नोटिज्म) कहा जाता है।

वैसे तो १७७९ में मैस्मर द्वारा रोगियों के उपचार के लिए इस पर आधारित एक नई पद्धति का आविष्कार कर लिया गया था। उसके अनुसार "ब्रह्माण्डीय मण्डल, पृथ्वी व जीवित प्राणी परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।" यह प्रभाव एक सर्वव्यापी द्रव के माध्यम से पड़ता है। यह द्रव मनुष्य के शरीर में स्नायु तत्त्वों द्वारा प्रसारित रहता है जो मनुष्य के शरीर को चुम्बकीय विशेषताएं प्रदान करता है। मैस्मर का विचार था कि यदि इस द्रव को निश्चित प्रकार से निर्दिष्ट किया जाए, तो उससे सभी प्रकार के रोगियों का उपचार संभव है।

इस समय मैस्मर के उपचार की धूम मची हुई थी। पर इस बात पर विवाद उत्पन्न हो गया कि उपचारों की प्रभावोत्पादकता किसी जैविक चुम्बकत्व (एनीमल मैगनेटिज्म) के कारण है अथवा मानसिक कल्पनाशक्ति के कारण। दोनों मतों के बीच विवाद आज तक पूर्णतः सुलझा नहीं है।

मैस्मर के रोगी यद्यपि हिस्टीरिया के लक्षण यथा, संज्ञाशून्यता, ऐंठन व अतिउत्साह आदि प्रदर्शित करते रहे थे, लेकिन उनमें अभी तक कोई परा-सामान्य लक्षण नहीं उभरा था। १८७४ के करीब मैस्मर का एक शिष्य मारक्विस डी. प्यूसेगर एक बार कुछ किसानों का उपचार कर रहा था। उपचार के दौरान उसने देखा कि उसका एक २३ वर्षीय किसान एक विचित्र प्रकार की निद्रा में लीन होकर हंसने, बोलने व अन्य दैनन्दिनी क्रियाओं को पूर्व की अपेक्षा और भी अधिक बुद्धिमत्ता से सम्पन्न करने लगा है। और,

सबसे विचित्र बात तो यह थी कि उसने स्वय ही अपने रोग का पूरा विवरण और उपचार बताया। धीरे-धीरे अन्य रोगी भी ऐसा करने लगे। अब वे स्वयं अपने चिकित्सक ही नहीं हो गये, वे उपचारकर्ता के विचारों को भी पढ़ने लगे। छुपाई हुई वस्तुओं को ढूंढ निकालने लगे—यहां तक कि सही-सही भविष्यवाणियां भी करने लगे। अन्य कई और व्यक्ति प्यूसेगर की विधि से रोगियों को इसी तरह की स्थिति में, जिसे बाद में 'सोमनाम्ब्यूलिज्म' (निद्राचार) कहा गया, लाने लगे। एक व्यक्ति ने इस अवस्था में पेट से सुनने व अंगुलियों के पोरों से देखने की शक्ति प्रदर्शित की। जागृत 'सोमनाम्ब्यूलिज्म' की खोज बडी आकर्षक रही। शीघ्र ही स्थान-स्थान पर इस तरह के प्रयोग किये जाने लगे। कुछ चिकित्सों ने 'चुम्बकीय-निद्रा' के दौरान रोगियों पर वेदनारहित शल्य-चिकित्सा भी की। आज तो यह आम बात है किन्तु उस समय इन बातों से वैज्ञानिक क्षेत्रों में बड़ी उथल-पुथल हुई।

१८४१ के लगभग मैनचेस्टर के एक डॉ० जेम्स ब्रेड ने बहुत-प्रयोग करके यह विचार रखा कि मैगनेटिज्म, सोमनाम्ब्यूलिज्म व सुझाव-ग्रहणशीलता तीनों में मन की एक समान विशिष्ट अवस्था विद्यमान रहती है। ब्रेड ने ही सर्वप्रथम 'हिप्नोटिज्म' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया।

उन्नीसवी शताब्दी की ही तीसरी प्रमुख विचारात्मक शक्ति जिसे हम 'परासामान्य' के अध्ययन की मुख्य प्रेरक शक्तियों मे से एक मान सकते है वह है भौतिक विद्वानो द्वारा विकसित विश्व-संदर्भ (वर्ल्ड परस्पेक्टिव)। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त व गति के तीन नियमो के आधार पर भौतिक शास्त्रियो व गणितज्ञों को शीघ्र ही यह लगने लगा कि सृष्टि का हर रहस्य उन्होने उद्घाटित कर लिया है। सम्पूर्ण सृष्टि एक विशाल यन्त्र या मशीन की भांति है। उसके मूल तत्त्व है छोटे-छोटे अणु, विलियर्ड गेंद की भांति एकदम ठोस। ये अणु एक सर्वव्यापी ईथर में चक्राकार गति से घूमते रहते हैं। अणुओं की सभी गतियां पूर्णतः कार्य कारण के नियमो से नियमित रहती है। भौतिक-गणितीय संदर्भ मे कुछ भी विसंगत, अव्यक्त, अव्यवस्थित या अतार्किक नही था। जगत् में सभी कुछ व्याख्येय था। प्रकृति के सभी नियम स्पष्ट व अटूट है। सभी कुछ एन्द्रियानुभविक (इम्पीरिकल) था। बिना इन्द्रियों के किसी अन्य भविष्यबोध आदि की बातें केवल मूर्खतापूर्ण बकवास ही हो सकती थी। परासामान्य को विज्ञान के क्षेत्र मे कोई स्थान नही था। इस तरह उन्नीसवी शताब्दी तक विज्ञान के विविध अन्वेषकों ने यह लगभग सिद्ध ही कर दिया था कि सारी सृष्टि सम्पूर्ण प्रकृति मात्र कुछ भौतिक शक्तियों की ही एक व्यवस्था है।

अस्तु, एक ओर प्रेतिकवाद के उदय के साथ ही आत्मा, प्रेतात्मा, अतिजीवन, मृतात्मा-आवाहन व उनसे संदेश-प्राप्ति आदि से संबंधित घट-

नाओं की बाढ़ और उसके साथ-ही-साथ जैविक चुम्बकत्व, सम्मोहन, सुझाव-ग्रहणशीलता आदि के प्रयोग में अभिव्यक्त अतीन्द्रिय बोध के लगभग अकाट्य प्रमाणों का अभ्युदय, इन दोनों का विज्ञान की भौतिकवादी मूल स्थापनाओं से सीधा टकराव : परिणाम-स्वरूप जगह-जगह संवेदनशील विचारकों को यह सोचने को बाध्य होना कि यथार्थ को निश्चित रूप से कैसे जाना जाए। मान्यताओं में विवाद चाहे जितना भीषण रहा हो, इस बारे में अब लगभग मतैक्य था कि विवाद का निपटारा किस मार्ग से संभव है। यह मार्ग है—प्राक्कल्पनाओं (हाइपोथीसिस), प्रेक्षणों (आवजर्वेशन) व प्रयोगों (एक्स-पेरीमेन्ट्स) का यानी विज्ञान का। परिणामस्वरूप हुआ—एक नवीन विज्ञान का उद्‌भव—सभी प्रकार की परासामान्य प्रघटनाओं का पूर्वाग्रह-मुक्त दृष्टि से वैज्ञानिक विधियों द्वारा अध्ययन करने वाले विज्ञान—परामनोविज्ञान का।

१९३४ में ही कुछ ऐसे प्रयोग किए गए, जिनसे कि 'मनःप्रभाव' (साइकोकाइनेसिस) यानी मन द्वारा पदार्थ को प्रभावित करने की क्षमता की जांच की जा सके। अनेक वर्षों तक किए गए प्रयोगों के आधार पर यह भी लगभग सिद्ध कर दिया गया कि व्यक्तियों में मनःप्रभाव की शक्ति भी होती है।

१९४८ में जब डॉ० राइन ने 'रिच आफ द् माइंड' नामक पुस्तक प्रकाशित की तब तक परामनोविज्ञान स्पष्टतः एक विज्ञान के रूप में उभर-कर आने लगा था। इसका अपना ही एक विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र उभरा जिस पर अन्य किसी विज्ञान का दावा नहीं था। इस क्षेत्र की स्पष्ट सीमाएं भी थी और इसकी अध्ययन-वस्तु को वर्गीकृत भी किया जा सकता था। विभिन्न प्रकार की वर्गीकृत श्रेणियों के अध्ययन हेतु उपयुक्त पद्धति-विज्ञान (मेथडोलॉजी) भी विकसित कर लिया गया है।

१९६२ में डॉ राइन ने ड्यूक विश्वविद्यालय से अलग एक प्रतिष्ठान की स्थापना करके उसके तत्वावधान में कार्य करना प्रारम्भ किया। इस प्रतिष्ठान को नाम दिया गया 'फाउंडेशन फॉर रिसर्च इन्टू द् नेचर ऑव मैन'।

इस शताब्दी के छठे दशक में अमेरिका में व्यावसायिक परामना-वैज्ञानिक शोधकर्ताओं के एक सगठन 'पैरासाइकोलॉजीशन एसोसिएशन' की स्थापना की गई। इस संगठन ने तीन बार यह प्रयत्न किया कि अमेरिका में विज्ञान की सबसे बड़ी संस्था 'अमेरिकन एसोसिएशन फॉर द् एडवान्समेंट ऑव साइंस' द्वारा परामनोविज्ञान को एक विज्ञान के रूप में मान्यता प्रदान की जाए, लेकिन इस दावे को सदा अस्वीकार किया गया।

१९६९ में पैरासाइकोलॉजिकल एसोसिएशन ने मान्यता-प्राप्ति हेतु पुनः प्रयत्न किया। अमेरिकन एसोसिएशन फॉर द् एडवांसमेंट ऑव

साइंस जो अमेरिका का सर्वोच्च वैज्ञानिक प्रतिष्ठान है के द्वारा परामनोविज्ञान को मान्यता मिल गई।

आज विश्व के लगभग सभी देशों में सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा परामनोवैज्ञानिक शोध-कार्य किया जा रहा है।

पुनर्जन्म पर परामनोविज्ञान में अनुसन्धान : इतिहास

पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में भी श्री फील्डिंग हाल ने उनके द्वारा बर्मा में अध्ययन किये गये ६ पुनर्जन्म वृत्तांतों को प्रकाशित किया था, किन्तु गभीर एवं व्यवस्थित ढंग से पुनर्जन्म की साक्षियों की जांच प्रारम्भ करने का श्रेय भारत के रायबहादुर श्यामसुदरलाल को, जो कि किशनगढ़ (राजस्थान) के दीवान रहे, दिया जा सकता है। सन् १९२२-२३ में आपने अपने एक साथी श्री रामगोपाल मिश्र के सहयोग से पुनर्जन्म के वृत्तान्तों की खोजबीन हेतु एक 'फार्मर लाइफ रिसर्च एसोसिएशन' का गठन किया।

पाश्चात्य देशों मे भी यदा-कदा उभर आने वाली पूर्वजन्म की स्मृतियों के वृत्तांतों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होने लगा। श्री गेब्रियल डिलेनी ने १९२४ में अपने परिचित व स्वयं के अध्ययन किये हुए कुछ पुनर्जन्म की स्मृतियों के वृत्तांत एक पुस्तक में प्रकाशित किये। कुछ वर्ष पश्चात् एक अन्य विद्वान श्री रॉल्फ शिर्ले ने कुछ डिलेनी द्वारा वर्णित व कुछ स्वय अध्ययन किये हुए पूर्वजन्म की स्मृतियों के विवरण 'द् प्राब्लम आफ रिबर्थ' नामक पुस्तक में प्रकाशित किये।

भारत मे केकयी नन्दन सहाय, एस० सी० बोस, हेमेन्द्र नाथ बनर्जी, कीर्ति स्वरूप रावत आदि द्वारा इस दिशा मे विशेष प्रयत्न किए गए।

सौभाग्य से पिछले १५ वर्षों से इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है। विश्व के वैज्ञानिकों का ध्यान काफी अर्से से इन घटनाओं की ओर खींच चुका था। विश्व में अनेक स्थानों पर परामनोविज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति से शोध कार्य करने के लिए जो शोध-संस्थान स्थापित हुए हैं, उनमे इन पूर्व-जन्म-स्मृति घटनाओं का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जा रहा है। पैंसिलवेनिया विश्वविद्यालय, क्लार्क विश्वविद्यालय (वोरसेस्टर मेसेच्यूसट्स), स्टेण्डफोर्ड विश्वविद्यालय, हारवार्ड विश्वविद्यालय, ड्यूक विश्वविद्यालय, लिडन विश्वविद्यालय, उट्रेस्ट विश्वविद्यालय (हॉलेण्ड), केम्ब्रीज विश्वविद्यालय, फ्राईबर्ग विश्वविद्यालय (प० जर्मनी), पिट्सबर्ग विश्वविद्यालय, सेंट लोसेफ्ज कॉलेज (फिलाडेलफिया), वेलेण्ड कॉलेज (प्लेनव्यू, टैक्सास), नेशनल लिटोरल विश्वविद्यालय (रोजादियो, आर्जेन्टीना) लेनिनग्राड स्टेट विश्वविद्यालय (यू. एस. एस. आर.) किंग्स कॉलेज विश्वविद्यालय (हेलिफैक्स) तथा विर्जिनिया विश्वविद्यालय के

अन्तर्गत विश्व के बीसों चोटी के वैज्ञानिक, मनश्चिकित्सक एव मनोविज्ञान-विद् परामनोविज्ञान के क्षेत्र में शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य कर रहे हैं।

पूर्व-जन्म-स्मृति या ऐसी अन्य परा-सामान्य घटनाओं का सर्वेक्षण, सत्यता की जांच, तथ्यों का विश्लेषण, संबधित साक्षियों का परीक्षण आदि का निष्पक्ष एवं वस्तु-सापेक्ष (ऑब्जेक्टिव) अध्ययन किया जा रहा है।

उदाहरणस्वरूप हम विर्जिनिया विश्वविद्यालय के अन्तर्गत चल रहे कार्य की चर्चा यहां कर रहे हैं। विर्जिनिया विश्वविद्यालय के अन्तर्गत "स्कूल ऑफ मेडिसिन" में सायक्याट्री विभाग का "परामनोविज्ञान संभाग" व्यवस्थित रूप से इस शोध कार्य में लगा हुआ है। डॉ० ईयान स्टीवनसन, एम. डी. स्वयं एक सुप्रसिद्ध मनश्चिकित्सक हैं, तथा "कार्लसन प्रोफेसर ऑफ सायक्याट्री" के रूप मे इस विभाग का निदेशन कर रहे है। डॉ० स्टीवनसन एवं उनके निदेशन में शोधरत दल विश्व के विभिन्न देशों में घटित पूर्व-जन्म-स्मृति की घटनाओं के सर्वांगीण अध्ययन एवं शोध में संलग्न है। भारत के अतिरिक्त सिलोन, बर्मा, थाईलैण्ड, लेबनान, ब्राजील, अलास्का आदि देशों से उक्त प्रकार की घटनाओं की जानकारी उन्हें प्राप्त हुई हैं तथा इस सिलसिले में अनेक बार इन देशो की यात्राएं की हैं। डॉ० स्टीवनसन मनोविज्ञान (सायकोलोजी) के अभिनव विश्लेषणों और सिद्धांतों के प्रकाण्ड विद्वान हैं। उनका समग्र अध्ययन एक गहरी और पैनी दृष्टि लिए हुए है। घटनाओं के जांच-कार्य में उनमें वकील का चातुर्य और तर्क की प्रबलता स्पष्ट परिलक्षित होती है। विभिन्न देशों की संस्कृति, धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल आदि से संबंधित अपेक्षित ज्ञान की मौलिक एवं पूर्ण जानकारी भी वे रखते हैं।

डा० स्टीवनसन द्वारा लिखित "दी एविडेंस फार सरवाइवल फ्रोम क्लेइम्ड मेमोरिज ऑफ फोर्मर इनकारनेशनस" सन् १९६० में जर्नल ऑफ अमेरिकन सोसायटी ऑफ सायकिकल रिसर्च में प्रकाशित होकर १९६१ मे पुस्तक-रूप में इंग्लैण्ड से प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन् १९६६ में बीस घटनाओं के सम्पूर्ण एवं समीक्षात्मक अध्ययन पर आधारित उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "ट्वेण्टी केसेज सजेस्टीव ऑफ रिइनकारनेशन" प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् भी समय-समय पर इस विषय में उनके लेख एवं पुस्तकें प्रकाशित होती रही है। इस दिशा मे निरंतर कार्य हो रहा है। घटनाओं में भी काफी वृद्धि हुई है। सन् १९६९-७० में दो वर्षों के अन्दर ही भारत में १०८ एवं बर्मा में ८० घटनाएं प्रकाश मे आई। उदाहरण-स्वरूप ब्राजिल की एक घटना का उल्लेख किया जा रहा है:—

ब्राजील में अढाई-वर्ष की बालिका को पूर्व-जन्म की स्मृति—

सन् १९१८ अगस्त की १४ तारीख को ब्राजिल देश में डोम फेलिसियानो नामक एक छोटे गाव मे रहने वाले एक परिवार में एक बालिका का जन्म हुआ। पिता एफ व्ही. लौरेंज तथा माता ईदा लौरेंज ने उसका नाम मार्टा रखा। मार्टा जब अढाई वर्ष की हुई थी—एक दिन वह अपनी बहिन लीला के साथ घर से थोड़ी दूर आए हुए एक नाले पर गई थी। यहां से वापिस घर लौटते समय उसने लीला से कहा—"मुझे गोद मे उठाकर ले चलो। जब पहले तू छोटी थी और मैं बड़ी थी तब मैं तुझे गोद में उठाकर घुमाती थी।" छोटी बहिन के मुंह से इस प्रकार की बात सुनकर बडी बहिन को हंसी आ गई। उसने पूछा—तुम बड़ी कब थी?

मार्टा ने कहा—उस समय मैं इस घर मे नहीं रहती थी। मेरा घर यहां से काफी दूर था। वहा अनेक गाय, बैल आदि हमारे घर पाले हुए थे तथा नारंगी के पेड थे। वहां कुछ बकरे जैसे पशु भी पाले हुए थे पर वे बकरे नहीं थे।

इस प्रकार बातचीत करते हुए मार्टा और लीला जब घर पहुची, लीला ने सारी बात अपने माता-पिता से कही। पिता ने मार्टा से कहा—जिस घर की तुम चर्चा कर रही हो वहा हम कभी नही रहे।

मार्टा ने तुरन्त उत्तर दिया—उस समय आप हमारे माता-पिता नही थे, वे दूसरे थे।

छोटी बच्ची की पागल की-सी बाते सुनकर उसकी एक अन्य बहिन ने मजाक मे ही मार्टा से पूछा तब फिर तुम्हारे घर एक छोटी हब्सी नौकरानी (लडकी) भी थी, जैसे अपने घर में अभी है!

मार्टा इस मजाक से बिल्कुल भी बैचेन नही हुई। उसने कहा—ना, हमारे घर मे जो हब्शी नौकरानी थी, काफी बडी थी। एक रसोईयन भी हब्शी थी तथा वहां दूसरा एक हब्शी लडका भी काम करता था। एक बार वह लडका बेचारा पानी लाना भूल गया था, तब मेरे पिता ने उसे बहुत पीटा था।

पिता (एफ. व्ही लौरेंज) बोले—मेरी प्यारी बेटी, मैंने तो कभी हब्शी बच्चे को नही पीटा है।

मार्टा बोली—पर वह तो मेरे दूसरे पिता थे। ज्योंही उस लड़के को पिताजी ने पीटना शुरू किया वह लड़का मुझे बुलाता हुआ चिल्लाने लगा—अरे सिह्ला जिह्ला! मुझे बचाओ। मैंने तुरन्त पिताजी से निवेदन किया—उसे छोड़ दो और फिर वह पानी भरने चला गया।

एफ. व्ही. लौरेंज ने पूछा—तो क्या वह नाले पर पानी भरने चला गया?

मार्टा ने कहा—ना पिताजी ! वहां आसपास में कहीं नाला नहीं था, वह कुए से पानी लाता था। पिता ने पूछा, बेटी वह सिह्ला जिह्ला कौन थी। मार्टा ने कहा—वह तो मैं ही थी। मेरा दूसरा नाम भी था। मुझे मारिया भी कहते थे और एक नाम और भी था जो कि मुझे याद नहीं है।

इसके पश्चात् तो मार्टा ने और भी अनेक बातें अपने पूर्व जन्म के संबंध में बताई। उसने यह भी बताया कि "मेरी इस जन्म की माता ईदा लौरेंज पूर्व जन्म मे मेरी सखी थी। मैं (सिह्ला-जिह्ला) अपनी सखी के घर आती-जाती रहती थी और इस दौरान मै लीला को खिलाती थी तथा उसे गोद में उठाकर घुमाती थी। एफ. व्ही. लौरेंज के पुत्र कार्लोस की मैं (सिह्ला जिह्ला) धर्म-माता बनी थी। जब ईदा मेरे घर आती तो मैं उसके लिए काफी बनाती और फोनोग्राफ बजाती। मेरे पूर्वजन्म के पिता आयु में एफ. व्ही. लौरेंज से बड़े थे। लम्बी दाढी रखते थे तथा बड़े कर्कश आवाज में बोलते थे। मेरी शादी नहीं हुई थी। पर मैं जिस पुरुष से से प्रेम करती थी, मेरे पिताजी उसे पसन्द नही करते थे। उस पुरुष ने आत्म-हत्या कर ली। इसके बाद एक दूसरे व्यक्ति से मेरा प्रेम हो गया। उसे भी मेरे पिताजी पसन्द नही करते थे। इससे मैं बहुत दुःखी और निराश हो गई। मेरे पिता ने मुझे खुश करने के लिए समुद्रतटीय प्रदेश में घूमने-फिरने का कार्यक्रम बनाया जहां मैंने अपने शरीर के प्रति लापरवाह होकर ठण्डी और नम हवा मे अपर्याप्त वस्त्रो के साथ घूमना शुरू किया और उसके परिणामस्वरूप मुझे टी. बी. की बीमारी हो गई। इस बीमारी के बाद कुछ ही महीनों में मेरी मृत्यु हो गई। जब मैं मृत्यु-शैय्या पर थी, मेरी प्यारी सखी ईदा मेरे पास थी। उस समय मैंने ईदा से बताया कि मैं जान-बूझकर बीमार हुई थी, मैं मरना चाहती थी। मरने के बाद मैं तुम्हारी पुत्री के रूप मे पुनः जन्म लूंगी और बोलने जितनी उम्र होने पर पूर्व जन्म की बातें तुम्हें बताऊगी, जिससे तुम्हें विश्वास हो जाएगा कि मैं (सिह्ला-जिह्ला) ही तुम्हारी पुत्री बनी हूं।"

सिह्ला-जिह्ला की मृत्यु सन् १९१७ के अक्टूबर मे हुई थी, जिसके लगभग दस महीने पश्चात् अर्थात् १४ अगस्त १९१८ को मार्टा का जन्म हुआ था। मार्टा ने लगभग १२० बातें अपने पूर्व जन्म के संबंध में बताई जिनमें से कुछ बातें तो ईदा (मार्टा की माता) और एफ. व्ही. लौरेंज जानते थे। कुछ बातें ऐसी भी थी जिनका इनको पता नही था पर उसकी पुष्टि सिह्ला-जिह्ला के अन्य पारिवारिक सदस्यों ने की। सन् १९६२ में जब डॉ० ईयान स्टीवनसन ने मार्टा से भेंट की उस समय भी उसे अपने पूर्व जन्म की अनेक बातें याद थीं।

ऐसी एक दो या दस बीस नहीं, बारह सौ से भी अधिक घटनाएं

विश्व भर में विभिन्न देशों में प्रकाश में आई हैं।

डॉ० कुलश्रेष्ठ ने भी एक सन्त सद्गुरू केशवदासजी के द्वारा बताई गई दो घटनाओं का उल्लेख किया है। एक में एक इटली के डेन्टिस्ट डॉ० गेस्टोन द्वारा अपना पूर्व जन्म भारत में कांचीपुरम स्थित किसी मंदिर के पुजारी के रूप में बताया तथा मंदिर की सम्पूर्ण पूजा-विधि का ज्ञान होने का दावा किया तथा दूसरी घटना मे न्यूयार्क में एक नीग्रो व्यक्ति ने स्वामी केशवदासजी की सभा में अपनी पूर्व जन्म की स्मृति के आधार पर "ललित सहस्रनाम" कण्ठस्थ रूप से सुनाना प्रारंभ किया तथा उसने भी अपना पूर्व जन्म भारत में बताया।

अहमदाबाद में एक बालक मनोज द्वारा अपने पूर्व जन्म के समग्र परिवार को पहिचानने की बात सामने आई। मनोज ने, जो कि सातेक वर्ष का बालक था, अपने पूर्व जन्म की पत्नी तथा दो बच्चों के विषय में जानकारी दी तथा उन्हें इस जन्म में पहिचान लिया। मनोज के शरीर पर गोली के चिह्न भी थे, जो उसके बयान के अनुसार उसके पिछले जन्म मे लगी थी। मनोज का एक हाथ बड़े आदमी की तरह पूरी तरह मोटा और विकसित था तथा दूसरा हाथ साधारण बच्चे की तरह था।

जयपुर की एक लडकी अमिता (उम्र लगभग १० वर्ष) अपनी छोटी उम्र से ही अपने को महारानी गायत्रीदेवी कॉलेज की एम ए. की पोलिटिकल साइन्स विषय की छात्रा बताती थी। उसने अपने पुराने घर और परिवार को खोज निकाला तथा छत पर से गिरने के कारण अपनी मृत्यु का बयान दिया, जो जाच करने पर सही पाया गया।

पूर्वजन्म संबंधी अनेक ऐसे वृत्तांत पाये गये हैं जिनमे लिंग-परिवर्तन वर्णित किया गया है। ब्राजील के पोलो लारेंज का यह वृत्तांत इसी तरह के वृत्तांतो में से है:

"मां, अब तुम मुझे अपने पुत्र के रुप में लो, अब मैं तुम्हारा पुत्र बनकर जन्म लूगी।" श्रीमती इडा लोरेंज नामक एक महिला को तीन बार मृतात्मा-आह्वान सबधी बैठको (सियान्स) में यह सदेश मिला। सदेश देने वाली, कोई और नही, उन्ही की पुत्री इमिलिया की कथित मृतात्मा थी।

इमिलिया लोरेंज एफ. बी. लोरेंज व इडा लोरेंज की दूसरी सतान व सबसे बड़ी पुत्री थी। उसका जन्म ४ फरवरी १९०२ को हुआ था। उसका नाम 'इमिलिया', उससे पूर्व उत्पन्न एक पुत्र—जिसकी कुछ वर्ष पूर्व शैशवास्था मे ही मृत्यु हो गई थी—'इमिलियो' पर रखा गया था।

सभी प्राप्त सूचनाओं से ज्ञात हुआ कि अपने छोटे-से जीवन में इमिलिया सदा अत्यन्त दु:खी रही। वह हमेशा स्वय को इस बात के लिए ही कोसती रही कि वह लड़की क्यों है, लड़का क्यों नहीं। अनेक बार उसने

अपने भाई-बहिनों से कहा भी कि यदि वास्तव में पुनर्जन्म होता है तो वह अगले जन्म में पुरुष ही होगी। उसके विवाह हेतु अनेक प्रस्ताव आये, लेकिन उसने सभी को ठुकरा दिया। हीन व निराशापूर्ण भावनाओं से ग्रसित उसने अनेक बार आत्महत्या करने का प्रयास किया। एक बार विष खा भी लिया, लेकिन उसे बहुत-सा दूध पिलाकर बचा लिया गया। किन्तु अन्त में १२ अक्टूबर, १९२१ को उसने एक बहुत तेज जहर लेकर आखिर अपने जीवन का अन्त कर ही दिया।

इमिलिया की मृत्यु से लगभग डेढ़ वर्ष बाद ३ फरवरी, १९२३ को श्रीमती लोरेंज ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम भी उन्होंने इमिलिया ही रखा, लेकिन बाद में सब उसे 'पोलो' कहकर ही पुकारने लगे।

मृत इमिलिया व पोलो की अनेक प्रवृत्तियों व रुचियों मे समानताएं पाई गईं। इमिलिया को यात्रा करने का बड़ा शौक था। वह अक्सर ही कहा करती थी कि यदि वह पुरुष होती तो खूब नये-नये स्थानों की सैर करती। (उस जमाने में वहां स्त्रियों को घूमने-फिरने की सुविधाएं नहीं थी।) पोलो को भी भ्रमण का बहुत शौक है—अपनी छुट्टियां वह प्रायः फिरने में ही व्यतीत करता है। इमिलिया सिलाई मे बहुत निपुण थी और पोलो में, जब वह चार वर्ष के लगभग का ही था—बिना सीखे सिलाई में निपुणता पाई गई। इमिलिया वायलिन सीखने की इच्छुक थी, किन्तु प्रयत्न करने पर भी सीख नहीं पाई। पोलो ने भी बहुत प्रयास किया किन्तु असफल ही रहा। इमिलिया में डबलरोटी के कोने तोड़ने की एक विचित्र-सी आदत थी—ठीक यही आदत पोलो में भी पाई गई।

पोलो के वृत्तांत में पुनर्जन्म में लिंग-परिवर्तन की विशेषता के अनेक प्रभाव स्पष्टतः देखे गये हैं। पोलो की बहिनों ने बताया कि जब वह छोटा था, तो उसकी बातें प्रायः लड़कियों जैसी ही हुआ करती थी। एक दिन वह बोला : "क्या मैं सुंदर नही हूं? अब मैं लड़कियों की तरह ही रहा करूंगा। मैं लड़की जो हूं।" लड़का होते हुए भी उसे लड़कियो के साथ गुड़ियों से खेलना बहुत प्रिय था। प्रथम चार-पांच वर्षों तक तो उसने लड़कों के वस्त्र पहने ही नही—सदा तीव्र प्रतिरोध करता रहा। जब वह पांच वर्ष का था तो इमिलिया की एक पुरानी स्कर्ट को कांट-छांटकर उसके लिए एक पैंट बना दी गई। इसे पहनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसके बाद से लड़कों के वस्त्र पहनने के विरुद्ध उसका प्रतिरोध समाप्त हो गया। १३-१४ वर्ष की आयु तक उसमें यदा-कदा स्त्रीत्व के लक्षण दृष्टि-गोचर हो जाते थे।

१९६२ में, जब पोलो ३९ वर्ष का हो चुका था, उसके व्यक्तित्व में

इस उम्र के अन्य पुरुषों की अपेक्षा नारी-तत्त्वों की अधिक प्रमुखता पाई गई। और अपनी बहिनों के अतिरिक्त उसका किसी अन्य स्त्री से कोई लगाव नहीं था। उसने विवाह तक नही किया।

पोलो के व्यक्तित्व की और गहरी जांच हेतु मानव शरीर के चित्र बनाने संबंधी उसका एक परीक्षण किया गया। इस परीक्षण में परीक्षार्थी को मानव शरीर का तीन बार चित्र बनाने को कहा जाता है। पहला चित्र वह किस लिंग का—स्त्री या पुरुष का—बनाये, इसके लिए उसे छूट होती है। दूसरा चित्र उसे विपरीत लिंग का बनाने को कहा जाता है और तीसरे चित्र के बारे मे पुन: छूट होती है। परीक्षा का परिणाम इस बात से आंका जाता है कि परीक्षार्थी पहला व तीसरा चित्र किस लिंग का बनाता है और इस बात मे कि उसने वे तीनो चित्र कैसे बनाये है। पोलो ने पहली और तीसरी दोनो 'छूटों' मे स्त्री के चित्र बनाये।

उक्त घटना के एकदम विपरीत ऐसे भी अनेक दृष्टांत प्राप्त हुए है जिनमें वर्तमान जन्म की लड़की ने अपना पूर्वजन्म लडके के रूप मे वर्णित किया है।

पूर्वजन्म के वृत्तातो मे कभी-कभी ऐसे वृत्तांत भी मिल जाते हैं, जिनमें मात्र पिछले एक ही नही उससे भी पहले के और जन्मों की स्मृतियों का विवरण प्राप्त होता है।

गवेषणा-पद्धति

परामनोवैज्ञानिक या तो स्वयं घटना-स्थल पर जाता है या अपने किसी सहायक अन्वेषक को वहा भेजकर और विश्वसनीय सूचनाएं प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

सभी प्रकार की सूचनाएं एकत्रित कर लेने के बाद परामनोवैज्ञानिक निम्न बातो को ध्यान मे रखकर सारे केस का मूल्यांकन करता है :

१. सभी प्राप्त सूचनाए कहां तक विश्वसनीय है ?
२. क्या तथाकथित पूर्वजन्म की स्मृतियो मे निहित तथ्यों की जानकारी सम्बन्धित व्यक्ति के लिए सामान्यत: प्राप्त कर पाना संभव था ?
३. सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा परासामान्य ज्ञान शक्तियो से यह सूचनाएं प्राप्त करना कहां तक सम्भव था ?
४ क्या सम्बन्धित व्यक्ति ने इन स्मृतियों का वर्णन किसी विशेष अवस्था जैसे तन्द्रा या अचेतनावस्था में ही वर्णित किया था, आदि ?

सामान्य रूप से पूर्व जन्म की स्मृति छोटे बच्चों में होती है। अढ़ाई-

तीन वर्ष की अवस्था से लेकर आठ-दस वर्ष की अवस्था के बच्चे ही आम तौर पर इस क्षमता के धनी पाये गये हैं। कहीं-कहीं तो दस महीने की आयु में भी बच्चा यत्किंचित अभिव्यक्ति देना शुरू कर देता है। आयु बढ़ने के साथ साधारणतया यह क्षमता क्षीण होती जाती है। अपवाद रूप में बड़ी आयु वालों में भी पूर्व-जन्म-स्मृति उपलब्ध होती हुई पायी जाती है।

आम-तौर से पूर्व-जन्म-स्मृति वाला बच्चा जब बोलना सीख जाता है, तब वह अपने पूर्वजन्म के विषय मे कुछ-कुछ बातें बताना शुरू कर देता है। प्रायः तो माता-पिता ऐसी बातों पर ध्यान ही नहीं देते या उसे केवल प्रलाप या बकवास समझ लेते हैं। पर, जब वह अपनी बात को दोहराता ही रहता है या बल देता रहता है, तब माता-पिता या पारिवारिक लोगो का ध्यान उस ओर केन्द्रित होता है। बहुत बार तो वे स्वयं ही पूर्व-जन्म के घटना-स्थल पर पहुच जाते है तथा बालक द्वारा बताई गई बातों की सत्यता जांच करते है। कभी-कभी ऐसा नही हो पाता। गवेषक लोगो तक जब ऐसी बात पहुंचती है, तब वे जांच हेतु बालक के घर पहुच जाते हैं। वहां वे उसका पूरा बयान ले लेते है तथा माता-पिता, पारिवारिक-जन, अडौसी-पड़ौसी आदि के भी बयान लेते है। इसके अतिरिक्त भी जिन व्यक्तियों का सम्बन्ध घटना से होता है, उन सबके बयान ले लिये जाते है। फिर जिस स्थान मे बालक अपना पूर्व जन्म आदि बताता है, वहां जाकर उन परिवारवालो के बयान लिये जाते है। बयानो के साथ-साथ गवेषक लोग प्रश्नो और प्रतिप्रश्नो के द्वारा भी तथ्य एकत्रित करते हैं। बयानों और साक्षियों के परीक्षण के पश्चात् जो तथ्य उभरते हैं उन पर चिन्तन किया जाता है।

चिंतन के लिए कई सम्भावनायें की जाती है। सबसे पहले तो धोखाधडी या पूर्व-नियोजित होने की सम्भावना को लेकर तथ्यो पर चिन्तन किया जाता है—सारे बयान, साक्षियो के उत्तर, घटनास्थलो की भौगोलिक परिस्थिति आदि के आधार पर यह निश्चित करना कठिन नही होता कि घटना वास्तविक है या धोखा देने के लिए घडी हुई है। अब तक जिन घटनाओ की जाच की गई है, उसमे धोखा-धड़ी की घटनाएं नगण्य सख्या में पाई गई है। उन अनेक वृत्तातों जिनमे कि दोनो व्यक्तियों के निवासों में सैकड़ों या हजारों मील की दूरी रही हो, किसी प्रकार आर्थिक लाभ होना सम्भव न रहा हो, और पूर्वजन्म की स्मृतियां वर्णित करने वाला कोई अबोध बालक ही रहा हो—जैसा कि प्रायः होता है, यह मानना उचित नही लगता कि वे सभी वृत्तांत मनघडंत किस्से ही है। जिन वृत्तातों मे दोनों के जन्म के व्यक्तियों में कुछ समान योग्यताएं या शारीरिक निशान आदि पाये गये हैं, उनकी भी व्याख्या इस उपकल्पना द्वारा सम्भव नही है।

दूसरी संभावना यह की जाती है कि दोनों परिवारों के बीच प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी प्रकार का सम्बन्ध है या नहीं। जहां इस प्रकार की संभावना होती है, वहां पूर्व-जन्म सम्बन्धी बातों को इस कसौटी पर कसा जाता है कि ये बातें वस्तुतः पूर्व-जन्म-स्मृति पर आधारित है या वर्तमान जन्म मे ही किसी माध्यम से ज्ञात की गई है। जहां दोनों परिवारों में सामान्य मित्र, सम्बन्धी आदि होते हैं वहां इस बात को बहुत सूक्ष्मता से तोला जाता है।

विस्मृति

ऐसे वृत्तांतों में यह सम्भावना भी की जाती है कि वास्तविक स्रोत की विस्मृति के कारण बालक अपने पूर्वजन्म के अनुभव के रूप में उसे मानने लगा हो।

यह सम्भावना भी ऐसे वृत्तांतों के लिए ही अधिक महत्त्वपूर्ण है जिनमें कि बालक या उसके परिवार वालों के लिए वर्णित मृतक के बारे में बहुत-सी जानकारी प्राप्त करना सम्भव रहा हो। (कुछ ऐसे वृत्तांतों जिनमें कि दोनों व्यक्ति एक ही परिवार के थे या निकट ही रहने वाले थे ऐसा होना सहज ही सम्भव है किंतु सुदूर स्थित एक अत्यन्त सामान्य-सा जीवन व्यतीत किये हुए व्यक्ति के बारे मे बहुत-सी जानकारी (व्यक्तिगत व अन्य प्रकार की) प्रायः किसी को नही होती। जिनमें जानकारी समव रही हो उन वृत्तांतों के भी व्यवहार सम्बन्धी तथ्यों की व्याख्या इस उपकल्पना द्वारा नही की जा सकती। इस तरह के वृत्तांत ही अधिक हैं जिनमे यह कहा गया है कि पूर्वजन्म वाले परिवार मे इस जन्म के परिवार वालों का किसी भी तरह का परिचय था ही नही।

कई बार ऐसा हुआ है कि बालक ने अकस्मात् ही किसी पूर्वजन्म सम्बन्धी व्यक्ति को भीड में से पहचान लिया, और उसे नाम लेकर पुकार लिया, या कि जब किसी ने बालक से पूछा—अच्छा बतलाओ मैं कौन हूं? उसने सही उत्तर दे दिया। ऐसे दृष्टांतों के लिए भी विस्मृति की उपकल्पना उपयुक्त नही बैठती।

आनुवंशिक स्मृति

इस उपकल्पना द्वारा भी दो प्रकार के वृत्तांतों की व्याख्या ही संभव है—एक तो वे वृत्तांत जिनमें कि वर्तमान व पूर्वजन्म के दोनों व्यक्ति एक ही परिवार के व भिन्न-भिन्न पीढी के हों। ऐसे वृत्तांत वास्तव में है ही बहुत कम। दूसरे वे वृत्तांत जिनमें कि दोनों जन्मों के बीच समय का बहुत लम्बा अन्तराल सदियों तक का रहा हो। इस प्रकार के वृत्तांत और भी कम—बिरले ही होते हैं।

फिर भी यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि आनुवंशिक रूप में स्मृतियों का हस्तांतरण इस सीमा तक तो वैज्ञानिकों द्वारा नहीं खोजा जा सका है।

जिन घटनाओं में उक्त संभावना का भी कोई स्थान नहीं रह जाता, वहां यह भी एक संभावना की जाती है कि अतीन्द्रिय ज्ञान या टेलीपेथी (विचार-संप्रेषण या दूरज्ञान) की सहायता से कोई दूसरे व्यक्ति के जीवन की बात बताता हो।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण शक्ति

किसी व्यक्ति के अतीन्द्रिय ज्ञान की शक्ति के द्वारा किसी मृत व्यक्ति सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करके उसे पूर्वजन्म की स्मृति के रूप में वर्णित करने की सम्भावना महत्त्वपूर्ण तो है और कदाचित् कुछ वृत्तांतों की व्याख्या इस उपकल्पना द्वारा भी की जा सके—किन्तु निस्सन्देह बहुत से ऐसे वृत्तांत हैं, जिनकी पूर्णतः व्याख्या इस उपकल्पना द्वारा नही की जा सकती।

बालक द्वारा वर्णित सूचनाओं का आधार अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्ति द्वारा माना जा सकता है, किन्तु उसके द्वारा किया जाने वाला भावपूर्ण व्यवहार का आधार अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्ति से प्राप्त सूचनाओ को नही माना सकता।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि ये सूचनाएं अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्ति द्वारा ही प्राप्त की गई हैं, तो बालक इनका वर्णन पूर्वजन्म की स्मृतियों के रूप में क्यों करता है? अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्ति से प्राप्त सूचनाओं का सभी व्यक्ति पूर्वजन्म की स्मृतियों के रूप में तो वर्णन नहीं करते। अर्थात् कुछ व्यक्ति तो अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्ति से प्राप्त सूचनाओं का वर्णन पूर्वजन्म की स्मृतियों से देते हैं और कुछ व्यक्ति इस रूप में नही, ऐसा क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में कभी-कभी यह कहा जाता है कि ऐसा सांस्कृतिक प्रभावो के कारण होता है अर्थात् वे समाज जिनकी संस्कृति पुनर्जन्म की मान्यता में आस्था रखती है अतीन्द्रिय शक्ति से प्राप्त ये सूचनाएं पूर्वजन्म की स्मृतियों का रूप लेती है और जिन समाजों मे इस तरह की आस्था नहीं है, वहां ऐसा रूप नहीं लेती। यह सत्य है कि पूर्वजन्म की स्मृतियों के दृष्टांत व सांस्कृतिक आस्था में काफी महत्त्वपूर्ण सहसम्बन्ध पाया गया है फिर भी हम यह देखते हैं कि उन समाजों में जिनकी संस्कृति में पुनर्जन्म मे किंचित् भी आस्था नहीं पाई जाती पुनर्जन्म के कई दृष्टांत पाये गये हैं। अमेरिका, कनाडा, इंग्लैंड व अनेक अन्य ऐसे देश हैं, जिनमें पुनर्जन्म-विरोधी संस्कृति प्रचलित है और जहां कि बहुत से व्यक्ति पुनर्जन्म के बारे में कुछ जानते ही नहीं हैं या जो थोड़े-बहुत लोग जानते हैं वे इसे एशियावासियों का मूर्खतापूर्ण

अन्धविश्वास मानते है, उनमे भी पुनर्जन्म के दृष्टांत मिलते हैं। मुसलमानों तक में इस तरह के दृष्टांत पाये गये हैं।

कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ है कि जब इस तरह की सूचनाएं मस्तिष्क मे इस तरह उभरने लगी कि मानो वे पहले की कोई स्मृतिया हो तो व्यक्ति ने उन पर अविश्वास करके इन्हे स्मृतियों के रूप मे स्वीकार न करने की चेष्टा भी की, किंतु उन्होने उन्हें बार-बार उसी रूप मे पाया, जिसमें कि अतीत के अनुभवो के बिम्ब मस्तिष्क मे उभरते है।

अध्ययन करने पर यह भी ज्ञात हुआ है कि ऐसे कुछ ही बालकों मे जिन्होंने कि पुनर्जन्म की स्मृतियो का वर्णन किया, अतीन्द्रिय ज्ञान की शक्ति थी। अधिकांशतः बालकों मे यह शक्ति बिल्कुल नही पाई गई।

भूतावेश

किसी व्यक्ति मे यदि कोई मृतात्मा प्रवेश कर जाये, तो वह व्यक्ति भी मृत व्यक्ति से सम्बन्धित सही-सही जानकारी प्रस्तुत कर सकता है और उसके व्यवहार मे भी मृत व्यक्ति के अनुरूप परिवर्तन परिलक्षित हो सकते हैं, लेकिन कुछ कठिनाइयां इस उपकल्पना के साथ भी हैं।

पहली बात तो यह कि पूर्वजन्म की स्मृतियो का वर्णन करने वाले व्यक्तियों मे प्रायः ही यह पाया गया है कि जब उन्हे मृतक के गांव, मकान या स्कूल आदि स्थानों पर ले जाया गया, तो उनको पूर्वजन्म की और नई-नई बाते याद आने लगी। शुक्ला, प्रकाश, स्वर्णलता, प्रमोद आदि अनेक ऐसे उदाहरण है जिनमे कि, जब उन्हे पूर्वजन्म के स्थानों पर ले जाया गया, तो उन्होंने बहुत से लोगों व स्थानो को पहचाना और ऐसी घटनाएं बतलाईं जिनके बारे मे उन्होंने पहले कुछ नही कहा था। स्मृति का भी यह एक सामान्य नियम है कि पूर्व परिचित स्थानो को देखने से हम मे उनसे सबधित अनेक स्मृतियां और उभरने लगती है। अस्तु, बालक द्वारा वर्णित बातों को स्मृति के रूप मे मानने पर तो इस तरह की घटनाओ का समाधान भी सहज ही है लेकिन यदि हम यह मानें कि बालक ने सूचनाएं उसमे प्रविष्ट किसी मृतात्मा के प्रभाव से दी है, तो स्पष्टतः कठिनाई आती है। मृतात्मा के प्रभाव से ही जब बालक सूचनाएं देता है तो स्थान बदलने से क्यों अन्तर आना चाहिए? मृतात्मा को क्या फर्क पड़ता है, इसमे कि बालक किसी अन्य स्थान पर है अथवा मृतक के गांव मे?

इसी तरह अनेक वृत्तांतो मे ऐसा पाया गया है कि व्यक्ति ने मृतक के जीवन-काल मे कोई स्थान या भवन कैसा था इसी का वर्णन किया—न कि उसकी मृत्यु के बाद में हो जाने वाले उसके परिवर्तित रूप का। ऐसा कई बार हुआ है कि बालक को जब उसके पूर्वजन्म के गांव या घर ले जाया गया, तो वह वहां हो जाने वाले परिवर्तनो से चौक गया। यदि मृतात्मा जो

कि व्यक्ति के मृत्यु के बाद भी रही, उसी ने प्रवेश किया, तो उसे तो परिवर्तनों की भी जानकारी रहनी चाहिए।

एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि इन वृत्तांतों में वर्णित मृतको की आत्माओं ने आखिर इन्ही व्यक्तियों में प्रवेश क्यों किया ? इनका ऐसा करने में क्या प्रयोजन रहा होगा ? मृतात्मा प्रवेश के जो अन्य दृष्टांत मिलते हैं उनमें प्रायः कोई न कोई प्रयोजन भी दृष्टिगोचर होता है, जैसे अपने किसी अपूर्ण कार्य या इच्छा की पूर्ति, किसी से बदला लेना आदि। इन वृत्तांतों मे ऐसा कोई प्रयोजन नजर नही आता।

इस प्रकार जो भी अन्य सामान्य सम्भावना की जा सकती है, उसे पहले ध्यान मे रखा जाता है, और उसके आधार पर ही अन्तिम निष्कर्ष निकाला जाता है।

अब तक जाच की गई अधिकांश घटनाओं में उक्त प्रकार की कोई भी सम्भावना सही नही पाई गई। इस आधार पर ही ऐसी घटनाओं को परासामान्य (paranormal) की कोटि मे माना गया है।

पूर्व जन्म की अद्भुत बातें

अढाई, तीन या पांच साल के बच्चे, जो पूर्व-जन्म की स्मृति के आधार पर बाते बताते है, उनमे बहुत-सी बाते काफी अद्भुत और आश्चर्यकारक होती हैं। सामान्यतया ऐसे बच्चे अपने पूर्व-जन्म का नाम, गांव का नाम, माता-पिता या निकट पारिवारिक लोगों के नाम, अपने निवास-स्थान संबंधी जानकारी आदि देते ही हैं। पर उसके साथ-साथ ऐसी गुप्त बातों का भी वे रहस्योद्घाटन करते हैं, जिसके विषय मे उस मृतात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को कुछ भी ज्ञात नही होता। जैसे एक घटना मे बालक (बिशनचंद) ने अपने पूर्व-जन्म में पिता की ऐसी छिपी सम्पत्ति का पता बताया जिसके विषय मे किसी को पता नही था।

कुछ घटनाओं मे ऐसी बातें भी बालक द्वारा बता दी जाती है, जिनकी जानकारी केवल एक ही अन्य व्यक्ति को होती है। जैसे अलारवा मे घटित एक घटना में अपने पूर्व-जन्म में उसने अपनी पुत्रवधू को एक घड़ी दी थी जिसके विषय मे और किसी को पता नही था। वर्तमान जन्म मे उस घड़ी को बालक ने पहिचान लिया।

पूर्व-जन्म की स्मृति वाले व्यक्तियों मे सामान्यतया असामान्य व्यवहार पाया जाता है। ऐसे अधिकांश व्यक्ति वर्तमान जन्म के वातावरण और पैत्रिक गुण-धर्मों के विपरीत वृत्तियों का प्रदर्शन करते हैं। जसे—पूर्व-जन्म में धनसम्पन्न वर्तमान मे गरीब होने पर धनसम्पन्न व्यक्तियो की तरह व्यवहार करता है। पूर्व-जन्म में मांसाहारी वर्तमान जन्म में निरामिष परिवार मे

जन्म लेने पर भी मांसाहार की रुचि रखता है। धार्मिकता की पूर्व जन्म की वृत्ति प्रायः वर्तमान जन्म में भी असाधारण रूप से प्रकट होती हुई दिखाई देती है। शौकीनता और रुचि की विलक्षणता भी सामान्य रूप से वर्तमान जीवन में देखी जाती है। इन सब असामान्य व्यवहारों का सामान्य एवं ज्ञात तत्त्वों के आधार पर व्याख्यात्मक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। कभी-कभी भारत जैसे देश में जहां जातिवाद का प्रबल प्रभाव है, बालक द्वारा अपनी पूर्व-जन्म की जाति के संस्कार एव तदनुरूप व्यवहार व आचरण प्रस्तुत होता हुआ दिखाई देता है। जैसे—जसवीर नामक एक बालक जो वर्तमान जीवन में "जाट" है, अपने को पूर्व-जन्म मे ब्राह्मण बताता है और ब्राह्मण की तरह खाने-पीने, शुद्धि आदि के लिए आग्रह रखता है। यहां तक कि अपने जाट माता-पिता के हाथों बनाया हुआ खाना खाने से भी वह इन्कार करने लगा।

कुछ बालकों में बचपन से ही कुछ ऐसे कला-कौशल, शैक्षिक ज्ञान एवं भाषा-ज्ञान पाये जाते हैं, जो स्पष्टतया उनके पूर्व-जन्म मे अर्जित गुणों के साथ सम्बन्धित होते है। बिशनचद की घटना मे तबला बजाने की निपुणता तथा उर्दू का ज्ञान इसी बात का द्योतक है। इसी प्रकार ब्राजील की एक अन्य घटना में पोलो नामक बच्चा तीन चार वर्ष की आयु मे सिलाई कला मे असामान्य दक्षता रखता था, जिसका सम्बन्ध उसके पूर्व-जन्म के व्यक्तित्व के साथ जोड़ा जा सकता है, जिसमें वह एमिलिया नामक लड़की के रूप मे था तथा इस कला मे दक्ष था।[1]

इन सब बातों के अतिरिक्त धार्मिक श्रद्धा या विश्वास, भय, सेक्सुअल ज्ञान, वैर-विरोध आदि भावनाओं की असामान्य प्रबलता भी ऐसे बालकों मे पाई जाती है, जिनका वर्तमान जीवन के किसी असामान्य घटना-प्रसंग, वातावरण या जानकारी से कोई सम्बन्ध नही है। जैसे रविशंकर नामक बालक अपने वर्तमान जन्म मे अपने पूर्व-जन्म के हत्यारों से भय भी रखता है और उनके प्रति क्रोध भी करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान जिन सिद्धांतों के आधार पर मनुष्य की मानसिक वृत्तियों और भावनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है, वे उक्त सामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्यो का कोई समाधान नही देता। प्रत्युत इन असामान्य मनोवृत्तियों और विलक्षणताओं के लिए पूर्व-जन्म के सस्कारों की परिकल्पना अपने आप मे पूर्ण और बुद्धिगम्य समाधान प्रस्तुत करती हैं।

यद्यपि सामान्य रूप से पूर्व-जन्म और वर्तमान जन्म में लैंगिक समानता पाई जाती है, फिर भी कुछ घटनायें (लगभग १० प्रतिशत) ऐसी

१. देखें, पृष्ठ ९६-९८।

भी सामने आई हैं, जिनमें जातक पूर्व-जन्म में स्त्री होता है और वर्तमान जन्म में पुरुष बन जाता है या पूर्व-जन्म में पुरुष होता है और वर्तमान जन्म में स्त्री बन जाता है। जैसे सिलोन में घटित एक घटना में ज्ञानतिलका नामक लड़की अपने को पूर्व-जन्म में तिलकरत्न नामक लड़के के रूप में बताती है। ब्राजील में घटित पोलो की घटना की चर्चा हम कर चुके हैं। ऐसे लैंगिक परिवर्तनों में व्यक्ति के वर्तमान जीवन में अपने पूर्व-जन्म की लैंगिक विलक्षणता भी पाई गई है, जो मनोवैज्ञानिक के लिए अवश्य ही प्रश्नचिह्न है।

सबसे अधिक आश्चर्यजनक एवं अव्याख्येय बात ऐसी घटनाओं मे पाई जाती है, वह है—वर्तमान जीवन में बालक के शरीर पर पाये जाने वाले विचित्र चिह्न या शारीरिक अपूर्णता जो जन्म से ही जातक के शरीर में पाई जाती है और जिनका सम्बन्ध उनके अपने पूर्व-जन्म में घटित घटनाओं के साथ बताया जाता है। जैसे—रविशंकर नामक बालक के शरीर में गर्दन पर एक दो इच लम्बा तथा ⅛ या ⅟₈ इंच चौड़ा घाव का चिह्न डॉ. स्टीवनसन ने स्वयं सन् १९६४ में देखा था, जिस समय रविशंकर की आयु १३ वर्ष की थी। डॉ. स्टीवनसन को बताया गया कि यह घाव जन्म से ही रविशंकर के शरीर पर है तथा जन्म के समय वह इससे भी अधिक लम्बा था। घाव वाली जगह पर चमड़ी का रंग आसपास की चमड़ी से और अधिक गहरा था तथा छूरी से किये हुए घाव की तरह स्पष्ट दिखाई देता था। रविशंकर के कथनानुसार पूर्व-जन्म मे उसकी शस्त्र द्वारा गर्दन काटकर हत्या की गई थी।

पूर्वजन्म में शरीर पर हुए चिन्ह वर्तमान-जन्म मे शरीर पर उसी प्रकार और उसी स्थान में पाये जाय—यह एक बहुत ही अद्भुत एवं विचित्र बात है। ऐसे वृत्तान्तों की व्याख्या मृतात्मा-प्रवेश की उपकल्पना द्वारा नही की जा सकती। ऐसे चिह्नों की शरीर-शास्त्र सम्बन्धी सामान्य वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर भी कोई व्याख्या संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में पूर्व-जन्म के साथ ही उसका सम्बन्ध जुड़ता है। यह अवश्य शोध का विषय है कि किस प्रकार आत्मा अपने एक जन्म के शारीरिक चिह्नों को भी दूसरे जन्म में ले जाती है।

जैन दर्शन द्वारा प्रदत्त कर्म-सिद्धांत के आधार पर इस तथ्य की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

जैन दर्शन में शरीर-सम्बन्धी समस्त निर्माण का मूल कारण नाम कर्म है। नाम कर्म की प्रकृतियों में संघातननाम कर्म, निर्माणनाम कर्म तथा आनुपूर्वी नाम कर्म के द्वारा उक्त तथ्य की व्याख्या हो सकती है। औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय से औदारिक आदि वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण

होता है, बन्धननाम कर्म के उदय से गृहीत पुद्गल के साथ गृह्यमान पुद्गल का समीलन होता है, तथा संघातन नाम कर्म के उदय से औदारिक आदि वर्गणा के पुद्गलों की औदारिक आदि शरीर के रूप मे विशेष रचना होती है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार—बद्ध पुद्गलो के परस्पर जतुकाष्ठ न्याय से रचना विशेष को सघात कहते है। यह पुद्गलविपाकी कर्म है, क्योंकि पुद्गल-रचना के आधार-विशेष के द्वारा इसका परिपाक होता है।

आनुपूर्वी नाम कर्म के विषय मे दो परम्पराए प्रचलित हैं। एक के अनुसार विग्रहगति मे आत्म प्रदेशो के रचनाक्रम को, जो कि पूर्व शरीर के अनुसार होता है, करने वाले कर्म को आनुपूर्वी नाम कर्म कहा है। दूसरी परम्परा के अनुसार—जिसके उदय से निर्माण कर्म के द्वारा निर्मापित बाहु आदि अंग तथा अगुली आदि उपांगो की रचना की परिपाटी को आनुपूर्वी नाम कर्म कहा जाता है। पूर्व जन्म के शरीर के अनुसार विग्रहगति मे आत्म-प्रदेशो की आकार-रचना तो आनुपूर्वी नाम कर्म के द्वारा होती ही है, पर उसके पश्चात् भी वर्तमान शरीर के निर्माण मे पूर्व शरीराकार का प्रभाव भी आनुपूर्वी नाम कर्म के माध्यम से कार्य करता है। उपाघात नाम कर्म शरीर के अगोंपांगो के उपघात का कारण है, उसकी भी पुनरावृत्ति दूसरे जन्म में यथावत् हो सकती है। इस प्रकार विग्रह गति के पश्चात भी यदि आनुपूर्वी नाम कर्म के द्वारा वर्तमान शरीर के निर्माण मे योगदान मिलता है, तो पूर्व शरीर के चिह्नो की पुनर्जन्म मे भी विद्यमानता सभव हो जाती है।

मृत शरीर का अधिग्रहण

पूर्व जन्म की घटनाओं मे कुछ ऐसी घटनाएं भी सामने आई है, जिनमे एक मृत व्यक्ति के शरीर मे दूसरे मृत व्यक्ति की आत्मा प्रवेश कर जाती है और वह मृत व्यक्ति पुन. जीवित हो जाता है, पर अब वह अपने आप को दूसरी आत्मा के रूप मे बताता है। जैसे—जसवीर नामक बालक की घटना मे घटित हुआ। रसुलपुर नामक गांव मे गिरधारीलाल जाट का पुत्र जसवीर लगभग साडे तीन वर्ष की आयु मे चेचक की बीमारी मे सन् १९५४ के गर्मी के मौसम (अप्रेल-मई) मे मृत्यु को प्राप्त हुआ। मृत बच्चे की अन्तक्रिया रात्रि का समय होने मे प्रात काल तक स्थगित रखी गई। मृत्यु के कुछ घण्टों बाद ही शव मे थोड़ी-सी हलचल नजर आई। कुछ क्षणो पश्चात् लड़का पुनः जीवित हो गया। पर अब तक बोलने की स्थिति में नहीं था। कुछ दिनो बाद जब वह बोलने की शक्ति को प्राप्त कर चुका था, उसने बताया कि—"मैं वेहेदी ग्राम के निवासी शकर नामक ब्राह्मण का पुत्र हू और इसलिए मैं जाटों के हाथ का खाना नही खाऊंगा। जसवीर ने यह भी बताया कि पिछले जन्म मे उसकी मृत्यु तब हुई थी जब वह दो बेला

के रथ पर किसी बरात में जा रहा था जहां उसे विषैली मिठाई दे दी गई थी। वह मिठाई उसे उस व्यक्ति ने खिलाई थी जिसको उसने कुछ धन ऋण में दिया था। जब वह रथ मे बैठकर जा रहा था, अचानक उसे चक्कर आए, वह रथ से गिरा और उसके सिर में चोट आई जिससे कुछ घण्टों बाद उसकी मृत्यु हुई।

जसवीर द्वारा बताई गई इन बातों को गिरधारीलाल ने छिपाने की कोशिश की, पर उसके द्वारा ब्राह्मण के हाथो बनाया हुआ खाना खाने के आग्रह के कारण वह बात ब्राह्मणों मे फैल गई। लगभग तीन वर्ष पश्चात् यह बात किसी माध्यम से वेहेदी गाव तक पहुची। बालक जसवीर द्वारा बताई गई बातें वेहेदी गांव के शंकरलाल त्यागी नामक ब्राह्मण के पुत्र शोभाराम के जीवन से हूबहू मिलती थी। शोभाराम की मृत्यु सन् १९५४ के मई महिने मे ठीक उसी प्रकार रथ मे से गिर जाने के कारण सिर मे चोट आने से हुई थी, जैसे बालक जसवीर ने बताया। हालांकि विषैली मिठाई और ऋण की बात का उसके परिवार वालों को कोई पता नही था।

डॉ० स्टीवनसन ने इस सारी घटना की बहुत ही सूक्ष्मता से जांच की है तथा सारी घटना की यथार्थता को असंदिग्ध माना है। शोभाराम और जसवीर की लगभग एक ही समय मे मृत्यु होना, और शोभाराम की आत्मा के द्वारा जसवीर के मृत शरीर मे पुनर्जन्म लेना तथा शोभाराम के रूप में अपने पूर्व जन्म की स्मृति को बनाए रखना—पूर्वजन्म सम्बन्धी घटनाओ मे एक विलक्षण घटना है। मृत्यु के पश्चात् नए जन्म के लिए सामान्य रूप से आत्मा स्वयं अपने नए देह का निर्माण करता है और निश्चित समय तक गर्भस्थ रहने के पश्चात् ही माता के उदर से बाहर आकर अपने नए जीवन का प्रारम्भ करता है। उक्त घटना मे शोभाराम द्वारा सीधे ही जसवीर के मृत शरीर में जन्म लेना—इस सामान्य क्रम से नितांत भिन्न एवं विलक्षण क्रम है। यद्यपि पुनर्जन्मवाद को स्वीकार करने वाले धर्म-दर्शनों में भी ऐसे क्रम के विषय में संभवतः कोई व्याख्या नही मिलती, फिर भी जैन आगम भगवती सूत्र मे आए हुए प्रवृत्त परिहार (या पोट्ट परिहार) नामक सिद्धांत मे इसकी चर्चा मिलती है। आजीवक सम्प्रदाय के अधिनायक गोशालक द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया है। गोशालक भगवान् महावीर के प्रवचनों का प्रतिवाद करता हुआ यह प्रतिपादित करता है कि वह गोशालक नहीं है, जिसने महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की थी, वरन् वह गोशालक के मृत शरीर मे जन्म लेनेवाला गोमायुपुत्र अर्जुन है। भगवान् महावीर गोशालक के इस कथन को असत्य घोषित करते हैं। यद्यपि गोशालक की अपनी बात असत्य थी, फिर भी इससे इस प्रकार की जन्म-प्रक्रिया की संभावना को सर्वथा निषिद्ध तो नही माना जा सकता। यह अवश्य गवेषणा

का विषय है कि जैन दर्शन इस प्रकार के जन्म की व्याख्या किस प्रकार प्रस्तुत करता है।

वनस्पतिकाय में पोट्ट परिहार होता है, यह सिद्धात तो स्वयं भगवान् महावीर द्वारा माना गया है। गोशालक और तिल के पौधे की घटना के सन्दर्भ मे स्वयं भगवान महावीर कहते है—"गोशालक ! यह तिल का पौधा फलित होगा, तथा ये सात तिलपुष्प के जीव मरकर इसी पौधे की एक तिलफली में सात तिल होंगे"......"......वे सात तिलपुष्प के जीव मरकर उसी पौधे की एक तिलफली मे सात तिल हो गए है। इस प्रकार हे गोशालक ! वनस्पतिकाय के जीव 'प्रवृत्त परिहार" (पोट्ट परिहार) का उपभोग करते हैं—मरकर पुन: उसी शरीर मे उत्पन्न हो सकते हैं।

भगवती सूत्र के उक्त प्रसंग के सन्दर्भ मे आगे भगवान् महावीर कहते है— 'तत्पश्चात् गोशालक ने मेरी बात पर विश्वास नही किया। वह तिल के पौधे के पास गया और उस फली को तोड़कर तथा हथेली मे मसलकर तिल गिनने लगा। गिनने पर सात ही तिल निकले। इससे उसके मन मे विचार उत्पन्न हुआ—"यह निश्चित बात है कि सर्व प्राणी मरकर पुन उसी शरीर मे ही उत्पन्न होते हैं। गोशालक का यही 'प्रवृत्य परिहार वाद' या परिवर्तवाद है।"

भगवती सूत्र में केवल यही बताया गया है कि गोशालक ने सभी जीवों मे पोट्ट परिहार का सिद्धांत बना लिया था जिसके अनुसार सभी जीवों के लिए निर्वाण से पूर्व सात जन्मों मे पोट्ट परिहार करना अनिवार्य माना गया। पर इससे यह अर्थ तो नहीं निकलता कि भगवान् महावीर वनस्पतिकाय के अतिरिक्त अन्य जीवों में पोट्ट परिहार के सिद्धांत को गलत मानते थे। भगवती के आधार पर ये बातें स्पष्ट होती है—

१. गोशालक ने अपने आप को जो गोमायुपुत्र अर्जुन के जीव का गोशालक के शरीर में पोट्ट परिहार बताया था, वह असत्य था।
२. गोशालक ने सभी जीवों में पोट्ट परिहार की अनिवार्यता बताई थी, वह असत्य था।
३. वनस्पतिकाय में पोट्ट परिहार की संभाव्यता को महावीर ने स्वीकार किया था।
४. अन्य जीवो मे भी पोट्ट परिहार सभव हो सकता है, इसका खण्डन महावीर ने कहीं नही किया।

उक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वनस्पतिकाय की तरह अन्य जीवयोनियो मे भी पोट्ट परिहार संभव है। इस बात की पुष्टि भगवती सूत्र के एक अन्य पाठ से इस प्रकार होती है—

भगवान् महावीर ने मनुष्यणी के गर्भ-काल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त,

उत्कृष्ट १२ वर्ष बताया है। कायभवस्थ का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट चौबीस वर्ष बताया है। वृत्तिकार इसकी व्याख्या में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि एक जीव गर्भ मे १२ वर्ष तक रहकर मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः उसी शरीर मे उत्पन्न हो सकता है और दूसरी बार फिर १२ वर्ष और रह सकता है। इस प्रकार मनुष्य शरीर में भी पोट्ट परिहार को स्वीकार किया गया है। सिद्धांत की दृष्टि से यदि वनस्पतिकाय में पोट्ट परिहार हो सकता है, तो मनुष्य-शरीर में भी हो सकता है।

अस्तु, यहां यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐसी घटना में भी सामान्य मनोविज्ञान के सिद्धांत या अन्यान्य परिकल्पनाएं व्याख्या करने मे अक्षम ही रह जाते हैं। केवल पुनर्जन्मवाद ही इसकी व्याख्या न्यूनतम स्वयं-तथ्यों (axioms) के आधार पर कर सकता है।

उपसंहार

डॉ० स्टीवनसन ने अपने विशाल ग्रन्थ के उपसहार मे लिखा है—

"I believe, however, that the evidence favouring reincarnation as a hypothesis for the cases of this type has increased since I published my review in 1960. This increase has com frome several different kinds of observation and cases, but chiefly from the observation of the behavior of the children claiming the memories and the study of cases with specific or idiosyncratic skills and congenital birthmarks and deformities.

..........In the cases of the present collection, we have evidence of the occurrence of patterns which the present personality is not known to have inherited or aquired after birth in the present life. And in some instances these patterns match corresponding and specific features of an identified deceased personality. In such cases we have then in principle, I believe, some evidence for human survival of physical death."

डॉ० स्टीवनसन के उक्त अभिमत के समर्थन में उनकी उक्त पुस्तक के भूमिका-लेखक सी. जे. ड्यूकास ने और भी अधिक स्पष्ट एवं तर्क-संगत शब्दों में लिखा है—

"If, then, one, asks what would constitute genuine evidence of reincarnation, the only answer in sight seems to be the same as to the question how any one of us now knows that he was living some days, months, or years before. The answer is that he now remembers having

lived at that earlier times, in such a place and circumstances, and having done certain things then and had certain experience.

"But does anybody now claim similarly to remember having lived on earth a life earlier than his present one ?

"Although reports of such a claim are rare, there are some. The person making them is almost always a young child, from whose mind these memories fade after some years. And when he is able to mention detailed facts of the earlier life he asserts he remembers, which eventual investigation verifies but which he had no opportunity to learn in a normal manner in his present life, then the question with which this confronts us is how to account for the veridicality of his memories, if not by supposing that he really did live the earlier life he remembers."

(II) अतीन्द्रिय ज्ञान : दूरबोध एवं परचित्तबोध

जैन दर्शन का दृष्टिकोण

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्षण है—उपयोग । ज्ञान और दर्शन के रूप मे जो चैतन्य की प्रवृत्तियां है, उन्हे 'उपयोग' कहा जाता है। ज्ञान द्वारा वस्तु का विशेष बोध होता है, दर्शन द्वारा सामान्य बोध होता है । यही अन्तर है ज्ञान और दर्शन मे । मूलत: दोनों चैतन्य की प्रवृत्तिया है । आत्मा स्वभावत: जानने-देखने की क्षमता से युक्त है । कर्मो के आवरण के कारण यह क्षमता सीमित हो जाती है । फिर भी इस क्षमता का कुछ अश तो प्रत्येक जीव में विद्यमान रहता ही है । अविकसित अवस्था मे इन्द्रियो के माध्यम से ज्ञान किया जाता है, पर जब चेतना का विशेष विकास होता है, तो बिना इन्द्रियों की सहायता से भी आत्मा जान सकती है, देख सकती है । इसी अतीन्द्रिय ज्ञान की कोटि मे अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान की गणना की जाती है ।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो प्रकार है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सीमा में जो जाना जाता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है । जो इन्द्रियों की सीमा से परे है, जहां इन्द्रियों की कोई अपेक्षा नही होती, वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है । आकाश मे ध्वनि के अनन्त प्रकम्पन बिखरे पड़े है किंतु व्यक्ति को उनका पता नही चलता, वह उन्हे पकड नही पाता । व्यक्ति के आसपास जो ध्वनि के प्रकपन होते हैं उनका पता चलता है, उन्हें पकडा जा सकता है । इसका कारण है इन्द्रिय की सीमा । एक निश्चित आवृत्ति में ध्वनि के प्रकम्पन होते हैं, तो व्यक्ति उन्हें पकड़ पाता है । कान के लिए एक

आवृत्ति का निर्धारण है। आंख के लिए भी एक आवृत्ति का निर्धारण है। निश्चित आवृत्ति मे जो सामने आता है, व्यक्ति उसे देखता है, सुनता है।

इन्द्रियों मे भी बहुत तारतम्य है। आगमों मे इन्द्रिय-पाटव शब्द का प्रयोग मिलता है। एक है इन्द्रिय का सामान्य ज्ञान और एक है इन्द्रिय का पाटव या इन्द्रिय-लाघव। जिसमे इन्द्रिय की पटुता बढ़ जाती है, वह दूर की बात देख लेता है, दूर की बात सुन लेता है, जान लेता है। यदि इन्द्रिय का पाटव नही होता है तो व्यक्ति स्वल्प सीमा मे ही जानता है, देखता है। आज के वैज्ञानिक युग मे एक प्रश्न जरूर सामने आ गया है और वह बडा चिन्तनीय प्रश्न है। दर्शन मे इन्द्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रिय-ज्ञान के बीच जो भेद-रेखा खीची गई, उसका अर्थ है इन्द्रिय-ज्ञान स्थूल को जानता है, सन्निकृष्ट को जानता है और अव्यवहित को जानता है। अतीन्द्रिय ज्ञान सूक्ष्म, विप्रकृष्ट और व्यवहित को भी जान सकता है। दीवार मे परे क्या है, आंख नहीं देख सकती किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानी देख सकता है। एक सूक्ष्म कण को अतीन्द्रिय ज्ञानी देख सकता है, इन्द्रिय-ज्ञानी नही देख सकता। एक वस्तु या पुस्तक पडी है और उस पर कोई ढक्कन दे दिया गया। उसे एक इन्द्रियज्ञानी नही जान सकता किन्तु एक अतीन्द्रिय-ज्ञानी जान सकता है। इन्द्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान में यह एक भेद-रेखा है। आज विज्ञान ने टेलीस्कोप और माइक्रोस्कोप जैसे सूक्ष्म उपकरण विकसित कर लिए है। आधुनिक वैज्ञानिक माईक्रोस्कोप के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म कणो को देखने में सफल हुए है, इलेक्ट्रोन और प्रोटोन को देखने मे सफल हुए है। टेलीस्कोप के द्वारा सैकडो-हजारो प्रकाश-वर्ष दूर की नीहारिकाओ को देखने मे सफल हुए है। विद्युत् की गति एक सैकेड मे १,८६ ००० माईल की है। गति से एक वर्ष में जितनी दूर प्रकाश जा सके उसे एक प्रकाश-वर्ष करते है। ऐसे हजारों प्रकाशवर्ष की दूरी पर जो नीहारिकाए है, सौर-मडल है, तारागृह है, उन्हें टेलीस्कोप के द्वारा देखा गया है। क्या यह इद्रिय-ज्ञान है? क्या यह अतीन्द्रिय ज्ञान नही है? विज्ञान ने ऐसे यन्त्र और उपकरण विकसित कर लिए हैं, जिनसे शरीर के भीतर क्या हो रहा है, सारा दिखाई देने लग जाता है। वे उपकरण चमड़ी के भीतर विद्यमान समस्त तत्त्वो को देख लेते हैं। क्या इसे अतीन्द्रिय-ज्ञान नही कहा जा सकता? इंद्रियों से शरीर के भीतर नही देखा जा सकता। भीतर क्या हो रहा है, यह आख से नही देखा जा सकता। सौर मंडल या एक सूक्ष्म कण को आंख से नहीं देखा जा सकता। पर इन्हे वैज्ञानिक उपकरणो के द्वारा देखा जा सकता है। यह क्यों नहीं मान लिया जाए—वैज्ञानिक उपकरण भी अतीन्द्रिय-ज्ञान के साधन बन गए हैं?

समाधान : अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में

जैन दर्शन के सामने यह एक अहं प्रश्न है। इससे इंद्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रिय-ज्ञान की भेद-रेखा समाप्त हो जाएगी। इस समस्या का समाधान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में ही खोजा जा सकता है। अवधिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है, किन्तु उसमे भी पुद्गलो का सहयोग आवश्यक होता है। अवधिज्ञान से व्यक्ति अपने ज्ञान को इतना विकसित और निर्मल बना ले, जिससे वह सूक्ष्म, दूरवर्ती और व्यवहित वस्तु को जान सके और चाहे वह ऐसे उपकरणों का विकास कर ले, जिनके द्वारा उन्हे वह जान सके। केवलज्ञान से नीचे की सीमा मे जितने क्षायोपशमिक ज्ञान है, उनमें पुद्गल सहायक बनता है। अवधिज्ञान और मन:पर्यव ज्ञान मे भी किसी न किसी रूप मे पुद्गल का योग रहता ही है। इसका अर्थ है— नाडीतंत्र को इतना विकसित बना लिया जाए, जिससे व्यक्ति सूक्ष्म और व्यवहित तत्त्वो का ज्ञान कर सके। नाड़ीतंत्र को विकसित करे या बाहर के उपकरणो को विकसित करे, इन दोनों में बहुत अन्तर नहीं लगता। आन्तरिक निर्मलता बढ़ने से जो ज्ञान हुआ, वही बाह्य साधनों का योग मिलने से भी हो सकता है।

प्रस्तुत प्रकरण मे अवधि-ज्ञान और मन:पर्यवज्ञान की मीमांसा करते हुए परामनोविज्ञान द्वारा प्रस्तुत दूरबोध और परचित्त बोध के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन हमे करना है।

अवधिज्ञान—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना चेतना के दर्पण पर मूर्त्त पदार्थों के जो बिम्ब उभरते है, उन्हे पकडने वाला उपयोग अवधि-ज्ञानोपयोग है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय है, फिर भी इसमे तीव्र एकाग्रता की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से ही इसका निरुक्त किया गया है—'अवधानम् अवधि:' अवधान अर्थात् एकाग्रता। ध्यान की गहराइयों में उतरे बिना अवधिज्ञानोपयोग हो ही नहीं सकता।

अवधि का दूसरा अर्थ भी किया जाता है—अवधिज्ञान मूर्त्त द्रव्यो को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। मूर्तिमान् द्रव्य ही इसके ज्ञेय विषय की मर्यादा है। इसलिए यह 'अवधि' कहलाता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इसकी अनेक इयत्ताए बनती हैं। जैसे-- इतने क्षेत्र और काल में इतने द्रव्य और इतने पर्यायों का ज्ञान करता है, इसलिए इसे अवधि कहा जाता है।

अवधि-ज्ञान के छह प्रकार है—

१. अनुगामी—जिस क्षेत्र मे अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त क्षेत्र में भी बना रहे, वह अनुगामी है।

२. अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र मे बना न रहे, वह अननुगामी है।

३. वर्धमान—उत्पत्ति-काल में कम प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः बढ़े, वह वर्धमान है।

४. हीयमाण—उत्पत्ति-काल में अधिक प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः घटे, वह हीयमान है।

५. अप्रतिपाती—आजीवन रहने वाला अथवा केवल-ज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला अप्रतिपाती है।

६. प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापिस चला जाए, वह प्रतिपाती है।

मनःपर्यवज्ञान—इन्द्रियों और मन की सहायता बिना किसी व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं—आकृतियों को जानना मनःपर्यवज्ञानोपयोग है।

यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल-द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जो सोचता है, उसी के अनुरूप चिन्तन-प्रवर्तक पुद्गल द्रव्यों की आकृतियां—पर्यायें बन जाती हैं। वे मनःपर्याय के द्वारा जानी जाती हैं, इसीलिए इसका नाम है—मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान।

मनोवर्गणा के पुद्गलों का ज्ञान विशिष्ट अवधिज्ञान से भी हो सकता है। पर मनःपर्यवज्ञान से जो बोध होता है, वह अधिक स्पष्ट और विशद होता है। जिस प्रकार एक फिजिशियन आंख, नाक, गला आदि शरीर के सभी अवयवों की जांच करता है, उसी प्रकार आंख, नाक आदि का विशेष डॉक्टर भी करता है। किन्तु दोनों की जांच और चिकित्सा में अन्तर रहता है। एक ही कार्य-क्षेत्र होने पर भी विशेषज्ञ के ज्ञान की तुलना में वह डॉक्टर नहीं आ सकता। इसी प्रकार मनःपर्यवज्ञान की तुलना में साधारण अवधि-ज्ञान नहीं आ सकता।

मनःपर्यवज्ञान के दो प्रकार हैं—

१. ऋजुमति २. विपुलमति।

सामान्य रूप से मानसिक पुद्गलों को ग्रहण करने वाला मन पर्यव-ज्ञान ऋजुमति कहलाता है। उसके विशेष पर्यायों का बोध करने वाला मनः-पर्यवज्ञान विपुलमति कहलाता है। उदाहरणार्थ—व्यक्ति ने मन मे घट का चिन्तन किया। ऋजुमति वाला जानेगा कि इसने 'घट' का चिन्तन किया है। विपुलमति वाला जानेगा कि इसने घट का चिन्तन किया है; वह घट सोने का है, पाटलिपुत्र मे बना हुआ है, आज बना हुआ है, आकृति में बड़ा है, आदि। इस प्रकार विशेष विवरण का बोध भी उसे हो जाएगा।

अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि चैतन्य-केन्द्रों के निर्मलीकरण से होती है।

चैतन्य-केन्द्र क्या है?

जो दृश्य है वह स्थूल शरीर है। इसके भीतर तैजस और कर्म—ये

दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। वह चैतन्यमय है। जैसे सूर्य और हमारे बीच मे बादल आ जाते हैं वैसे ही आत्मा के चैतन्य और बाह्य जगत् के बीच में कर्म-शरीर के बादल छाए हुए हैं। इसीलिए चैतन्य-सूर्य का पूर्ण प्रकाश बाह्य जगत् पर नही पड़ता। बादलो के होने पर भी सूर्य का प्रकाश पूरा ढक नही जाता। वैसे ही कर्म-शरीर का आवरण होने पर भी चैतन्य पूरा आवृत नही होता। उसकी कुछ रश्मियां बाह्य जगत् को प्रकाशित करती रहती है। मनुष्य अपने प्रयत्न से कर्म शरीरगत ज्ञानावरण को जैसे-जैसे विलीन करता है वैसे-वैसे चैतन्य की रश्मियां अधिक प्रस्फुटित होने लगती है। कर्म-शरीरगत ज्ञानावरण की क्षमता जितनी विलीन होती है, उतने ही स्थूल शरीर मे प्रज्ञान की अभिव्यक्ति के केन्द्र निर्मित हो जाते है। ये ही हमारे चैतन्य-केन्द्र हैं।

समूचा शरीर ज्ञान का साधन

आत्मा के असंख्य प्रदेश (अविभागी अवयव) हैं। ज्ञानावरण उन सबको आवृत किए हुए है। इस आवरण का विलय भी सब प्रदेशो मे होता है। शरीरशास्त्र के अनुसार ज्ञान का स्रोत नाडी-सस्थान है। मस्तिष्क और सुषुम्ना के द्वारा ही सब ज्ञान होता है। कर्म-शास्त्र की भाषा मे नाड़ी-संस्थान को ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम कहा जा सकता है। शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर के सारे कोष एक जैसे है। कुछ कोषों को विशेषज्ञता प्राप्त हो गई है इसलिए वे ज्ञान के स्रोत बन गए है।

शरीर के कुछ भाग ज्ञान और संवेदन के साधन बने हुए है। वे भाग 'करण' कहलाते है। आंख एक 'करण' है। उसके माध्यम से रूप को जाना जा सकता है किन्तु मनुष्य के पूरे शरीर मे 'करण' बनने की क्षमता है। यदि संकल्प के विशेष प्रयोगों के द्वारा पूरे शरीर को 'करण' किया जा सके तो कपोलो से भी देखा जा सकता है, हाथ और पैर की अंगुलियों से भी देखा जा सकता है। यह इन्द्रिय-चेतना का ही विकास है। इसे अतीन्द्रिय चेतना का विकास नही कहा जा सकता। पूरे शरीर से सुना जा सकता है, चखा जा सकता है, गंध का अनुभव किया जा सकता है।

संभिन्न-स्रोतोलब्धि

आज का विज्ञान कहता है कि कानों की अपेक्षा दांतों से अच्छा सुना जा सकता है। दांत सुनने के शक्तिशाली साधन है। यदि थोड़ा-सा यांत्रिक परिवर्तन किया जाए तो जितना अच्छा दांत से सुना जा सकता है, उतना अच्छा कान से नही सुना जा सकता। एक लब्धि का नाम है—संभिन्न-श्रोतो-लब्धि। जो व्यक्ति इस लब्धि से सम्पन्न होता है, उसकी चेतना का इतना विकास हो जाता है कि उसका समूचा शरीर कान, आंख, नाक, जीभ और

स्पर्श का काम कर सकता है। उसके लिए कान से सुनना या आंख से देखना आवश्यक नहीं होता। वह शरीर के किसी हिस्से से सुन सकता है, देख सकता है। वह पांचों इन्द्रियों का काम समूचे शरीर से ले सकता है। उसके ज्ञान का स्रोत संभिन्न हो जाता है, व्यापक बन जाता है।

मन की क्षमता

इन्द्रिय-चेतना की भांति मानसिक चेतना का विकास किया जा सकता है। स्मृति मन का एक कार्य है। उसे विकसित करते-करते पूर्वजन्म की स्मृति (जातिस्मृति) हो जाती है। यह भी अतीन्द्रिय चेतना (Extra-sensory Perception—ई० एस० पी०) नही है। दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूर-आस्वादन और दूर-स्पर्शन का विकास भी इन्द्रिय चेतना का ही विकास है। ये सब विशिष्ट क्षमताए हैं फिर भी इन्हें अतीन्द्रिय चेतना (ई० एस० पी०) नहीं कहा जा सकता।

पूर्वाभास अतीन्द्रिय ज्ञान है ?

परामनोविज्ञान के अनुसार पूर्वाभास (precognition) अतीन्द्रिय ज्ञान है पर वास्तव मे वह संधिकालीन ज्ञान है। उसे न इन्द्रिय-ज्ञान कहा जा सकता है और न अतीन्द्रिय-ज्ञान। वह इन्द्रिय और मन से उत्पन्न नहीं है; इसलिए उसे इन्द्रियज्ञान नही कहा जा सकता। अतीन्द्रियज्ञान की क्षमता उत्पन्न होने पर भविष्य मे घटित होने वाली घटना अथवा अतीत-कालीन घटना को प्रत्येक अवधान के साथ जाना जा सकता है किन्तु पूर्वाभास मे ऐसा नही होता। उसमे भविष्य की घटना का आकस्मिक आभास होता है। अवधान के साथ उसके ज्ञान का निश्चित सबंध नही होता; इसलिए उसे अतीन्द्रिय-ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। वह दिन और रात की संधि की भांति इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान का संधिज्ञान है।

मानसिक ज्ञान का चैतन्य-केन्द्र मस्तिष्क है। मन की सारी वृत्तियां उसके विभिन्न कोष्ठों के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। हम इंद्रिय और मन के ज्ञान से ही परिचित है और उनके चैतन्य-केन्द्र ही हमारी शरीर-संरचना में स्पष्ट हैं। इंद्रिय और मन ज्ञान की सीमा नही है। वे ज्ञान के आदि-बिंदु है। यदि कोई व्यक्ति अपने शरीरस्थ चैतन्य-केन्द्रों को विकसित कर सके तो वह इंद्रिय और मन से अतीत विषयों को जान सकता है। वे चैतन्य-केन्द्र ध्यान के द्वारा विकसित किए जा सकते है।

अतीन्द्रिय चेतना का प्रकटीकरण

मनुष्य का स्थूल शरीर सूक्ष्मतर शरीर का संवादी होता है। सूक्ष्मतर शरीर में जिन क्षमताओं के स्पंदन होते हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति के लिए स्थूल शरीर में केन्द्र बन जाते हैं। उसमे शक्ति और चैतन्य की अभिव्यंजना

के अनेक केन्द्र हैं। वे सुप्त अवस्था मे रहते हैं। अभ्यास के द्वारा उन्हें जागृत किया जाता है। अपनी जागृत अवस्था मे वे 'करण' बन जाते हैं। 'करण' को विज्ञान की भाषा मे विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र (Electro-magnetic Field) कहा जा जा सकता है।

हठयोग और तंत्रशास्त्र में चैतन्य-केन्द्रो को चक्र कहा जाता है। जैन योग मे चैतन्य-केन्द्रों के अनेक आकारों का उल्लेख मिलता है, जैसे—शख, कमल, स्वस्तिक, श्रीवत्स, नद्यावर्त, ध्वज, कलश, हल आदि। ये नाना आकार वाले चैतन्य-केन्द्र इंद्रियातीत ज्ञान के माध्यम बनते हैं। इनके माध्यम से चैतन्य का प्रकाश बाहर फैलता है। अतीन्द्रियज्ञान का एक प्रकार है अवधिज्ञान। जैसे जालीदार ढक्कन मे रखे हुए दीप का प्रकाश जाली में से छनकर बाहर आता है, वैसे ही अवधिज्ञान की प्रकाश-रश्मियां इन चैतन्य-केन्द्रों के माध्यम से बाहर आती हैं। आनुगमिक अवधिज्ञान के दो प्रकार होते है—अनगत और मध्यगत। जैसे कोई मनुष्य टार्च को आगे की ओर करता है तब उसका प्रकाश आगे की ओर फैलता है। जब वह उसे दाएं बाए करता है तब उसका प्रकाश दाएं-बाए फैलता है। एक दिशा मे फैलने वाले प्रकाश की भांति अंतगत अवधिज्ञान होता है। उसका प्रकाश आगे-पीछे या दाएं-बाए फैलता है। वह जिस दिशा मे फैलता है उस दिशा मे स्पष्ट होता है। किंतु उसका प्रकाश सब दिशाओं मे नही फैलता। यह अवधिज्ञान सपूर्ण शरीर के माध्यम से नहीं होता किंतु जितने चैतन्य-केंद्र विकसित होते हैं उतने चैतन्य-केन्द्रो के माध्यम से होता है। एक मनुष्य में एक चैतन्य-केन्द्र भी विकसित हो सकता है और अनेक चैतन्य-केन्द्र भी विकसित हो सकते है। इनके विकास का हेतु ध्यान है। जिन चैतन्य-केन्द्रो पर अवधान नियोजत किया जाता है वे विकसित हो जाते है। ध्यान की धारा आगे-पीछे, दाएं-बाएं—जिस दिशा मे प्रवाहित होती है उस दिशा के चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते हैं और वे चैतन्य-रश्मियों के बहिर्निर्गमन के माध्यम बन जाते हैं।

जैसे दीवट पर रखे हुए दीप का प्रकाश चारों दिशाओं में फैलता है है वैसे ही मध्यगत अवधिज्ञान की प्रकाश-रश्मियां समूचे शरीर से बाहर आती हैं।

तत्रशास्त्र और हठयोग मे छह या सात चक्रों का सिद्धांत प्रतिपादित हुआ है। प्रतिपादन की प्राचीन शैली रूपकमय है अतः चक्रों के विषय में स्पष्ट कल्पना करना कठिन है। बहुत लोगो ने उन्हे किसी विशिष्ट अवयव के रूप में स्थूल शरीर में खोजने का प्रयत्न किया पर उन्हें अपनी खोज में कभी सफलता नही मिली। स्थूल शरीर में ग्रन्थिया है। शरीरशास्त्र के अनुसार उनका कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। उन्हें चक्र माना जा सकता है।

चक्रों और ग्रन्थियों के स्थान भी प्रायः एक ही हैं। मूलाधार चक्र का किसी ग्रन्थि से सीधा संबध नहीं है। स्वाधिष्ठान चक्र का काम-ग्रन्थि (गोनाड्स) से संबंध है। मणिपूर चक्र का एड्रीनल से, अनाहत चक्र का थाइमस से, विशुद्धि-चक्र का थाइराइड से, आज्ञाचक्र का पिच्यूटरी से और सहस्रार चक्र का पिनियल से संबंध स्थापित किया जा सकता है।

विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र

जैन पराविद्या के अनुसार शक्ति और चैतन्य के केन्द्र अनगिन हैं। वे पूरे शरीर मे फैले हुए हैं। उन्हें ग्रन्थियों तक सीमित नही किया जा सकता। ग्रन्थियों का काम सूक्ष्मतर या कर्मशरीर से आने वाले कर्म-रसायनो और भावों का प्रभाव प्रदर्शित करना है। अतीन्द्रिय चेतना को प्रकट करना उनका मुख्य कार्य नहीं है। वे अतीन्द्रिय चेतना की अभिव्यक्ति के लिए विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र बन सकते हैं अथवा उनके आसपास का क्षेत्र विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र बन सकता है। उनके अतिरिक्त शरीर के और भी अनेक भाग विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र बन सकते है; इसलिए शक्ति-केन्द्रों और चैतन्य-केन्द्रो की सख्या बहुत अधिक हो जाती है। हमारी कोख के नीचे बहुत शक्तिशाली चैतन्य-केन्द्र है। हमारे कंधे बहुत बड़े शक्ति-केन्द्र हैं। फलित की भाषा में कहा जा सकता है कि शक्ति-केन्द्र और चैतन्य-केन्द्र शरीर के अवयव नहीं है किन्तु शरीर के वे भाग है, जिनमें विद्युत्-चुम्बकीय-क्षेत्र बनने की क्षमता है। वे भाग नाभि से नीचे पैर की एड़ी तक तथा नाभि से ऊपर सिर की चोटी तक, आगे भी हैं, पीछे भी हैं, दाए भी है और बाएं भी हैं। जब समस्त ऋजुता आदि विशिष्ट गुणो की साधना के द्वारा वे केन्द्र सक्रिय हो जाते है, 'करण' बन जाते हैं, तब उनमे अतीन्द्रिय चेतना प्रकट होने लग जाती है। यह कोई आकस्मिक संयोग नही है। यह एक स्थाई विकास है। एक बार चैतन्य-केन्द्र के सक्रिय हो जाने पर जीवन भर उसकी सक्रियता बनी रहती है। अतीन्द्रिय-ज्ञानी जब चाहे तब अपनी अतीन्द्रिय चेतना का करणभूत चैतन्य-केन्द्र के द्वारा उपयोग कर सकता है। वह सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ पदार्थ का साक्षात् कर सकता है।

अतीन्द्रिय ज्ञान की जागृति का एक माध्यम है—प्रेक्षाध्यान।

प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया

प्रेक्षाध्यान की दो पद्धतियां हैं—

१. संपूर्ण शरीर-प्रेक्षा।

२. चैतन्य-केंद्र प्रेक्षा।

सपूर्ण शरीर की प्रेक्षा करने से पूरा शरीर 'करण' बन जाता है, अतीन्द्रिय-ज्ञान का साधन बन जाता है। इसमें दीर्घकाल, गहन अध्यवसाय,

सघन श्रद्धा और धृति की अपेक्षा होती है। कुछ महीनों और वर्षों की प्रेक्षा-साधना से पूरा शरीर 'करण' नही बन जाता। उसके लिए बहुत बड़ा अभ्यास जरूरी होता है। इसकी अपेक्षा किसी एक चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा का अभ्यास कुछ सरल होता है। पूरे शरीर की प्रेक्षा का परिपाक होने पर पूरे शरीर से अतीन्द्रियज्ञान की प्रकाश-रश्मियां बाहर फैलती हैं। चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा से जो चैतन्य-केन्द्र जागृत होता है, उसी से अतीन्द्रियज्ञान की प्रकाश-रश्मियां बाहर फैलती हैं। अतीन्द्रियज्ञान की दोनों प्रकार की उपलब्धियां ध्यान के दो भिन्न कोटिक-अभ्यासों पर निर्भर हैं। जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा, रुचि, शक्ति और धृति होती है वह उसी पद्धति का चुनाव कर लेता है—कोई संपूर्ण शरीर प्रेक्षा का और कोई चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा का।

प्रेक्षाध्यान की निष्पत्ति

प्रेक्षाध्यान से दो कार्य निष्पन्न होते है—

१. करण-निष्पत्ति।

२. आवरण-विशुद्धि।

जहां अवधान नियोजित होता है वह शरीर-भाग अवधिज्ञान के लिए 'करण' या माध्यम बन जाता है। प्रेक्षाध्यान का अवधान राग द्वेष-रहित, समभावपूर्ण होता है, उससे ज्ञान और दर्शन का आवरण विशुद्ध होता है। आवरण के विशुद्ध होने पर जानने की क्षमता बढ़ती है और शरीर-भाग के विशुद्ध होने पर उस विकसित ज्ञान को शरीर से बाहर फैलने का अवसर मिलता है। आवरण की विशुद्धि सपूर्ण चैतन्य मे होती है, किंतु उसका प्रकाश शरीर-प्रदेशो को करण बनाए बिना बाहर नही जा सकता। विद्युत्-प्रवाह होने पर भी यदि बल्ब न हो तो उसका प्रकाश नही होता। ठीक यही बात ज्ञान पर लागू होती है। आवरण की विशुद्धि होने पर चैतन्य का प्रवाह उपलब्ध हो जाता है, फिर भी शरीर-प्रदेश की विशुद्धि हुए बिना वह बाह्य अर्थ को नहीं जान सकता, प्रकाशित नही कर सकता। इसलिए ज्ञान के क्षेत्र में आवरण-विशुद्धि और करण-विशुद्धि—ये दोनों आवश्यक होती है।

केन्द्र और संवादी केन्द्र

चैतन्य-केन्द्र हमारे स्थूल शरीर मे होते है। नाभि, हृदय, कठ, नासाग्र, भृकुटि, तालु, सिर—ये चैतन्य-केंद्र है। आवरण की विशुद्धि होने पर ये जागृत हो जाते हैं, निर्मल हो जाते है और अतीद्रिय ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते हैं। ज्ञात चैतन्य-केन्द्रों के अतिरिक्त स्थूल शरीर के ऐसे अन्य परमाणुस्कंध भी है जो अतींद्रिय ज्ञान के माध्यम बनते हैं। परिष्कृत या निर्मल बने हुए परमाणु-स्कंधो को स्थूल शरीर में देखा नहीं जा सकता। इसीलिए इन चैतन्य-केन्द्रों के विषय में विचार-भिन्नता मिलती

है। कुछ लोग इनकी उपस्थिति प्राण-शरीर में मानते हैं और कुछ वासना-शरीर में। ये उन दोनों में हो सकते हैं, किंतु प्राण और वासना-शरीर में होने वाले केन्द्रों के संवादी केन्द्र यदि स्थूल शरीर में न हों, तो ज्ञान को अभिव्यक्ति नहीं मिल सकती। इंद्रियज्ञान के केंद्र सूक्ष्म शरीर मे होते हैं और उनके सवादी केन्द्र हमारे स्थूल शरीर में होते है, तभी भीतर की ज्ञान-रश्मियां बाह्य जगत् मे आती है। इन चैतन्य-केन्द्रो पर भी यही नियम लागू होता है।

जो चैतन्य-केंद्र नाभि से ऊपर के भाग में होते हैं, वे विशद होते हैं। कुछ चैतन्य-केंद्र नीचे भी होते है, वे अविशद होते हैं; इसलिए आध्यात्मिक उत्क्रमण करने वालों के वे नही होते।

परामनोविज्ञान में अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण (एक्स्ट्रा-सैन्सरी परसैप्शन)

सामान्यतः बाह्य जगत् का बोध हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। किन्तु जब किसी भी मनः प्रभाव अथवा भौतिक वस्तु या घटना का बोध हमें बिना किसी इन्द्रिय सवेद अथवा तार्किक अनुमान से हो तो उसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण (एक्स्ट्रा-सैंसरी परसैप्शन) कहा जा सकता है। और, क्योंकि अभी तक इस प्रकार के बोध की कोई सामान्य व्याख्या किसी भी विज्ञान द्वारा सम्भव नही हो पाई है—अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण को 'परा-सामान्य' की श्रेणी में रखकर इसका परामनोविज्ञान में विस्तृत व गहन अध्ययन करने का प्रयास किया जा रहा है।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण सम्बन्धी शोध अनेक कारणों से महत्त्वपूर्ण है: प्रथम तो अनेक अन्य परासामान्य प्रघटनाओं को समझने में यह शोध सहायक सिद्ध हो सकता है, यथा—माध्यमों द्वारा कथित प्रेतात्माओ के संदेश, कथित पूर्वजन्म की स्मृतियां व भूत-प्रेतों सम्बधी अनेक घटनाओं की वैकल्पिक व्याख्या अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण शक्ति के आधार पर करने के प्रयास किये है। दूसरे, अंतरिक्ष मे संचार-संप्रेषण की जो कठिनाइयां दूरी के अनुपात में बढ़ती जाती हैं, उन्हें हल करने में इनका सहयोग हो सकता है[1]। इनके अतिरिक्त जीवन के अनेक विविध क्षेत्रो जैसे लापता व्यक्तियों व अपराधियों की खोज तथा जासूसी आदि में भी संभवतः इन शोधकार्यों से महत्त्वपूर्ण योगदान मिल सके। वैसे यदि किसी दिन अतीन्द्रिय बोध क्षमता को पूर्णतः नियंत्रण मे लाया जा सका, तो कदाचित् विश्व में ऐसी क्रांति आ जायेगी, जो पहले कभी किसी खोज द्वारा नही आ सकी है।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण के चार स्वरूप होते है: परचित्तबोध

१. अपोलो १४ में गए अतरिक्ष यात्री मिशेल ने अंतरिक्ष से पृथ्वी के बीच अतीन्द्रिय बोध सम्बन्धी कुछ प्रयोग किए थे।

(टैलीपैथी), दूरदृष्टि (क्लेयरवायेन्स), पूर्वाभास (प्रीकॉग्नीशन) व भूताभास (रेट्रोकॉग्नीशन)।

कभी-कभी प्राप्त बोध का स्वरूप निश्चित करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे सामान्य अतीन्द्रिय बोध (जनरल एक्स्ट्रा-सैंसरी परसैप्शन) कहा जाता है।

अतीन्द्रिय बोध की घटनाएं स्वतः स्फूर्त भी हो सकती हैं और प्रयोगों अथवा अन्य प्रकार से सप्रयास उत्पन्न भी की जा सकती है। दोनों ही प्रकारों का परामनोवैज्ञानिकों द्वारा अध्ययन किया गया है।

विश्वभर की विभिन्न परामनोवैज्ञानिक शोध-संस्थाओं ने हजारों ही स्वतः स्फूर्त प्रकरणों के, खूब अच्छी तरह छानबीन करके, विवरण अपने प्रकाशनों में प्रस्तुत किये हैं।

अतीन्द्रिय बोध के अनुभव प्रायः किसी संकट (मृत्यु, बीमारी, आर्थिक हानि आदि) से संबंधित होते हैं, लेकिन कई बार बहुत मामूली बातों से सम्बन्धित भी पाये गये है। ये अनुभव पूर्ण जाग्रत अवस्था, अर्द्ध-जागृत, अर्द्ध-निद्रित अवस्था मे व पूर्ण निद्रा अवस्था, सभी प्रकार की अवस्थाओं में होते है। कभी ये मात्र आंतरिक हल्के से अहसास के रूप मे तो कभी तीव्र संवेदना के रूप मे अभिव्यक्त होते हैं। कई बार जागृत व्यक्ति को ये मतिविभ्रम के रूप में भी अनुभूत होते है। स्वप्नो मे तो ये प्रायः प्रकट होते ही हैं।

१९६० के लगभग एक चैकोस्लोवाकी भौतिकशास्त्री, जीव-रसायन-शास्त्री व परामनोविज्ञानी डॉ० मिलान रिज्ल ने कुछ व्यक्तियों को सम्मोहित करके उनमें अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण की क्षमता विकसित करने का प्रयास किया। अपनी एक विशिष्ट विधि द्वारा आप एक युवक पावेल स्टैपनेक के साथ ऐसा करने में सफल भी हुए। पावेल की क्षमता की जांच करने अनेक देशों से परामनोविज्ञानी प्राग पहुंचे व उसे अनेक देशों की प्रयोगशालाओं में ले जाकर परीक्षण किया गया। पावेल सभी प्रयोगों मे सफल रहा। किंतु एक विचित्र बात यह देखी गई कि पावेल कुछ विशेष प्रकार के प्रयोगों में व अपने प्रिय पत्तों को उपयोग में लिए जाने पर अवश्य सफल होता था। कुछ पत्तों को वह उन्हें चाहे जितने और चाहे जैसे लिफाफों मे बन्द किये जाने पर भी सही-सही पहचान लेता था। ऐसा स्पष्ट संकेत मिलता है कि सम्मोहन द्वारा कुछ व्यक्तियों में अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण की क्षमता उत्पन्न की जा सकती है।)

१९६८ में डॉ० थेलमा मॉस ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि भावात्मक (इमोशनल) सामग्री का संप्रेषण भावहीन सामग्री की अपेक्षा

अधिक मात्रा व अधिक स्पष्ट रूप में होता है।

१९६२ में माइमोनीडिस डॉ० मोन्टेग्यू उलमान ने डॉ० गार्डनर मर्फी के सहयोग से एक 'ड्रीम लेबोरेटरी'—स्वप्न प्रयोगशाला मात्र परामनो-वैज्ञानिक शोधकार्य हेतु स्थापित की। १९६४ में डॉ० स्टेनले क्रिपनर के साथ यहां पर बहुत-से ऐसे प्रयोग किए गए जिनमे कि सोते हुए व्यक्ति के स्वप्नों को अन्य कमरे में किन्हीं कलाकृतियों पर ध्यान केंद्रित करके प्रभावित करने की चेष्टा की गई। प्रयोगों से सफलतापूर्ण परिणाम प्राप्त हुए। अब यहां अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण के अन्य पहलुओं पर शोध चल रहा है।

उधर रूस में लेनिनग्रेड विश्वविद्यालय में शरीरविज्ञान विभाग के अध्यक्ष व लेनिन पुरस्कार विजेता लियोनिड एल० वर्गसिलियेव ने १९६० में एक सभा मे उपस्थित रूस के वैज्ञानिकों को इस घोषणा से चौंका दिया कि वे लम्बे अरसे से परचित्त बोध शक्ति द्वारा सम्मोहन-सुझाव के प्रयोग करते रहे हैं। उन्होंने कहा कि "अमरीकी नौसेना आज अपनी आणविक पनडुब्बियों से परचित्त बोध शक्ति द्वारा संदेश भेजने का प्रयोग कर रही है, लेकिन सोवियत विज्ञानियों ने २५ वर्ष पूर्व ही इस तरह के अनेक सफल परीक्षण कर डाले हैं।

सोवियत विज्ञानियों द्वारा जलमग्न पनडुब्बी व भूमि के बीच जो परीक्षण किया गया था वह मानव पर नहीं किया गया था। यह प्रयोग एक मादा खरगोश व उसके नवजात छौनो पर किया गया था।

> "वैज्ञानिकों ने पनडुब्बी में खरगोश के छौनों को रखा और उनकी मां को तट पर स्थित एक प्रयोगशाला में रखा। यहां उनके मस्तिष्क में उन्होंने इलैक्ट्रोड्स लगा दिए। जब पनडुब्बी सागर में काफी नीचे चली गई तब उसमें मौजूद सहायको ने एक-एक करके उन छौनों को मारना शुरू किया। मादा खरगोश को कुछ पता नहीं था कि क्या हो रहा है। बच्चों की मृत्यु कब हुई यह सब जानने का उसके पास कोई उपाय न था। फिर भी प्रत्येक छौने की मृत्यु के क्षण उसकी मां के मस्तिष्क में अजीब-सी प्रतिक्रिया हुई।"

१९६६ मे सुविख्यात 'द ग्रेण्ड मोस्को-साइबेरिया टैलीपेथी टेस्ट' संपन्न किया गया था। इसका एक रोचक विवरण 'साइकिक डिस्कवरीज बिहाइंड द आइरन कर्टेन' में प्रस्तुत किया गया है :

१९ अप्रैल, १९६६ की बात है। परचित्त-बोध के परीक्षण के लिए कार्ल निकोलायेव को मास्को से साइबेरिया जाना पड़ा। साइबेरिया के विज्ञान-नगर के नाम से विख्यात नोवोसिब्रिस्क हवाई अड्डे पर जैसे ही कार्ल अपने विमान से उतरा उसे लगा जैसे बीसियों जोड़ी आंखें आकर उससे चिपक गई हैं। हर जोड़ी आंख में एक अलग किस्म का भाव है—किसी में

जिज्ञासा, किसी में उपहास। कार्ल को यह सब स्वाभाविक लगा। वह जानता था कि बिना प्रत्यक्ष अनुभव किए लोग विश्वास ही नहीं करेंगे कि वह मास्को से भेजे गए परचित्त संदेशों को सुदूर साइबेरिया में ग्रहण कर सकता है। वह पूरे विश्वास से परीक्षण के लिए तैयार हो गया।

साइबेरिया की ठण्डी सन्नाटे भरी आधी रात कार्ल 'गोल्डन वैली होटल' के एक कमरे में कुछ सोवियत वैज्ञानिकों के साथ बैठा था। कमरे में मौन छाया हुआ था। उधर सैकड़ों मील दूर मास्को के पूर्णतः पृथक् और 'इन्सुलेटेड' कक्ष मे यूरी कामेस्की कुछ वैज्ञानिकों के साथ बैठा हुआ था। यूरी को यह कतई नही मालूम था कि उसे कार्ल को किस आशय का परचित्त सदेश भेजना है।

कुछ ही क्षण बाद क्रेमलिन की घडी ने आठ बजाये और कक्ष मे मौजूद एक विज्ञानी ने कामेस्की को एक सीलबन्द पैकेट दिया। पैकेट मे धातु की बनी एक कमानी थी जिसमे सात घेरे थे। कामेस्की के शब्दों में —"मैंने कमानी को उठाया व उसके घेरे पर अंगुलियां फिराने लगा। मैने कोशिश की कि कमानी के चित्र को पूरी तरह अपने मे जज्ब कर लू। साथ ही मैंने निकोलायेव के चेहरे को भी याद किया। मैने कल्पना की कि जैसे निकोलायेव मेरे सामने बैठा है। इसके बाद मैने कल्पना की कि मैने कार्ल निकोलायेव के एक कन्धे के पीछे से कमानी को देख रहा हू। फिर मैने कल्पना की कि मैं उसकी (कार्ल निकोलायेव की) आंखों से कमानी को देख रहा हूं।"

"इसी क्षण उधर एक हजार आठ सौ साठ मील दूर कार्ल तनाव मे भर गया। एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार उसकी अगुलियां जैसे किसी ऐसी वस्तु पर, जो केवल कार्ल को दिखाई देती थी, फिरने लगीं। इसी क्षण उसने लिखा—गोल, धातु निर्मित, चमकती हुई, घेरे जैसी लगती है।" इसके बाद जब कामेस्की ने एक पेचकस का बिंब भेजना चाहा तो कार्ल निकोलायेव ने तत्क्षण लिखा—"लबा, पतला""धातु ' प्लास्टिक""काला प्लास्टिक।"

मास्को-साइबेरिया के बीच हुए इस परचित्त बोध के परीक्षण की सोवियत संघ में व्यापक प्रतिक्रिया हुई और अतीन्द्रिय बोध सम्बन्धी और अनेक परीक्षण विभिन्न विज्ञानियों द्वारा किए गए।

१९७१ में, अपोलो १४ के एक अन्तरिक्ष यात्री एडगर मिशेल पहले ऐसे व्यक्ति हुए, जिन्होने कि अन्तरिक्ष व पृथ्वी के बीच अतीन्द्रिय बोध संबधी परीक्षण किए।

चन्द्रमा पर कदम रखने वाले व्यक्ति मिशेल अन्तरिक्ष विज्ञानों मे तीन 'डाक्टरेट' की उपाधियां अर्जित कर चुके थे। अनेक वर्षों से आपकी

परामनोविज्ञान में विशेष रुचि रही है। जब आपका चन्द्रमा पर जाना निश्चित हुआ तो आपने इसे परचित्तबोध की दूरी से जाच करने के लिए एक सुअवसर भी पाया। आपने जैनर कार्ड्स का उपयोग करते हुए पृथ्वी पर चार व्यक्तियों को उनके चिह्न संप्रेषित करने का प्रयास किया। डॉ० राइन व अमेरिकन सोसाइटी फॉर साइकिकल रिसर्च के डॉ० कार्लिस ओसिस ने इन प्रयोगों के परिणामों का विश्लेषण करके यह बताया कि इनसे पूर्वाभास का साक्ष्य मिलता है।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण सबंधी इन अनेक प्रयोगों से यह तो सिद्ध हो गया कि 'अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण' एक वास्तविकता है, मात्र कपोल-कल्पना नहीं। किन्तु इसकी प्रकृति के सबन्ध मे अभी भी अनेक प्रश्न है जिनके या तो आधे-अधूरे उत्तर ही मिल पाये है या जो अभी सर्वथा अनुत्तरित ही है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण की क्षमता कब-किन परिस्थितियों मे उत्पन्न की जा सकती है? क्या इस पर किसी प्रकार से नियंत्रण किया जा सकता है? यह धीरे-धीरे कम क्यों हो जाती है? किस प्रकार के व्यक्तियों मे यह क्षमता अधिक या कम पाई जाती है? आदि-आदि अनेक प्रश्न है, जिनका समुचित समाधान खोजना अभी बाकी है।

१९५० से १९८२ के बीच इस तरह के प्रश्नों की कतार और लंबी हो गई है। नये प्रयोगों से जितने उत्तर मिले है कदाचित् उनसे अधिक अचीन्हे क्षेत्र उजागर हुए है।

विचार-संप्रेषण

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिको ने यह तथ्य प्रगट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रो को चुम्बकीय क्षेत्र नही बना लेता, एलेक्ट्रो-मेग्नेटिक फील्ड नही बना लेता, तब तक उसमे पारदर्शन की क्षमता नहीं जाग सकती।

आज के पेरासाईकोलॉजिस्ट टैलीपैथी का प्रयोग करते है। टैलीपैथी का अर्थ है—विचार-सप्रेषण। एक आदमी कोसों की दूरी पर है। उससे बात करनी है, कैसे हो सकती है? आज तो टेलीफोन और वायरलेस का साधन है। घर बैठा आदमी हजारों कोसों पर रहने वाले अपने व्यक्तियों से बात कर लेता है। प्राचीन काल में ये साधन नहीं थे, टैलीपैथी शब्द भी नही था। यह अग्रेजी का शब्द है। उस समय विचारों को हजारों कोस दूर भेजना विचार-संप्रेषण की प्रक्रिया से होता था। जैसे एक योगी है उसका शिष्य पांच हजार मील दूरी पर बैठे अपने शिष्य को कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है तो विचार-संप्रेषण की साधना की जाती थी जिससे विचारों का आदान प्रदान हो जाता था।

अतीन्द्रिय चेतना : विकास की प्रक्रिया

विकास के क्रम के अनुसार प्रत्येक प्राणी मे चेतना अनावृत होती है। इन्द्रिय, मानसिक और बौद्धिक चेतना के साथ-साथ कुछ अस्पष्ट या धुंधली-सी अतीन्द्रिय चेतना भी अनावृत होती है। पूर्वाभास विचार-सप्रेषण आदि उसी कोटि के हैं।

अतीन्द्रिय चेतना की प्रारम्भिक अवस्था— पूर्वाभास, अतीतबोध और उसकी विकसित अवस्था की सीमा को समझा जा सकता है। मन पर्यवज्ञान या परचित्तज्ञान भी अतीन्द्रिज्ञान है। विचार-सप्रेषण विकसित इन्द्रिय-चेतना का ही एक स्तर है। उसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहना सहज-सरल नही है। विचार-सप्रेषण की प्रक्रिया मे अपने मस्तिष्क मे उभरने वाले विचार-प्रतिबिम्बों के आधार पर दूसरे के विचार जाने जाते है। प्रत्येक विचार अपनी आकृति का निर्माण करता है। विचार का सिलसिला चलता है तब नई-नई आकृतिया निर्मित होती जाती है और प्राचीन आकृतिया विसर्जित हो, आकाशिक रेकार्ड मे जमा होती जाती हैं। मन पर्यवज्ञानी उन आकृतियों का साक्षात्कार कर सबद्ध व्यक्ति की विचारधारा को जान लेता है। उसमे अतीत, वर्तमान और भविष्य के विचारो को जानने की क्षमता होती है। मानसिक चिन्तन के लिए उपयुक्त परमाणुओं की एक राशि होती है। वह परमाणु राशि हमारे चिन्तन मे सहयोग करती है। उसको ग्रहण किए बिना हम कोई भी चिंतन नही कर सकते। उस राशि के परमाणुओ के भावी परिवर्तन के आधार पर मन पर्यवज्ञानी भविष्य मे होने वाले विचार को भी जान सकता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व दो आयामो मे विकसित होता है। उसका बाहरी आयाम विस्तृत और निरंतर गतिशील होता है। उसका आन्तरिक आयाम सकुचित और निष्क्रिय होता है। उसके बाहरी आयाम की व्याख्या स्थूल-शरीर, वाणी, मन और बुद्धि के आधार पर की जाती है। उसके आन्तरिक आयाम की व्याख्या सूक्ष्म और सूक्ष्मतर शरीर, प्राण-शक्ति, प्रज्ञा (अतीन्द्रिय चेतना) और अमूर्च्छा के आधार पर की जा सकती है। बाहरी व्यक्तित्व से हमारा घनिष्ट सबन्ध है। उसमे बुद्धि का स्थान सर्वोपरि है, इसलिए वह हमारे चिंतन की सीमा बन गयी। उससे परे पराविद्या की भूमिका है। पराविद्या का पहला चरण है बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण। जैसे ही प्रज्ञा का जागरण होता है, बुद्धि की सीमा अतिक्रात हो जाती है। इन्द्रियो से परे मन है और मन से परे बुद्धि है। बाहरी व्यक्तित्व इस सीमा से आगे नही जा सकता। इस सीमा को पार करते ही मनुष्य का आन्तरिक व्यक्तित्व उजागर हो जाता है। वहा प्राण-शक्ति प्रखर होती है और चेतना सूक्ष्म। बुद्धि की सीमा मे पदार्थ के प्रति मूर्च्छा का न होना सम्भव

नहीं माना जाता किन्तु प्रज्ञा की सीमा मे समता का भाव निर्मित होता है और अमूर्च्छा संभव बन जाती है। पराविद्या के क्षेत्र में प्राण-ऊर्जा और अतीन्द्रिय चेतना का अध्ययन किया गया है किन्तु अमूर्च्छा या वीतरागता उसके अध्ययन का विषय अभी नही बन पाया है। यह परामनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा हो सकती है।

अमूर्च्छा का विधायक अर्थ है—समता। उसका विकास होने पर अतीन्द्रिय चेतना अपने आप विकसित होती है। परामनोविज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले लोग केवल अतीन्द्रिय चेतना के विकास की खोज में लगे हुए है। यह खोज बहुत लम्बी हो सकती है और अनास्था भी उत्पन्न कर सकती है।

अतीन्द्रिय चेतना की स्पष्टता के लिए शरीरगत चैतन्य-केन्द्रों को निर्मल बनाना होता है। सयम और चरित्र की साधना जितनी पुष्ट होती है, उतनी ही उनकी निर्मलता बढती जाती है। चैतन्य-केंद्रों को निर्मल बनाने का सबसे सशक्त साधन है ध्यान। अतीन्द्रियज्ञान के धुंधले रूप चरित्र के विकास के बिना भी सभव हो सकते है किन्तु अतीन्द्रिय चेतना के विकास के साथ चरित्र के विकास का गहरा संबन्ध है। यहां चरित्र का अर्थ समता है, राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता के भाव से मुक्त होना है। उसकी अभ्यास पद्धति प्रेक्षा-ध्यान है।

भावतंत्र का परिष्कार

अग्रमस्तिष्क (फ्रंटल लॉब) कषाय या विषमता का केन्द्र है। अतीन्द्रिय चेतना का केन्द्र भी वही है। जैसे-जैसे विषमता समता मे रूपान्तरित होती है वैसे-वैसे अतीन्द्रिय चेतना विकसित होती चली जाती है। उसका सामान्य बिन्दु प्रत्येक प्राणी में विकसित होता है। उसका विशिष्ट विकास समता के विकास के साथ ही होता है। मनुष्य के आवेगों और आवेशों पर हाइपोथेलेमस का नियन्त्रण है। उससे पिनियल और पिच्यूटरी ग्लैण्ड्स प्रभावित होते हैं। उनका स्राव एड्रीनल ग्लैण्ड को प्रभावित करता है। वहा आवेश प्रकट होते हैं। ये आवेग अतीन्द्रिय चेतना को निष्क्रिय बना देते हैं। उसकी सक्रियता के लिए हाइपोथेलेमस और पूरे ग्रन्थितंत्र को प्रभावित करना आवश्यक होता है। ग्रन्थितंत्र का सबन्ध मनुष्य के भावपक्ष से है। भावपक्ष का सृजन इस स्थूल-शरीर से नहीं होता। उसका सृजन सूक्ष्म और सूक्ष्मतर शरीर से होता है। सूक्ष्म शरीर से आने वाले प्रतिबिम्ब और प्रकंपन हाइपोथेलेमस के द्वारा ग्रन्थितंत्र में उतरते हैं। जैसा भाव होता है, वैसा ही ग्रन्थियों का स्राव होता है और स्राव के अनुरूप ही मनुष्य का व्यवहार और आचरण बनता है। यह कहने में कोई जटिलता नहीं लगती कि

मनुष्य के व्यवहार और आचरण का नियंत्रण ग्रन्थितंत्र करता है और ग्रंथि-तंत्र का नियंत्रण हाइपोथेलेमस के माध्यम से भावतंत्र करता है और भावतंत्र सूक्ष्म-शरीर के स्तर पर सूक्ष्म-चेतना के साथ जन्म लेता है। स्मृति, कल्पना और चिन्तन की पवित्रता से भावतंत्र प्रभावित होता है और उससे ग्रन्थितंत्र का स्राव बदल जाता है। उस रासायनिक परिवर्तन के साथ मनुष्य का व्यवहार और आचरण भी बदल जाता है। यह परिवर्तन मनुष्य की अतीन्द्रिय चेतना को सक्रिय बनाने में बहुत सहयोग करता है।

(III) अतीन्द्रिय शक्ति—योगज उपलब्धियां एवं मनःप्रभाव जैन दर्शन का दृष्टिकोण

ऋद्धि और लब्धि

ध्यान, तप और भावना—ये तीनों शक्ति के स्रोत है। इनके द्वारा वीतरागता उपलब्ध होती है, चैतन्य का शुद्ध स्वरूप उपलब्ध होता है, मोक्ष उपलब्ध होता है। इनकी धारा जिस दिशा में प्रवाहित होती है वही दिशा उदघाटित हो जाती है। इनसे साधक को अनेक प्रकार की ऋद्धियां या लब्धियां भी प्राप्त होती हैं। ये सामान्य व्यक्ति में नही होती, इसलिए इन्हें अलौकिक या लोकोत्तर कहा जाता है। कुछ लोग इन्हे चमत्कार मानते है। पूर्वाभास, दूरबोध, वस्तुओं का इच्छाशक्ति से निर्माण और परिचालन, स्पर्श से भयानक बीमारियों को मिटाना—ये सब चमत्कार जैसे लगते है। चमत्कार का खंडन करने वालों का कहना है कि ये बातें नही हो सकती। ये प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध हैं। जिन लोगों ने ध्यान के क्षेत्र में अभ्यास किया है वे लोग इस चमत्कारवाद को स्वीकार नही करते। उनका अभिमत है कि ये सब चमत्कार नही है। ये सारी घटनाएं प्राकृतिक नियमों के आधार पर ही घटित होती है। जिन लोगों को इन विषयों मे प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं है वे ही इन्हें चमत्कार कह सकते है। ध्यान की परंपरा हजारो वर्ष पुरानी है। ध्यान के आचार्यों ने अनेक प्राकृतिक नियमों की खोज की हैं। जो कुछ घटित होता है, वह प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं है, किन्तु प्रकृति के सूक्ष्म नियमों का अवबोध है। रेडियों-तरंगो के संचार-क्रम के नियमों को नहीं जानने वाला दूर-श्रवण को चमत्कार मान सकता है। उसकी दृष्टि में दूर-दर्शन भी एक चमत्कार ही है। किन्तु एक वैज्ञानिक के लिए वह कोई चमत्कार नही है। 'क्ष' किरणों के द्वारा ठोस वस्तु के पार देखा जा सकता है। तब पार-दर्शन की शक्ति को चमत्कार कैसे माना जाए? हम इस तथ्य को अस्वीकार नही करेंगे कि मनुष्य के शरीर मे अनेक रासायनिक द्रव्य है। वे विविध संयोगों में बदलते रहते है। भावना के द्वारा शारीरिक विद्युत् और रासायनिक द्रव्यों मे परिवर्तन होता है। ध्यान और तपस्या के द्वारा भी

ऐसा घटित होता है। इन आंतरिक परिवर्तनों की रसायनशास्त्र के नियमों द्वारा व्याख्या की जा सकती है। रसायनशास्त्र के सब नियम ज्ञात हो चुके हैं—यह नहीं कहा जा सकता। ऐसे अनेक नियम हो सकते हैं जो आज भी ज्ञात नहीं हैं। सब नियम ज्ञात हो जाएंगे, यह गर्वोक्ति सुदूर भविष्य में भी नहीं की जा सकती। इस स्थिति में जिन आंतरिक ऋद्धियों को हम चमत्कार की संज्ञा देते है, इसकी अपेक्षा उचित यह होगा कि उन्हें हम प्रकृति के सूक्ष्म नियमों की जानकारी के फलित की संज्ञा दें। इन ऋद्धियों को आध्यात्मिक कहना भी बहुत संगत नहीं लगता। कुछेक ऋद्धियां आध्यात्मिक हो सकती हैं, जैसे—केवलज्ञान। किंतु सभी ऋद्धियां आध्यात्मिक नहीं हैं। बहुत सारी पौद्गलिक या भौतिक है। वे अंतर्जगत् मे या आंतरिक साधनो से उपलब्ध होती है, इसलिए उन्हें अलौकिक कहा जा सकता है किंतु अपौद्गलिक या आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता।

सही दिशा

दो साधक एक बार मिले। एक को जल पर बैठने की सिद्धि प्राप्त थी। उसने कहा—'आओ, जल पर बैठें।' दूसरे को आकाश में बैठने की सिद्धि प्राप्त थी। उसने कहा—'आओ, आकाश मे ही बैठें।' अपनी बात को मोड़ देते हुए उसने फिर कहा—'जल पर बैठने में क्या बड़ी बात होगी? मछलियां उसी मे रहती है। आकाश मे बैठने का क्या महत्त्व होगा? पक्षी आकाश में ही रहते है। महत्त्व की बात यह होगी कि हम अध्यात्म का और अधिक विकास करें, समभाव को बढाएं और वीतरागता की दिशा में गतिशील बने।'

ध्यान से मनुष्य दो दिशाओं में गतिशील होता है। एक दिशा है वीतरागता की और दूसरी दिशा है ऋद्धियों की। वीतरागता आध्यात्मिक उपलब्धि है और ऋद्धि चैतन्य और पुद्गल के सयोग से होने वाली उपलब्धि है। वह ध्यान-साधना के प्रासंगिक फलरूप मे भी होती है और ध्यान, भावना आदि को विशेष दिशा मे प्रवाहित करने पर भी होती है। वह पौद्गलिक इसलिए है कि वनौषधि से भी उपलब्ध होती है। सभी ऋद्धियां वनौषधि से प्राप्त नहीं होती, कुछेक होती है, फिर भी वनौषधि से वे प्राप्त होती हैं इस-लिए वे पौद्गलिक हैं। वचन-सिद्धि ध्यान-भावना आदि से भी प्राप्त होती है और वनौषधि के प्रयोग से भी प्राप्त होती है। दूरदर्शन, पूर्वजन्म की स्मृति आदि ऋद्धिया वनौषधि से भी उपलब्ध होती है। इसलिए वे पौद्गलिक है। वे मंत्र-साधना के द्वारा भी प्राप्त होती है। ध्वनि के स्पंदन और उसमे उत्पन्न होने वाली विद्युत् से शरीर और मन मे अनेक परिवर्तन होते है। मंत्र, औषधि आदि से जो ऋद्धिया उपलब्ध होती हैं, वे आध्यात्मिक प्रक्रिया नहीं हैं।

लब्धियों की विचित्र शक्ति

तीन शब्द हैं—मनोबली, वचनबली और कायबली। जिस साधक को मनोबल लब्धि प्राप्त होती है वह अंतर्मुहूर्त मे चौदह पूर्वों[1] का परावर्तन कर सकता है। 'पूर्व' अथाह ज्ञान के भडार हैं। उनका परावर्तन ४८ मिनिट में करना विशिष्ट शक्ति का द्योतक है। जिसे वचनबल लब्धि प्राप्त है वह पूर्व की ज्ञानराशि का उच्चारण अंतर्मुहूर्त मे कर सकता है। यह बात बुद्धिगम्य नहीं होती, किंतु कम्प्यूटर के अविष्कार ने इस बात को बुद्धिगम्य बना डाला, समस्या का हल कर डाला। कम्प्यूटर एक सेकण्ड में एक लाख छियासी हजार गणित के भागों (विकल्पों) का गणित कर लेता है। विद्युत् की जितनी गति है, उसके अनुसार वह कार्य कर लेता है। विद्युत् की गति एक सेकण्ड मे १,८६,००० मील की है। इतनी ही तीव्र गति से कम्प्यूटर गणित के विकल्पों का गणित कर लेता है। विद्युत् की गति से चलने वाला कम्प्यूटर एक सेकण्ड मे इतना बड़ा काम कर सकता है तो चतुर्दशपूर्वी एक अंतर्मुहूर्त में सारे ज्ञान का पारायण या उच्चारण क्यों नही कर सकता? कम्प्यूटर के पास विद्युत् की शक्ति है तो चतुर्दशपूर्वी के पास तैजस शक्ति है। उसका तैजस शरीर इतना विकसित हो जाता है, उसकी दैहिक विद्युत् इतनी तीव्रगामी हो जाती है कि वह यह काम सहजता से कर सकता है। तैजस की विद्युत् इस विद्युत् से अधिक शक्तिशाली होती है। इतना होने पर भी हम अपौद्गलिकता की सीमा में नही जा सकते। चाहे कम्प्यूटर की त्वरित शक्ति हो, चाहे चतुर्दशपूर्वी की त्वरित शक्ति हो, यह है सारी पौद्गलिक सीमा में। कम्प्यूटर विद्युत् की धारा के सहारे अपना कार्य करता है और चतुर्दशपूर्वी तैजस शरीर की विद्युत-धारा के सहारे अपना कार्य करता है। विद्युत-धारा भी पौद्गलिक है और तैजस शरीर भी पौद्गलिक है। वे अ-पौद्गलिक नही है।

लब्धि, ऋद्धि, योगज उपलब्धि, प्रातिहार्य, अतिशय, वचनातिशय आदि का जितना विशद विवेचन जैन साहित्य मे उपलब्ध है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इस वर्णन का सार यह है कि चेतना की आतरिक शक्तियों को विकसित कर समस्त पौद्गलिक जगत् को प्रभावित किया जा सकता है। चेतना-जनित भौतिक बल जिसे "Psycho-physical Force" कहा जा सकता है के विभिन्न प्रभाव उक्त लब्धि आदि शक्तियों में प्रतिलक्षित होते हैं।

ऋद्धियाँ : प्राप्ति और परिणाम

ऋद्धि की उपलब्धि के अनेक साधन है—विद्या, मंत्र, तंत्र, तपस्या, भावना और ध्यान। इनकी प्रायोगिक पद्धति प्रायः लुप्त हो चुकी है। फिर

१. जैन आगमों के ग्रन्थ-विशेष।

भी उसके कुछ बीज आज भी सुरक्षित हैं।

कुछ प्रमुख ऋद्धियां इस प्रकार हैं—

१. केवलज्ञान—पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान।

२. अवधिज्ञान—आंशिक अतीन्द्रिय ज्ञान।

३. मनःपर्यवज्ञान—मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान।

४. बीजबुद्धि—एक बीज-पद को प्राप्त कर उसके सहारे अनेक पदों और अर्थों को जानने की क्षमता।

५. कोष्ठबुद्धि—गृहीत पद और अर्थ की ध्रुव-स्मृति।

६. पदानुसारित्व—एक पद के आधार पर पूरे श्लोक या सूत्र को जानने की क्षमता।

७. संभिन्नस्रोत—(१) किसी भी एक इंद्रिय के द्वारा सभी इंद्रियों के विषयों को जानने की क्षमता।
(२) सब अंगों से सुनने की क्षमता।
(३) अनेक शब्दों को एक साथ सुनने और उनका अर्थ-बोध करने की क्षमता।

८. दूर-आस्वादन—दूर से आस्वाद लेने की क्षमता।

९. दूर-दर्शन—दूरस्थ विषयों को देखने की क्षमता।

१०. दूर-स्पर्शन—दूरस्थ विषयों का स्पर्श करने की क्षमता।

११. दूर-घ्राण—दूरस्थ गंध को सूंघने की क्षमता।

१२. दूर-श्रवण—दूरस्थ शब्द को सुनने की क्षमता।

१३. चारण और आकाशगामित्व—

- जंघा-चारण—सूर्य की रश्मियों का आलंबन ले आकाश मे उड़ने की क्षमता। एक ही उड़ान में लाखों योजन दूर तथा हजारों योजन ऊंचा चला जाना। धरती से चार अगुल ऊपर पैरों को उठाकर चलना।
- व्योम-चारण—पद्मासन की मुद्रा मे आकाश में उड़ने की क्षमता।
- जल-चारण—जल के जीवों को कष्ट दिए बिना समुद्र आदि जलाशयों पर चलने की क्षमता।
- पुष्प-चारण—वनस्पति को कष्ट दिए बिना फूलों के सहारे चलने की क्षमता।
- श्रेणी-चारण—पर्वतों के शिखरों पर चलने की क्षमता।
- अग्निशिखा-चारण—अग्नि की शिखा का आलंबन ले चलने की क्षमता।
- धूम-चारण—धूम की पंक्ति के सहारे उड़ने की क्षमता।

- मर्कटतंतु-चारण—मकड़ी के जाल का सहारा ले चलने की क्षमता।
- ज्योतिरश्मि-चारण—सूर्य, चांद या अन्य किसी ग्रह-नक्षत्र की रश्मियों को पकड़कर ऊपर जाने की क्षमता।
- वायु-चारण—हवा के सहारे ऊपर उडने की क्षमता।
- जलद-चारण—मेघ के सहारे चलने की क्षमता।
- अवश्याय-चारण—ओस के सहारे उड़ने की क्षमता।

१४. आमर्ष-औषधि—हस्त, पाद आदि के स्पर्श से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१५. क्ष्वेलौषधि—थूक से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१६. जल्लौषधि—मैल से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१७. मलौषधि—कान, दांत आदि के मल से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१८. विप्रुडौषधि—मल-मूत्र से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

१९. सर्वौषधि—शरीर के सभी अंग, प्रत्यंग, नख, दंत आदि से व्याधि के अपनयन की क्षमता।

जिसे ये औषधि-ऋद्धियां (१४ से १९) प्राप्त होती हैं, उसके अवयवों में रोग को दूर करने की क्षमता विकसित हो जाती है और उसके थूक, मैल, मल, मूत्र आदि सुरभित हो जाते हैं।

२०. आस्यविष—वाणी के द्वारा दूसरे मे विष व्याप्त करने की क्षमता।

२१. दृष्टिविष—दृष्टि के द्वारा दूसरे में विष व्याप्त करने की क्षमता।

२२. क्षीरास्रवी—
२३. मध्वास्रवी—
२४. सर्पिरास्रवी—
२५. अमृतास्रवी—
} १. हाथ के स्पर्श मात्र से विरस भोजन को दूध, मधु, घी और अमृत की भांति सरस करने की क्षमता।
२. दूध, मधु घी और अमृत की भांति मन को आह्लादित और शरीर को रोमांचित करने की वाचिक क्षमता।

२६. अक्षीणमहानस—हाथ के स्पर्श मात्र से भोजन को अखूट करने की क्षमता।

२७. मनोबली—क्षणभर मे विपुल श्रुत और अर्थ के चिंतन की मानसिक क्षमता।

२८. वाग्बली—ऊंचे स्वर से सतत श्रुत का उच्चारण करने पर भी अश्रांत रहने की क्षमता।

२९. कायबली—महीनों तक एक ही आसन में बैठे या खड़े रहने की क्षमता।

३०. वैक्रिय—इसके अनेक प्रकार हैं—

(१) अणिमा—शरीर को छोटा बनाने की क्षमता।

(२) महिमा—शरीर को बड़ा बनाने की क्षमता।

(३) लघिमा—शरीर को वायु से भी हल्का बनाने की क्षमता।

(४) गरिमा—शरीर को भारी बनाने की क्षमता।

(५) अप्रतिघात—ठोस पदार्थों में भी अस्खलित गति करने की क्षमता।

(६) कामरूपित्व—एक साथ अनेक रूपों के निर्माण की क्षमता।

३१. आहारक—एक पुतले का निर्माण कर यथेष्ट स्थान पर भेजने की क्षमता।

३२. तेजस्—शारीरिक विद्युत् के द्वारा अनुग्रह और निग्रह करने की क्षमता। यह हठयोग और तंत्रशास्त्र मे प्रसिद्ध कुंडलिनी शक्ति है।

तेजोलेश्या (कुंडलिनी)

तैजस शरीर : अनुग्रह-निग्रह का साधन

हम शरीरधारी है। शरीर दो प्रकार के हैं—स्थूल और सूक्ष्म। अस्थिचर्ममय शरीर स्थूल है। तैजस शरीर सूक्ष्म और कर्म-शरीर अति सूक्ष्म है। हमारे पाचन, सक्रियता और तेजस्विता का मूल तैजस शरीर है। वह पूरे स्थूल शरीर में व्याप्त रहता है तथा दीप्ति और तेजस्विता उत्पन्न करता है। विद्युत्, प्रकाश और ताप—ये तीनों शक्तियां उसमे विद्यमान हैं। शरीर मे दो प्रकार की विद्युत् है—घार्षणिक और धारावाही या मानसिक। घार्षणिक विद्युत् का उत्पादन शरीर करता है और धारावाही विद्युत् का उत्पादन मस्तिष्क करता है। मस्तिष्कीय विद्युत्-धारा स्नायु-मडल मे सचरित रहती है। वह ज्ञान-तंतुओं के द्वारा मस्तिष्क तक सूचना पहुचाती है और उससे मिले निर्देशों का शारीरिक अवयवों द्वारा क्रियान्वयन कराती है। इसका मूल हेतु तैजस शरीर है। यह शरीर प्राणिमात्र के साथ निरन्तर रहता है। एक प्राणी मृत्यु के उपरान्त दूसरे जन्म मे जाता है। उस समय अन्तराल गति में भी तैजस शरीर उसके साथ रहता है। कर्म-शरीर सब शरीरों का मूल है। उसके बाद दूसरा स्थान तैजस शरीर का है। यह सूक्ष्म पुद्गलों से निर्मित होता है, इसलिए चर्म-चक्षु से दृश्य नही होता। यह स्वाभाविक भी होता है और तपस्या द्वारा उपलब्ध भी होता है। यह तप द्वारा उपलब्ध तैजस शरीर ही तेजोलेश्या है। इसे तेजोलब्धि भी कहा जाता

है। स्वाभाविक तैजस शरीर सब प्राणियों में होता है। तपस्या से उपलब्ध होने वाला तैजस शरीर सबमें नहीं होता। वह तपस्या से उपलब्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि तपस्या से तैजस शरीर की क्षमता बढ़ जाती है। स्वाभाविक तैजस शरीर स्थूल शरीर से बाहर नहीं निकलता। तपोजनित तैजस शरीर शरीर के बाहर निकल सकता है। उसमें अनुग्रह और निग्रह की शक्ति होती है। उसके बाहर निकलने की प्रक्रिया का नाम तैजस समुद्‌घात है। जब वह किसी पर अनुग्रह करने के लिए बाहर निकलता है तब उसका वर्ण हंस की भांति सफेद होता है। वह तपस्वी के दाएं कंधे से निकलता है। उसकी आकृति सौम्य होती है। वह लक्ष्य का हित-साधन कर (रोग आदि का उपशमन कर) फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

जब वह किसी का निग्रह करने के लिए बाहर निकलता है तब उसका वर्ण सिन्दूर जैसा लाल होता है। वह तपस्वी के बाएं कंधे से निकलता है। उसकी आकृति रौद्र होती है। वह लक्ष्य का विनाश, दाह कर फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

अनुग्रह करने वाली तेजोलेश्या को 'शीत' और निग्रह करने वाली तेजोलेश्या को 'उष्ण' कहा जाता है। शीतल तेजोलेश्या उष्ण तेजोलेश्या के प्रहार को निष्फल बना देती है।

तेजोलेश्या अनुपयोग काल में संक्षिप्त और उपयोग काल में विपुल हो जाती है। विपुल अवस्था में वह सूर्यबिम्ब के समान दुर्दर्श होती है। वह इतनी चकाचौंध पैदा करती है कि मनुष्य उसे खुली आंखों से देख नहीं सकता। तेजोलेश्या का प्रयोग करने वाला अपनी तैजस-शक्ति को बाहर निकालता है तब वह महाज्वाला के रूप में विकराल हो जाती है।

तेजोलेश्या का स्थान

तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर में रहता है। फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र है—मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग। मन और शरीर के बीच सबसे बड़ा संबंध-सेतु मस्तिष्क है। नाभि के पृष्ठभाग में खाए हुए आहार का प्राण के रूप मे परिवर्तन होता है। अतः शारीरिक दृष्टि से मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग—ये दोनों तेजोलेश्या के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जाते हैं। यह तेजोलेश्या एक शक्ति है।

तेजोलेश्या के विकास-स्रोत

तेजोलेश्या के विकास का कोई एक ही स्रोत नहीं है। उसका विकास अनेक स्रोतों से किया जा सकता है। संयम, ध्यान, वैराग्य, भक्ति, उपासना, तपस्या आदि आदि उसके विकास के स्रोत हैं। इन विकास-स्रोतों की पूरी जानकारी लिखित रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। यह जानकारी

मौलिक रूप में आचार्य शिष्य को स्वयं देते थे ।

गोशालक ने महावीर से पूछा—'भंते ! तेजोलेश्या का विकास कैसे हो सकता है ?' महावीर ने इसके उत्तर में उसे तेजोलेश्या के एक विकास-स्रोत का ज्ञान कराया । उन्होंने कहा—'जो साधक निरन्तर दो-दो उपवास करता है, पारणा के दिन मुट्ठीभर उड़द या मूग खाता है और एक चूल्लू पानी पीता है, भुजाओ को ऊंचीकर सूर्य की आतापना लेता है, वह छह महीनों के भीतर ही तेजोलेश्या को विकसित कर लेता है ।'

तेजोलेश्या के तीन विकास-स्रोत हैं—

१. आतापना—सूर्य के ताप को सहना ।
२. क्षांति-क्षमा—समर्थ होते हुए भी क्रोध-निग्रहपूर्वक अप्रिय व्यवहार को सहन करना ।
३. जल-रहित तपस्या करना ।

परामनोविज्ञान में मनःप्रभाव (साइकोकाइनेसिस)

मन द्वारा पदार्थ को सीधे प्रभावित करने की क्रिया को मनःप्रभाव (साइकोकाइनेसिस) कहा गया है । बाह्य जगत् में मानवीय कार्यों के प्रति सामान्य मान्यता यही है कि प्रत्येक कार्य के लिए दैहिक अवयवो, यथा मस्तिष्क, स्नायुओं, मांसपेशियों व कर्मेन्द्रियों का होना अनिवार्य है । किन्तु जब कोई क्रिया बिना दैहिक माध्यम के, मन द्वारा सीधे पदार्थ को प्रभावित करके सम्पन्न होती हो, तो उसे 'परासामान्य' की श्रेणी मे ही रखना होगा ।

बिना दैहिक (ऐंद्रियिक) माध्यम के मन द्वारा सीधे ही प्रत्यक्षण कर सकने की क्षमता का विवेचन कर चुके हैं । अब यह देखे कि मन द्वारा सीधे पदार्थ को प्रभावित करने की क्षमता के बारे मे परामनोविज्ञानी दृष्टि से क्या कहा जा सकता है ।

एक सुबह की बात है । आइरीन नामक एक युवती अपने कमरे में अभी नींद में ही थी कि उसके साथ उसी कमरे में रहने वाली उसकी सहेली कुछ खरीदारी के लिए बाजार चली गई । जब वह बहुत सारा समान लेकर लौटी, तो उसने सोचा कि वह नीचे से ही घंटी बजा दे, ताकि जब वह ऊपर पहुंचे, तो उसे कमरे का दरवाजा खुला मिले । यह सोचते-सोचते वह नीचे के दरवाजे को पार कर गई । फिर एक क्षण तो उसने मुड़कर देखा और सोचा भी "मैं घंटी बजाऊं तो ठीक ही रहेगा ।" लेकिन उसने घंटी बजाई नहीं । नीचे जब वह यह सोच ही रही थी कि ऊपर आइरीन को घंटी की इतनी जोर की आवाज सुनाई दी कि वह एकदम कूदकर बिस्तर से बाहर निकली और दरवाजे की ओर लपक गई ।

यदि निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि आइरीन की सहेली ने

वास्तव में अनजाने में, घंटी नहीं बजाई थी तो यह तो स्वीकार करना होगा कि परा-सामान्य अन्तर्निहित है : किन्तु, वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण है या मनः-प्रभाव यह निश्चित करना स्वयं परामनोविज्ञानियों के लिए कठिन है।

और, सोवियत संघ के विज्ञानियों द्वारा खूब अच्छी तरह अध्ययन की हुई मादाम नेल्या मिखाइलोवा के जीवन की यह घटना (असली नाम नाइनल कुलागिना) तो निस्संदेह परीकथाओं की तरह अविश्वसनीय है।

"एक बार मादाम मिखाइलोवा एक भोज पार्टी में गयी। वहां एक टेबुल पर डबलरोटी उससे कुछ दूर रखी हुई थी। उसने उसकी ओर एक-टक लगातार देखना शुरू किया। कुछ ही मिनटों बाद डबलरोटी उसकी ओर सरकने लगी। जैसे ही वह टेबुल के छोर पर आई, मादाम मिखाइलोवा ने थोड़ा झुककर मुंह खोला और अगले ही क्षण परीकथाओं के अद्भुत अविश्वसनीय दृश्य की तरह वह डबलरोटी उसके खुले मुंह में पहुंच गई।"[१]

मादाम मिखाइलोवा स्पष्टतः मनःप्रभाव अभिव्यक्त कर रही थीं।

कुशाग्रबुद्धि एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाली महिला मादाम मिखाइलोवा ने सोवियत संघ के सर्वोच्च वैज्ञानिकों की देखरेख में अनेक बार विभिन्न प्रकार की वस्तुओं जैसे, कम्पास, धातु का बेलन, फाउन्टेन पेन, माचिस की डिबिया, कांच के कवर के नीचे रखी पांच सिगरेटों आदि को बिना उन्हें स्पर्श किये, हिलाने-डुलाने अथवा खिसकाने की क्षमता का प्रदर्शन किया है।

१९६८ में 'मास्को प्रावदा' में मास्को विश्वविद्यालय के सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्र विभाग के अध्यक्ष डॉ० याटरलेस्टकी ने स्पष्ट कहा : "श्रीमती मिखाइलोवा ऊर्जा के एक नये व अज्ञात रूप का प्रदर्शन करती है और अनेक प्रकार के संशयों व आलोचनाओं के बावजूद हर वैज्ञानिक को, जिसने भी मादाम मिखाइलोवा का गम्भीर रूप से अध्ययन किया, इस मत से सहमत होना पड़ा।

मादाम मिखाइलोवा पर कोई साठ फिल्में तैयार हुई जिनमें कि वे एक टेबुल पर पड़ी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को मात्र उन पर अपनी दृष्टि केंद्रित करके अथवा उनके ऊपर (दूरी से) अपने हाथ चक्राकार रूप में घुमाकर, उन वस्तुओं को इधर-उधर हिला-डुला रही है। अनेक बार उन्होंने ये करतब टेलीविजन के कैमरे के समक्ष, अनेक वैज्ञानिकों, परामनोवैज्ञानिकों, रिपोर्टरों व अन्य दर्शकों की उपस्थिति में करके दिखाये। प्रदर्शनों से पूर्व मादाम मिखाइलोवा की पूरी अच्छी तरह जांच-पड़ताल कर ली जाती थी कि उन्होंने कहीं कोई धागे या अन्य ऐसी चीज छुपा तो नहीं रखी है, जिससे कि वे वस्तुओं में गति उत्पन्न कर देती है। कोई चुम्बक छुपाया हुआ नहीं है,

१. ऑस्ट्रेन्डर रोला व स्क्रोडर लिन, 'साइकिक डिस्कवरीज बिहाइन्ड द आइरन कर्टेन,' प्रिस्टस हॉल, न्ययॉर्क १९७०।

इस उद्देश्य से उनका 'एक्स-रे' भी किया जाता था, यद्यपि वे अनेक अचुम्बकीय वस्तुओं जैसे लकड़ी, कांच व अण्डों को भी गति प्रदान करती रही है। दर्शकों के सम्मोहित हो जाने की सम्भावना पर भी विचार किया गया लेकिन इसे सही नही पाया गया। इन प्रयोगों में, जैसे एक बार जब उन्होंने पहले एक कम्पास की सुई को घुमा दिया फिर पूरे कम्पास को उसके केस सहित अपने हाथ को और बाद मे अपने शरीर को घुमाते हुए घुमाया, तो यह स्पष्ट देखा गया कि उन्हें कितना अधिक परिश्रम करना पड़ रहा है—उनका सारा मुंह सिकुड़-सा गया—माथे पर अनेक लकीरे उभर आई।

'करतब' दिखाने हेतु स्वय को उपयुक्त स्थिति मे लाने के लिए कभी-कभी उन्हे दो से चार घण्टे तक लग जाते थे। डॉ० गेनाडे सुर्गेव का कहना है कि इनकी नाडी की गति २४० तक हो जाती थी और कोई आधे घंटे के भीतर ही उनके शरीर का भार ४ पौंड तक कम हो जाया करता था। करतब कर चुकने के बाद वे एकदम निढाल भी हो जाती थी, उनके पैरो में दर्द होने लगता और कभी-कभी तो कुछ देर तक उन्हें दिखाई भी नही देता था। डॉ० सुर्गेव ने अपने विशिष्ट उपकरणो की सहायता से मादाम मिखाइलोवा के शरीर को घेरनेवाले 'शक्तिपूर्ण क्षेत्र' की जाच की, तो पता चला कि उनकी विद्युत् चुम्बकीय शक्ति का क्षेत्र औसत व्यक्ति की अपेक्षा कही ज्यादा था। उन्होंने यह भी पता लगाया कि आम-तौर पर व्यक्ति अपने मस्तिष्क के अग्रभाग के बजाय पृष्ठभाग से तीन या चार गुना अधिक विद्युत् वाल्टेज प्रवाहित करता है जबकि मादाम मिखाइलोवा अपने मस्तिष्क के पृष्ठभाग से कोई ५० गुना अधिक वोल्टेज प्रवाहित करती थी।

१९७२ में एक आंग्ल भौतिक-शास्त्री व डाऊन टाउन में परामनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला के निदेशक, बेन्सन हर्बर्ट, मादाम मिखाइलोवा का अध्ययन करने मास्को गये। आपने पाया कि वे वस्तुओं को दूर तक सरका ही नही देती है वरन् इच्छानुसार अपने दाये या बाये हाथ मे गर्मी भी उत्पन्न कर सकती है। अपने गर्म हाथ से यदि वे किसी की बांह पकड़ लेतीं तो उसे बहुत दर्द होने लगता व वहां जलने का निशान भी बन जाता था जो कई दिनों तक बना रहता। कोई तीन टेबुलें पूरी भर जायें—परीक्षण हेतु इतने उपकरण लेकर १९७३ में बेन्सन हर्बर्ट पुनः लौटकर आये। मादाम मिखाइलोवा ने उनके सभी प्रयोगो में पूरा सहयोग दिया। बेन्सन हर्बर्ट ने हर तरह से इस बात की अच्छी तरह छानबीन की कि कही कोई सामान्य कारण निल जाये। मादाम मिखाइलोवा के शरीर के एक-एक इच की जांच की गई। कमरे का पूरा फर्श, हर कुर्सी, टेबुल, यहा तक कि कम्पास की भी विस्तारक लेन्स द्वारा जांच की गई। अन्ततः सभी तरह के परीक्षण करने के बाद बेन्सन

हर्बर्ट को भी कहना कहना पड़ा कि मादाम मिखाइलोवा में "वस्तुओं में बिना किसी भी ज्ञात शक्ति का उपयोग किये, इच्छानुसार गति उत्पन्न करने की क्षमता है।"

मादाम मिखाइलोवा ने हर वैज्ञानिक के साथ, उसके सभी प्रकार के यन्त्रों से, उसके द्वारा निर्धारित सभी प्रकार की दिशाओं में, उन पर हर तरह से परीक्षण करने में पूरा सहयोग दिया है और कोई भी वैज्ञानिक न तो यह कह सका है कि मादाम मिखाइलोवा धोखाधड़ी करती है और न ही यह बतला सका कि वे किस भौतिक शक्ति का उपयोग करती हैं।

१९७० मे डॉ० लुइसा राइन ने मनःप्रभाव पर एक पुस्तक लिखी है : 'माइंड ओवर मैटर'।[1] डॉ० जे० बी० राइन का उनके सहयोगियों ने ड्यूक विश्वविद्यालय मे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण के साथ-साथ अनेक वर्षों तक मनःप्रभाव सबंधी सैकड़ों परीक्षण करके मनःप्रभाव के सांख्यिकीय साक्ष्य एकत्रित किये हैं।

एक अन्य व्यक्तित्व, जो कि वैज्ञानिकों के लिए उलझन बना हुआ है, वह है एक इजरायली युवक ऊरी गैलर।

गैलर का जन्म तेल अबीब मे २० दिसम्बर, १९४६ को हुआ था। उसकी माता विख्यात मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड की रिश्तेदार थी। गैलर का कहना है कि उसमें बचपन से ही कुछ परासामान्य क्षमताएं थी। जब वह बच्चा ही था, ताश खेलकर लौटी अपनी मा को बता दिया करता था कि वे जुए मे कितना हारी या कितना जीती थी।

जब वह सात वर्ष का था तो उसकी उपस्थिति मे घड़ी की सुइयां अपने-आप इधर-उधर हो जाया करती थीं। धीरे-धीरे उसमें ये शक्तियां बढ़ती गई। १९६७ के अरब-इजराइली युद्ध के बाद तो वह सार्वजनिक रूप से इनका प्रदर्शन करने लगा। कहते है कि उसने एक पार्टी में दूसरे कमरे में खींचे गये चित्र की वैसी की वैसी अनुकृति बना कर दिखा दी और एक चाबी को बिना छुए मोड़ दिया। धीरे-धीरे वह पूरे इजराइल में जाना जाने लगा। अब होटलों, क्लबों आदि मे अपने करतब दिखाना ही उसका काम हो गया था। १९६९ में जब उसने एक स्कूल मे अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करते हुए अनेक धातुओं की वस्तु को तोड़-मरोड़ दिया तो वैज्ञानिकों का भी उसकी ओर ध्यान गया। १९७१ मे न्यूयार्क विश्वविद्यालय के एक विज्ञानी डॉ० एण्ड्रिजा पुहारिख यह जानने के लिए कि गैलर मे ये क्षमताएं वास्तव में हैं अथवा वह एक बहुत ही चतुर तमाशेबाज है, उसका अध्ययन करने इजराइल गये। यहा आपने जो कुछ देखा, उसमे ऊरी गैलर द्वारा

---

१. राइन, एल० ई०. 'माइण्ड ओवर मैटर,' मैकमिलन, न्यूयॉर्क १९७०।

चम्मचों के सिरे उड़ा देना, कांटों एवं छुरियों को मोड़ देना, सोने की अंगूठियों और चैनों को तोड़ देना व घड़ियों को चालू या बंद कर देना आदि अनेक करतब सम्मिलित थे। यही नहीं, डॉ० पुहारिख का दावा तो यहां तक है कि उन्होंने गैलर द्वारा वस्तु के विसर्जन व पुनःनिर्माण आदि के प्रदर्शन भी देखे है। इसी वर्ष दिसम्बर मे जब वे गैलर के साथ सिनाई रेगिस्तान में थे तो अपने मूवी कैमरे के धूल से बार-बार मैले होने से परेशान हो रहे थे। पुहारिख अपने कैमरे का केस न्यूयार्क मे ही भूल आये थे। अगले दिन सुबह साढ़े पाच बजे गैलर ने उनको फोन किया और कहा कि उसके बिस्तर पर एक कैमरे का केस पड़ा है, कही वह उन्हीं का ही तो नहीं है। पुहारिख ने गैलर को अपने केस का विवरण देते हुए बतलाया कि उसके अन्दर का कुछ हिस्सा फटा हुआ है। गैलर ने उत्तर दिया कि वह केस भी ऐसा ही है। छः हजार मील दूर से इतनी जल्दी केस मंगवाने का कोई तरीका पुहारिख की समझ में नही आया और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि गैलर में 'दूर-परिवहन' (टैली-ट्रान्सपोर्टेशन) की क्षमता है।

१९७२ में गैलर ने म्यूनिख की सड़कों पर एक रात आंखों को पूरी तरह ढक कर कार चलाई और अनेक शंकालू व्यक्तियों के आभूषणों को बिना छुए तोड़-मरोड़ कर उन्हें आश्चर्यचकित कर दिया। गैलर ने म्यूनिख में चार दिन तक अपने करतब दिखाए। इनके बारे में मैक्सप्लेन्क इंस्टीट्यूट फॉर प्लाज्मा फिजिक्स के डाक्टर फ्रीडबर्ट कारगर ने कहा : "इस व्यक्ति की शक्तियां अत्यंत विलक्षण हैं। इनकी सैद्धांतिक भौतिकी द्वारा अभी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती है।"

१९७२ में ही बाद मे गेलर ने अमेरिका के राष्ट्रीय दूरदर्शन पर कुछ चुने हुए व्यक्तियों, जिनमें कई विज्ञानी भी थे, के समक्ष अपनी क्षमताओं का प्रदर्शन किया। दर्शकों में तीव्र एवं मिश्रित प्रतिक्रियाएं हुई। कुछ लोग पूर्णतः विश्वासी बन गये, तो कुछ लोग अविश्वास के साथ अड़े रहे। आलोचकों ने कहा कि जो कुछ ऊरी गैलर कर सकता है वह कोई अच्छा तमाशेबाज भी कर सकता है। कहते हैं कि जेम्सरैंडी नामक एक विख्यात जादूगर ने कुछ करतब दोहरा दिये थे किन्तु, गेलर के सभी करिश्मे वह भी नही दोहरा सका था। गेलर पूरे अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयों में अपने प्रदर्शन दिखलाता रहा। न्यूयार्क मे एक प्रदर्शन में इंग्लैंड के डा० बास्टिन भी उपस्थित थे। आपकी जेब में जौहरियो द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले छोटे-छोटे पेचकसों का एक डिब्बा रखा हुआ था, ऊरी गैलर ने बिना यह जानते हुए कि डॉ० बास्टिन की जेब में क्या है, एक पेचकस का चित्र बना दिया। डॉ० बास्टिन यह देखकर आश्चर्य में पड़ गये और दुविधा

में भी कि गैलर ने पेचकस का जो चित्र बनाया है, उसमे उसका ऊपरी सिरा मुड़ा हुआ है। जेब से जब डिब्बा निकालकर डॉ० बास्टिन ने देखा, तो पाया कि सभी पेचकस या तो मुड़े हुए है या टूटे हुए। डाक्टर बास्टिन का कहना है कि भौतिक वस्तुए गैलर के प्रभाव से इस तरह परिवर्तित होती है "मानो कोई नियम नही व्यक्तित्व क्रियाशील है।"

कैलीफोर्निया की स्टैंफोर्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट मे भौतिक विज्ञानी डॉ० हैराल्ड पुथोंक व रसल टार्ग ने अपनी प्रयोगशालाओ मे गैलर पर नियंत्रित परीक्षण किये। इनमे से कुछ की फिल्मे भी बनाई गई। एक प्रयोग, १९७२ में, छः सप्ताह तक चला। गैलर ने प्रथम आठ मे से आठो बार एक धातु के डिब्बे के अन्दर पड़े पासे के ऊपरी भाग का सही 'अनुमान' लगाया। वैसे यह प्रयोग दो बार और किया गया था लेकिन इनमे गैलर को कुछ करने की आन्तरिक प्रेरणा नही मिली। और उसने उनके बारे मे कुछ नही कहा। उसने अनेक रेखाचित्रो की अनुकृतिया (बिना उन्हें देखे) बना दी। चुम्बकीय क्षेत्र को नापने वाले यंत्र गॉस मीटर के निकट हाथ ले जाकर उसने उसकी सुई को पूरा घुमा दिया। १९७३ मे उस पर तेरह प्रयोग किये गये, और इनमे और भी अधिक सावधानिया बरती गई। गैलर को विद्युतीय रूप से पृथक् किये हुए कमरे मे रखा गया, ताकि सामान्य सचार के किसी भी साधन द्वारा वह कोई भी सूचना प्राप्त न कर सके। एक प्रयोग मे शब्द-कोश मे से दैवयोग से चयनित किसी एक भी सज्ञा का चित्र गैलर के कमरे से बाहर (प्रेषक) बनाता था व गेलर कमरे के अन्दर बैठा उसकी अनुकृति बनाता। कभी प्रेषक व गेलर की स्थितिया उल्टी भी कर दी गई यानी प्रेषक कमरे के अन्दर व गेलर बाहर। इस प्रकार १५ चित्र प्रेषित किए गए। इनमे ४ बार गेलर ने कोई चित्र नही बनाया (उसका कहना था कि सफलता से पूर्व जो आत्मविश्वास उसमें उभरता है, वह उस समय नही उभरा था)। चार बार वह मूल चित्र से मिलती-जुलती अनुकृतिया बना पाया, शेष सातों बार उसे स्पष्टतः सफलता प्राप्त हुई। इनमे से एक जिसमे उड़ती हुई एक समुद्री चिड़ियां का चित्र था और एक जिसमे कि अगूर के गुच्छे का चित्र प्रेषित किया गया था गेलर ने लगभग हूबहू वैसा का वैसा चित्र बना दिया था। अगूर के गुच्छे मे विभिन्न कतारो मे चौबीस अगूर—गेलर ने चौबीस गोले ऊपर-नीचे प्रत्येक कतार मे मूल चित्र के अनुरूप—बनाए। यही नहीं इनसे निकलती हुई रेखा भी उसी स्थान व दिशा की ओर जाती हुई बनाई जैसी की मूलचित्र में अंगूर के गुच्छे की टहनी बाहर निकलती हुई चित्रित की गई थी। इन अन्वेषकों के परीक्षणों मे गेलर धातुओं को मोडने की अपनी क्षमता का प्रदर्शन नही कर सका।

नवम्बर १९७२ में गलर ने इगलैंड मे डेविड डिम्बलबाई दूरदर्शन पर

कार्यक्रम प्रस्तुत किया। यहां भी गेलर ने अनेक वैज्ञानिकों व आलोचकों के समक्ष एक कांटे को मोड़ दिया, घड़ियों की सुइयां आगे-पीछे कर दीं और स्वयं डेविड डिम्बलबाई के कमरे के दरवाजे की चाबी उनको देखते-देखते मोड़ दी।

इस प्रदर्शन से प्रभावित होकर, किंग्ज कॉलेज लंदन मे अनुप्रयुक्त गणित के प्रोफेसर जॉनटेलन ने गेलर पर परीक्षा करने का निश्चय किया। फरवरी १९७४ मे गेलर इनके साथ वहां के धातुकर्म-विभाग (मेटलर्जिकल डिपार्टमेंट) द्वारा तैयार की गई वस्तुओं पर प्रयोग करने को तैयार हो गया। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे गेलर सभी प्रयोगो में सफल रहा। उसने धातुओं की वस्तुओं को पीट कर इस तरह मोड़ दिया कि वैसा उस वस्तु के पिघलने, टूटने व पुनः कड़ापन ग्रहण कर लेने से ही सभव था। उसने पोटाशियम ब्रोमाइड के दो सेंटीमीटर लम्बे एक रवे के कोई दस सैकिंड तक प्रहार करके टुकड़े कर दिये। कांच की नलियों के अन्दर बन्द धातुओं की पत्तियों व दोनों सिरों पर बन्द तार की जालीदार नली के अन्दर एक अल्मुनियम की पत्ती आदि को बिना उन्हें छुए मोड़ दिया। लकड़ी या प्लास्टिक पर वह कोई प्रभाव नही डाल सका। गेलर ने रेडियो-सक्रियता नापने के एक यन्त्र 'गीगर काउन्टर' मे भी काफी विक्षेपन उत्पन्न कर दिया।

ऊरी का दावा यह भी है कि वह अपने शरीर से बाहर निकल कर हजारो मील दूर की यात्राएं करने की क्षमता रखता है। अंद्रीजा पुहारिख ने एक दिन उससे यह दावा सिद्ध करके दिखाने को कहा। अंद्रीजा ने कहा, तुम यहीं बैठे-बैठे ब्राजील की सैर कर आओ। गेलर का कहना है कि उसने आंख बन्द करके ब्राजील की कल्पना की। कुछ देर बाद उसने अपने आपको एक भीड़ भरे शहर में पाया। गेलर के अपने शब्दों में, "ब्राजील पहुंचने पर मैंने एक राहगीर से पूछा, मैं कहां पर हू ? उसका उत्तर था—रियो डि जेनेरो मे। तब तक एक मनुष्य भीड़ से बाहर निकला और मुझे १०,००० क्रूजों का नोट थमा गया। जब जागा तो मेरे हाथ मे वह नोट था।"

विभिन्न परीक्षणों-प्रयोगों, अनेक प्रदर्शनो, कार्यक्रमों व छुटपुट कई व्यक्तियों को व्यक्तिगत रूप से दिखाए करतबों—करिश्मो के बावजूद भी गेलर का व्यक्तित्व अभी संशय-मुक्त सिद्ध नही हुआ है। जनसाधारण से लेकर विज्ञानियों तक मे वह एक अत्यन्त विवादास्पद व्यक्ति बना हुआ है। ऊरी सबंधी यह संशयात्मक आलोचनात्मक पक्ष भी निस्संदेह विचारणीय है।

अनेक विवरण हमें ऐसे भी मिलते हैं जिनमें वस्तुओ का स्वतः हिलना-डुलना, आवाजों का होना, पत्थरों आदि का फेंका जाना बिना किसी की उपस्थित के अथवा उन व्यक्तियो के बीच होने का वर्णन होता है जिनका

कोई सीधा सम्बन्ध इस तरह की घटनाओ से नही जोड़ा जाता। प्रायः इन घटनाओं का कारण भूत-प्रेत अथवा 'शैतान' आदि को समझा जाता है। जर्मन भाषा में इस 'कारण' का नाम है 'पोल्टर गाइस्ट' (पाल्टर्न यानी शोरगुल करने वाली व गाइस्ट यानी रूह या आत्मा)।

अभ्यास

१. विभिन्न धर्मों मे पुनर्जन्मवाद की अवधारणा का उल्लेख करते हुए जैन दर्शन के आत्मवाद एव पुनर्जन्मवाद का विश्लेषण करे।
२. परामनोविज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जन्म के साक्ष्यों पर चल रहे शोधकार्य की समीक्षा करें।
३. जैन दर्शन के सन्दर्भ में आधुनिक परामनोविज्ञान की पुनर्जन्म सम्बन्धी घटनाओ की व्याख्या की सभावनाओ को स्पष्ट करे।
४. जैन दर्शन में वर्णित अतीन्द्रिय ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करे।
५. परामनोविज्ञान मे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षण, दूरबोध या परचित्तबोध की घटनाओ को अपने शब्द मे प्रस्तुत करे तथा जैन दर्शन के सदर्भ मे उनकी समीक्षा करें।
६. जैन दर्शन मे वर्णित योगज उपलब्धियो की आधुनिक मन-प्रभाव की घटनाओं के सन्दर्भ मे मीमासा करे।

४. विज्ञान के संदर्भ में जैन जीवन-शैली

जैन जीवन-शैली

जैन धर्म की अपनी एक अलग जीवन-शैली है। जैन परम्परा में जिस तरह श्रावक की चर्या विकसित हुई है, उसकी अपनी अनेक विशेषताएं हैं। भगवान् महावीर ने अणुव्रतों के रूप मे श्रावक-चर्या का जो प्रारूप प्रस्तुत किया था, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक है। अनेक आचार्यों के गुरुतर प्रयत्नों से जैन लोग खान-पान की दृष्टि से बहुत ऊंची भूमिका पर हैं। मद्यमांस का परिहार जैनत्व की अपनी एक अलग पहचान बन गई है।

शैली क्यों ?

साधु का जीवन एक-आयामी होता है। वह केवल साधना का जीवन जीता है। एक गृहस्थ को न जाने कितने घोड़ों की सवारी करनी पड़ती है। उसे अनेक आचार्यों का जीवन जीना होता है। उसके चारों ओर खिचाव का वातावरण बना रहता है, उसे परिवार का जीवन जीना होता है, समाज का जीवन जीना होता है, राज्य का जीवन जीना होता है, आर्थिक जीवन जीना होता है, इसके साथ-साथ धार्मिक जीवन भी जीना होता है। उसके सामने समस्या है कि वह अनेक आयामों को कैसे जिये ? उसके लिए जीवन की एक शैली चाहिए।

जीवन-शैली

शैली शब्द 'शील' शब्द से बना है। शील का अर्थ है—स्वभाव। शैली का अर्थ है—व्यवहार। संस्कृत-अंग्रेजी कोश मे शैली के अनेक अर्थ किये गये हैं। उनमें पहला है—behaviour व्यवहार। दूसरा है—जीवन का व्यवहार अथवा जीवन की कार्य-प्रणाली (life-style)। जैन गृहस्थ के जीवन का व्तवहार कैसा होना चाहिए ? जीवन का तरीका कैसा होना चाहिए ? साधना-पद्धति कैसी होनी चाहिए ?

प्राचीन समय से जैन गृहस्थ में कुछ संस्कार चल रहे हैं। जैन गृहस्थ मांस नही खाता। जैन शराब नहीं पीता। पुराने आचार्यों ने जैन गृहस्थ के लिए सप्त व्यसन के परिहार का अभियान चलाया—

१. शराब नहीं पीना

२. मांस नहीं खाना

३. जुआ नहीं खेलना
४. शिकार नहीं करना
५. चोरी नहीं करना
६. वेश्यागमन नहीं करना
७. परस्त्रीगमन नहीं करना

एक जीवन की शैली बन गई; जीवन का स्वभाव और व्यवहार बन गया; एक संस्कार बन गया; जो जैन श्रावक है, वह इस आधार पर चलेगा। वही शैली आज तक चली आ रही है।

आहार-शुद्धि और व्यसन-मुक्त जीवन

जैन जीवन शैली का एक प्रमुख घटक है—आहार-शुद्धि और व्यसन-मुक्ति। उपवास आदि तप, मांसाहार-वर्जन, तम्बाकू-वर्जन, मद्यपान-वर्जन आदि विषयों का सम्बन्ध जीवन-शैली के इस घटक से है। इन विषयों का वैज्ञानिक सिद्धान्तों और प्रयोगों के सन्दर्भ में चिन्तन व्यक्ति को नई दृष्टि देता है। आहार-विवेक और आहार-विज्ञान के आधार पर इसे चरितार्थ किया जा सकता है।

आहार-विवेक और आध्यात्मिक साधना में समानताएं है। ये दोनों हमें स्वसंयम, स्वज्ञान और स्वावलम्बन सिखाते है। साधना-मार्ग में भी गुरु केवल मार्गदर्शक होता है, पर साधक का अपना पुरुषार्थ या विवेक ही मुख्यत. उसे आगे बढाते हैं। उसी तरह स्वयं का आहार-विवेक ही व्यक्ति को स्वस्थ रख सकता है, डाक्टर या वैद्य तो केवल मार्गदर्शक बन सकते है।

दूषित आहार का परिणाम—रोग

रोग क्या है ? हमारे शरीर में जमा होने वाले विषद्रव्यों का परिणाम रोग है। इन विषद्रव्यो के शरीर मे जमा होने के कई कारण हैं। जैसे—अयोग्य भोजन, विषैली दवाइयां, अतिशय श्रम, अति कामसेवन, अति भय, अति चिंता, मानसिक तनाव, अनिद्रा आदि। इन सब का परिणाम यह होता है कि शरीर से विष-द्रव्यों का बाहर होने वाला निष्कासन श्लथ हो जाता है और यह विष-द्रव्य रक्त में और शरीर के ऊतकों में जमा हो जाता है जिससे बीमारी पैदा होती है। ऊपरोक्त कारणों में से अयोग्य भोजन एक मुख्य कारण है।

यदि हमारा आहार, नीहार आदि रहन-सहन सम्यक् होगा और साथ ही आसन, प्राणायाम, प्रेक्षाध्यान आदि चलते रहेंगे, तो शरीर मे विष-द्रव्यों का जमाव अतिमात्रा में नही होगा और जो जमा हो गए हैं उन्हें बाहर निकाल देने से शरीर में किसी घातक या तीव्र बीमारी होने की सभावना नही रहेगी।

हमारा शरीर भिन्न-भिन्न अवयवों से एवं प्रत्येक अवयव ऊतकों से निर्मित है। प्रत्येक ऊतक कोशिकाओं से निर्मित है। इन कोशिकाओं में चलने वाली जैविक क्रियाओं से विष-द्रव्य की उत्पत्ति होती रहती है। इसके साथ अपनी खाने-पीने की गलत प्रणाली तथा रहन-सहन की गलत आदतों से भी विष द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। ये सारे विष-द्रव्य यदि किसी भी कारण से बाहर निष्कासित न हों, तो उस स्थिति को "विषाक्तता" (टोक्सीमिया) कहा जाता है। उसे ही हम "रोग" या "बीमारी" के रूप में भोगते है। विष-द्रव्यों की अशुद्धियों को निष्कासन करने को शरीर की प्राकृतिक प्रक्रिया तो बीमारी में भी चालू ही रहती है। उदाहरणार्थ—जुकाम मे शरीर श्लेष्म के रूप में विष-द्रव्यों का बाहर निष्कासन करता रहता है।

शरीर मे अपने आपको स्वस्थ रखने की आन्तरिक शक्ति मौजूद होती है। कुछ अपवादो को छोड़कर वह स्वस्थ रहता ही है। यदि मनुष्य अपने शरीर के अवयवों का दुरुपयोग न करे या उन पर अत्याचार न करे, तो शरीर स्वत. ही स्वस्थ रहगा। परन्तु खाने-पीने की गलत आदत, जिह्वा का स्वाद, शरीर-विज्ञान के बोध का अभाव आदि कारणों से मनुष्य प्रायः अपने शरीर पर ऐसे अत्याचार करता है जिससे शरीर अस्वस्थ हो जाता है।

हमारा आहार कैसा होना चाहिए? इस प्रश्न पर मुख्य रूप से दो दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श हुआ है। स्वास्थ्य और साधना। स्वास्थ्य की दृष्टि मे आहार का बहुत बडा मूल्य है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए इसका इतना मूल्य है. पर मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए उसका कितना मूल्य होगा, यह सब नहीं जानते।

शारीरिक स्वास्थ्य का मूल आधार है—सतुलित भोजन। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, खनिज, लवण क्षार और विटामिन्स—ये उचित मात्रा में ग्रहण किए जाते हैं, वह सतुलित भोजन माना जाता है। इससे शरीर स्वस्थ और क्रिया करने में सक्षम रहता है।

भोजन का मन को क्रियाओ पर भी बहुत असर होता है, क्योंकि मस्तिष्क की रासायनिक प्रक्रिया भोजन से प्रभावित होती है। संतुलित भोजन का उद्देश्य है—शरीर स्वस्थ रहे तथा मन विकृत, उत्तेजित या क्षुब्ध न हो।

बीमारी पैदा होने का बहुत बड़ा कारण है—अहितकर और अपरिमित भोजन। एक आचार्य ने लिखा है—

"हियाहारा मियाहारा अप्पाहारा य जे नारा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा॥"

—जो हित, मित और अल्पमात्रा में भोजन करते हैं, उनकी चिकित्सा वैद्य नहीं करते, वे स्वयं अपने चिकित्सक हैं। भोजन स्वास्थ्य देता है और भोजन स्वास्थ्य बिगाड़ता है।

भोजन के विमर्श का साधना का दृष्टिकोण है—आन्तरिक वृत्तियों का शोधन। भोजन का प्रयास केवल शरीर के बाहरी तत्त्वों तक ही सीमित नहीं है। उसका प्रभाव हमारी आन्तरिक शक्तियों पर, शरीर के सूक्ष्म तत्त्वों पर और सूक्ष्म-शरीर पर भी होता है। इसलिए भोजन के विषय में हमें बहुत सावधान होना चाहिए। अन्तर्वृत्ति को मूर्च्छित बनाने वाली वस्तुएं साधक के लिए निषिद्ध है।

एक प्रकार का आहार विचार को, भाषा को, मन को स्वस्थ बनाता है। दूसरे प्रकार का आहार इन्हें अस्वस्थ बनाता है।

(1) उपवास आदि तप

जैन जीवन-शैली मे तप एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधना है। महावीर की साधना-पद्धति में उसे 'निर्जरा' अर्थात् कर्म-संस्कारों से मुक्ति का एक सक्षम साधन माना है। तप या निर्जरा के बारह प्रकार है—छह बाह्य, छह आन्तरिक। उपवास, ऊनोदरी वृत्ति-संक्षेप, रस-परित्याग आदि बाह्य तप के प्रकार है। चारों का सम्बन्ध भोजन और अभोजन से है। खाना जितना महत्त्वपूर्ण है, नहीं खाना' भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। खाने का जितना मूल्य है 'नहीं खाने' का भी उससे कम मूल्य नहीं है। जब तक हम 'नहीं खाने' पर विचार नहीं करते, तब तक भोजन का विषय पूर्ण दृष्टि से चर्चित नहीं होता। स्वास्थ्य के लिए यदि संतुलित भोजन जरूरी है तो उसके लिए भोजन को छोडना भी बहुत जरूरी है। अनाहार को छोड़कर केवल आहार को देखना वास्तव मे आहार के प्रति भ्रात होना है और अपने स्वास्थ्य के प्रति भी अन्याय करना है। जो लोग केवल भोजन का ही महत्त्व समझते हैं, उसे छोड़ने का महत्त्व नही समझते, वे न केवल मोटापे की बीमारी से ग्रस्त होते है, किन्तु अन्य बीमारियां भी उन्हें आक्रात करती है।

'खाना', नहीं खाना', कब, कैसे, और कितना खाना, मधुर और स्निग्ध खाना या रूखा-सूखा खाना आदि-आदि अनेक प्रश्नो का सम्यग् उत्तर है—आहार-विवेक।

आहार और अनाहार

आप आहार करते है, परन्तु यदि उपवास करना नही जानते, अनाहार रहना नही जानते तो आपका आहार आपके लिए कठिनाई बन जाता है। आहार ही जटिलता पैदा करता है। हम आहार करते है भूख की समस्या को समाहित करने के लिए। वही आहार अनेक समस्याएं हमारे

सामने प्रस्तुत कर देता है। जो लोग केवल आहार करते हैं, उपवास नहीं करते या उपवास का मर्म नहीं जानते, वे समस्याओं को कम नहीं कर सकते। उपवास का अर्थ नहीं खाना भी है, कम खाना भी है, आहार की मात्रा को कम करना भी है।

शरीर में जितने काम-केन्द्र, वासना-केन्द्र, आवेग-केन्द्र और स्मृति केन्द्र हैं वे सारे उत्तेजित होते हैं भोजन को प्राप्त कर। भोजन के अभाव में ये सारे केन्द्र शिथिल हो जाते हैं। चूंकि उन्हें अब सहयोग नहीं मिलता, सहयोग का रास्ता कट जाता है। सेना को जब रसद नहीं मिलती, वह आगे नहीं बढ पाती। शत्रु-सेना सब से पहले रसद के मार्ग को काट देती है। उपवास रसद के मार्ग को काट देता है। उस स्थिति में इन्द्रियां शांत और मन शांत इस प्रक्रिया के द्वारा यह होता है कि उत्तेजना या सक्रियता के जो साधन है, उपाय हैं, निमित्त है, उनको हम समाप्त कर देते हैं. किन्तु पूरा समाप्त नही कर पाते। यह पूरी प्रक्रिया नहीं है। केवल मार्ग में जो व्यवधान डालते थे, उन्हें शिथिल बना डालते है। आहार का विसर्जन, परित्याग, एक शब्द मे उपवास, इसलिए कि जिससे उत्तेजना पैदा हो रही है, उसका मार्ग अवरुद्ध किया जाए।

हम भोजन नहीं करते तो इसका परिणाम केवल स्थूल शरीर पर ही नही होता, सूक्ष्म शरीर पर भी होता है। यदि उसका परिणाम केवल स्थूल शरीर पर ही होता तो बहुत छोटी बात होती। सूक्ष्म शरीर को भी शक्ति प्राप्त होती है स्थूल शरीर के माध्यम से। उसे भी शक्ति चाहिए। वह स्थूल शरीर से ऐसा काम करवाता है कि उसे शक्ति प्राप्त हो सके। उपवास करना सूक्ष्म शरीर को पसन्द नहीं है। भूखा रहा स्थूल शरीर और चोट पड़ी सूक्ष्म शरीर पर। ऊर्जा का स्रोत है स्थूल शरीर। हमारा मन बुरी बात सोचता है तो ताकत किसे मिलती है? ताकत मिलती है सूक्ष्म शरीर को, कर्म शरीर को। सारी शक्ति प्राप्त होती है स्थूल शरीर के द्वारा। जब भोजन बंद होता है तो परेशानी होती है सूक्ष्म शरीर को। उसका प्रभाव वहां तक पहुंच जाता है।

उपवास

उपवास ही सबसे बडी औषधि है। हम जब तक इसके महत्त्व को नही समझेंगे, हमारे भोजन की समस्या का समाधान नही निकलेगा। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब जर्मनी में सर्वेक्षण किया गया तब निष्कर्ष निकाला गया कि यहां अधिकांश बीमारियां अतिभोजन के कारण हुई हैं। हम लोग इतना खाते हैं जितना हमें नहीं खाना चाहिए। हमें जितनी भूख लगती है उसे चार भागों में बांट देना चाहिए। दो भाग भोजन के लिए, एक भाग पानी के लिए और एक भाग वायु के लिए छोड़ देना चाहिए। परन्तु लोग जब

खाना खाने के लिए बैठते हैं तो भूख से भी और अधिक खाना चाहते हैं ताकि भूख न लगे। खाने के आधा घंटा बाद कहते हैं कि पेट फटा जा रहा है, आंते फट रही है। इस प्रकार हमारे यहा खाने की व्यवस्थित पद्धति नही है। भोजन के सम्बन्ध मे हमारा अज्ञान ही बहुत सारी समस्याओ को जन्म देता है। खाना जरूरी है, तो उसके साथ-साथ "उपवास" और नहीं खाना भी जरूरी है।

उपवास सहिष्णुता का बडा प्रयोग है। प्रतिदिन प्रातःकाल भोजन की माग कम हो जाती है। जो उपवास करते हैं, उनमे सहज ही सहिष्णुता का विकास होता है और संकल्पशक्ति का विकास होता है।

आयुर्वेद का विश्वास है कि सप्ताह मे एक बार उपवास अवश्य होना चाहिए। आज हम उपवास के महत्त्व को भूल गए और पश्चिम के लोगो ने उपवास-चिकित्सा का प्रयोग कर रखा है। न जाने कितने वर्षों से चल रहा है। उपवास-चिकित्सा पर पश्चिम में जितनी अच्छी पुस्तकें निकली है शायद भारत मे नही निकली। उपवास प्रयोग है, अगर प्रयोग की दृष्टि से किया जाए। उपवास प्रयोग तब बनता है, जब पहले दिन हलका खाना खाया जाए और पारणा मे हलका खाया जाए। तीन दिन बराबर यह चले। पहले दिन हलका भोजन, दूसरे दिन उपवास और तीसरे दिन फिर हलका भोजन, तब उपवास वास्तव मे प्रयोग बनता है।

भगवान महावीर कहते है—मृत्यु के समय तो तुम्हारा खाना छूटेगा ही, तब तुम दुःखी न होओ, इसीलिए पहले ही खाना छोडने का अभ्यास रखो पहले ही बिना भोजन के आनन्द की अनुभूति का अभ्यास रखो। इसका अर्थ देह का दमन नही है। यह देह की संज्ञा से ऊपर उठने की बात है, आत्मानुभूति की बात है। जब व्यक्ति को देह और आत्मा की भिन्नता की अनुभूति हो जाती है, तो उसके लिए तपस्या दुःख की हेतु नही रहती, सुख की हेतु तो खैर रहेगी ही कहा से? तब वह आनन्द की हेतु बन जाएगी। देह और आत्मा की भिन्नता की अनुभूति नही होती है, तब तक खाना छोडने मे डर लगता है। पर सही अर्थ मे देखा जाए तो मनुष्य को दुःख खाना छोडने में नही है, अपितु खाने मे ही सुख मान लेने की संज्ञा मे है। इस मिथ्यात्व का परिशोधन करने के लिए महावीर अनशन—उपवास की बात कहते है।

उपवास कितना करना चाहिए, इसके विषय में वे कोई निश्चित मानदंड नही बताते हैं कि इतना उपवास करना पड़ेगा। जहां तक मन में आनन्द की अनुभूति हो तब तक उपवास करो। जो उपवास आनन्द की अनुभूति नहीं कराता है, उसके लिए महावीर की अनुमति नही है। जो तपस्या देह और आत्मा की भिन्नता, पुद्गल-निरपेक्ष आनन्द का अनुभव नहीं

करा सके, वह वास्तव में तपस्या कम, देह-दण्ड अधिक है ।

साधना की बात बहुत सारे लोग आसन-प्राणायाम से शुरू करते हैं । महावीर उसे अनाहार (अनशन) से शुरू करते हैं । सम्भवतः इसका कारण यही रहा होगा कि जब मनुष्य का आहार पर नियन्त्रण हो जाएगा, तो बाकी के सब नियन्त्रण तो सहज ही प्राप्त हो जाएंगे । इसलिए वे उपवास को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं । इसके साथ दूसरा सवाल उठता है कि क्या बिना आहार के जीवन का काम चल सकता है ? जैसे कि पहले कहा गया, महावीर की दृष्टि जीवन और मृत्यु पर नहीं है । आहार के साथ हमारा इतना घनिष्ठ लगाव है कि हम उसके बिना रह नहीं सकते । महावीर सबसे पहले इस लगाव को ही तोड़ना चाहते हैं । ऐसा नहीं है कि एक दिन आहार न किया, तो आदमी मर जाए । कठिनाई यही है कि आदमी का आहार के साथ इतना लगाव हो गया है कि उपवास की बात करते ही उसका सारा मानसिक ढाचा चरमरा जाता है ।

उपवास का मूल्य : वैज्ञानिकों की दृष्टि में

डॉ० ज्होन कीथ बेडो द्वारा लिखित पुस्तक—"Stay young—Reduce your Rate of Aging" में अपने वैज्ञानिक प्रयोगों की चर्चा के दौरान बताया गया है कि—

१. उपवास वृद्धावस्था को रोकने का एक प्रमाणसिद्ध प्रयोग है । चूहों पर जब ये प्रयोग किए गए तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए । चूहों के एक दल को अत्यधिक भोजन की सुविधा दी गई, दूसरे दल को सामान्य, नियमित एवं नियन्त्रित मात्रा में भोजन दिया गया तथा तीसरे दल को एक दिन भोजन (सामान्य एवं नियन्त्रित मात्रा में) एवं एक दिन उपवास पर रखा गया । दूसरे दल के चूहे पहले से दीर्घजीवी हुए तथा तीसरे दल वाले दूसरे से भी बहुत अधिक दीर्घजीवी हुए ।

२. उपवास के दौरान शरीर का "इम्यूनालौजिकल सिस्टम" (प्रतिरोधक तंत्र) असंदिग्धरूप से शक्तिशाली होता है । इस तन्त्र में काम करने वाले रक्त के श्वेतकणों, जिन्हें फेगोसाइट्स और लिम्फोसाइट्स कहा जाता है, की कार्यक्षमता में अद्भुत वृद्धि होती है । लिम्फोसाइट्स के दो प्रकारों—बी-सेल्स और टी-सेल्स जो आगन्तुक कीटाणु या विषाणुओं का प्रतीकार करते हैं, की कार्यक्षमता में वृद्धि होने से शरीर में जमा होने वाले विजातीय तत्त्वों का पूर्ण शोधन सम्भव हो पाता है । इन विजातीय तत्त्वों के जमाव का परिणाम ही है—कोशिकाओं का वृद्ध होना, जो अन्ततोगत्वा मनुष्य को वृद्ध बना देती है ।

३ कैंसर जैसे खतरनाक कोशिकाओं की सफाई में उपवास बहुत उपयोगी है ।

डॉ० बेडो ने स्वयं ३½ वर्ष तक एकान्तर उपवास कर पाया कि इससे स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता है। चूहों के प्रयोगों में यह बात भी सामने आई कि जहां तीसरे दल के चूहे दो वर्ष के बच्चों की तरह कूद-फांद मचा रहे थे वहा पहले दल वाले बूढ़े की भांति शिथिल और थके-मादे नजर आ रहे थे। डॉ० बेडो ने उपवास के दौरान शरीर मे होने वाले जैव-रासायनिक परिवर्तनों के आधार पर उक्त निष्कर्ष निकाले है।

आजकल तो चिकित्सा के क्षेत्र मे भी उपवास को मान्यता मिल गई है। जैन धर्म मूल मे शरीर-विज्ञान नही है। वह तो आत्मविज्ञान है। पर चूंकि हमारी आत्मा शरीर मे रहती है; अतः वहां शरीर के संबंध मे भी बहुत सारी चर्चा हुई है।

जैन साधना-पद्धति का शरीर की पवित्रता के साथ निश्चित अनुबंध तो नही है। पर वे इस बात को भी स्वीकार करते है कि उच्चतम साधनाओं के लिए एक विशिष्ट प्रकार के शरीर-संरचना की आवश्यकता है। जैसा कि लुई हूक ने कहा है—स्वस्थ शरीर वही है, जो आवेगमुक्त हो। महावीर भी साधना के लिए आवेगमुक्त शरीर की आवश्यकता बताते हैं। जब तक शरीर आवेगग्रस्त होगा, तब तक उसमे स्वस्थ आत्मा का निवास न हो सकेगा। उपवास से आवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है।

उपवास-चिकित्सा

कुछ लोगों को यह सुनकर विस्मय हो सकता है—क्या उपवास से भी चिकित्सा हो सकती है? पर आज इस बात पर विस्मय करने की कोई आवश्यकता नही है। डॉ० एडवर्ड हूकर डेवी ने 'The Non-break-fast and Fasting Cure' नाम की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। उनका कहना है—बीमारी मे जबरदस्ती खाने और दवाए लेने की अपेक्षा उपवास अधिक लाभप्रद है।

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से लम्बे तथा छोटे—दोनों ही प्रकार के उपवासों का विधान है। छोटे उपवास अर्थात् तीन दिन के उपवास। उससे ज्यादा दिनों के उपवास बड़े उपवास कहलाते हैं।

उपवास-काल मे कभी-कभी भोजन की इच्छा, बेचैनी या कमजोरी महसूस हो सकती है पर ये सारी स्थितियां अस्थायी हैं।

प्रो० ट्रहरिट ने अपनी पुस्तक Diet and Healing Systems' में लिखा है—उपवास काल में जो कमजोरी महसूस होती है, वह भोजन का अभाव नही है, अपितु शरीर में एकत्र मल का विनाश होता है। शरीर की शुद्धि हो जाने के बाद शरीर मे पुनः शक्ति आ जाती है। यह कोई जादू नहीं है, अपितु शरीर मे स्थित विजातीय द्रव्यों के हट जाने से सहज प्रतिफल होता है।

साधारणतया लोगों की धारणा है कि भोजन की मात्रा जितनी अधिक होगी, उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी। पर यह धारणा सर्वथा भ्रामक है। सच बात तो यह है कि हमारा स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन भोजन की मात्रा की अपेक्षा उसके पाचन की रासायनिक प्रक्रिया तथा आत्मसात् करने पर अधिक आधारित है।

अपनी जिह्वा के स्वाद तथा अप्राकृतिक आदतों के कारण हमारे शरीर में अनेक प्रकार का विजातीय कचरा इकट्ठा हो जाता है। उसके प्रभाव से मुक्त होने के लिए उपवास एक रामबाण औषधि के समान है। साधारणतया लोग उपवास से डरते है। डॉक्टर लोग भी यही कहते हैं कि शरीर की शक्ति बनाये रखने के लिए कुछ न कुछ खाते रहना चाहिए। पर प्राकृतिक जीवन जीने वाले प्राणियों की ओर ध्यान दिया जाए तो यही लगेगा कि वे अपनी बहुत सारी बीमारियां उपवास के द्वारा ही ठीक करते हैं। धीरे-धीरे इस ओर लोगों का ध्यान जा रहा है; यह भी एक शुभ लक्षण है। उपवास के द्वारा अनेक रोगों से मुक्त हुआ जा सकता है। यह आपको क्षीण करनेवाला नही है, अपितु तेजस्विता प्रदान करने वाला है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'सरल प्राकृतिक चिकित्सा' में उपवास के विषय मे अनेक महत्त्वपूर्ण बाते लिखी हैं, जो सक्षेप मे इस प्रकार है —

उपवास शरीर में क्या करता है ?

शरीर मे स्वाभाविक रूप से अनेक प्रकार की ज्वलन-क्रिया (कम्बश्चन) होती रहती है। ज्वलन-क्रिया के कारण ही हमारा शरीर एक खास तापक्रम तक गरम रहता है। इसे तेजस् शरीर भी कहा जा सकता है। लेकिन ज्वलन-क्रिया जारी रखने के लिए हमेशा ईंधन की जरूरत होती है। साधारण रूप मे हमे यह ईंधन भोजन के कार्बोहाइड्रेट्स और चर्बी (चिकनाई) से मिलता रहता है। लेकिन उपवास-काल मे जब बाहर से भोजन मिलना बन्द होता है, तो शरीर मे सगृहीत पदार्थ इस अग्नि मे जलने लगता है। इसीलिए उपवास द्वारा चर्बी बहुत जल्दी कम होती है। केवल चर्बी ही नही जलती पेशियां, रक्त और जिगर मे से सगृहीत शक्कर आकर जलती है। प्रत्येक ऊतक (टिशू) से सगृहीत भोजन आकर जलने लगता है और इस सगृहीत भोजन के साथ प्रत्येक धातु की संगृहीत गन्दगी (विजातीय द्रव्य) भी उखड़कर आती है और इस ज्वलन-क्रिया मे भस्म हो जाती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि उपवास शरीर की भीतरी गदगी का नाश कर देता है।

शरीर की जमा पूंजी खत्म होने के कारण उपवास काल में शरीर का वजन प्रायः १ पौंड प्रतिदिन के हिसाब से कम होता है। शरीर की विभिन्न धातुए इस अनुपात से छीजती हैं। चर्बी ९७ प्रतिशत, जिगर ६२ प्रतिशत, तिल्ली ५७ प्रतिशत, मांसपेशियां ३१ प्रतिशत, मस्तिष्क या तंतु ० प्रतिशत। इस छीजन के कारण उपवास-काल मे शरीर में कुछ कमजोरी आती है, लेकिन चूंकि मस्तिष्क बिलकुल नहीं छीजता, इसलिए सोच-विचार की शक्ति बढती है, नींद अच्छी आती है, विचार सात्त्विक होने लगते हैं, स्मरणशक्ति बहुत तेज हो जाती है।

शारीरिक कमजोरी इस कदर नही होती है कि उपवासकर्ता को खाट पर लेटना पड़े, बल्कि बहुत साधारण-सी दुर्बलता आती है। व्यक्ति घूम-फिर सकता है, अपने दैनिक काम बड़े मजे मे कर सकता है। उपवास में प्रातःकालीन घूमना बहुत लाभ करता है।

भ्रमण से लौटने के बाद शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव होता है। अनेक व्यक्ति तो टहलने के बाद हल्का व्यायाम भी करते हैं। लेकिन व्यायाम कोई जरूरी नही, टहलना ही काफी है। एक सप्ताह तक के छोटे उपवासों में तो दफ्तर या दुकान का काम भी आसानी से किया जा सकता है। अलबत्ता लम्बे उपवासो (३०-४०-५० दिन) में फिर भी आराम की जरूरत होती है; लेकिन कमजोरी की परेशानी तब भी नही महसूस होती। यदि उपवासकर्त्ता उपवास के महत्त्व को अच्छी तरह समझता है और उपवास पर उसकी आस्था है, तो उसे प्रायः उपवास में कोई दुर्बलता नही आती। अधिकांश लोगो को दुर्बलता न खाने के डर से पैदा हो जाती है।

उपवास-काल मे शुरू के दिन भूख सताती है लेकिन यह असली भूख नहीं होती। क्योंकि तीसरे दिन यह भूख समाप्त हो जाती है। भूख के समय अधिक पानी पी लेने से उसका कष्ट मालूम नही होता। उपवास में दूसरे या तीसरे दिन जीभ पर सफेद मैल आ जाता है। कभी-कभी श्वास से बदबू भी आती है। दांतों में चिपचिपाहट पैदा हो जाती है। नये उपवासकर्त्ताओं को इन लक्षणों से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। ये लक्षण इस बात का सबूत होते हैं कि शरीर के विजातीय द्रव्य बाहर आ रहे हैं। फिर ये लक्षण अपने आप ही दूर हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों शरीर की अदरुनी सफाई होती जाती है, शरीर में हल्कापन, स्फूर्ति, उत्साह और नीरोगता अनुभव होने लगती है।

विभिन्न रोग और उपवास

उपवास ऐसा उपचार है जो प्रायः सभी रोगों मे अपना चमत्कारी प्रभाव दिखाता है। रोग चाहे नया हो अथवा पुराना, उपवास निश्चित रूप से उस पर काबू पा लेता है। हजारों केस ऐसे होते हैं, जिन्हें डॉक्टर, हकीम

असाध्य मानकर जवाब दे देते हैं, वे ही रोगी उपवास से ठीक हो जाते हैं। दमा, बढ़ा हुआ रक्तचाप, बवासीर, एग्जिमा (चमला), मधुमेह ऐसे रोग माने जाते हैं, जिनका कोई इलाज नहीं होता। लेकिन न मालूम इस तरह के कितने पुराने और असाध्य रोग जैसे फसली बुखार, टाइफाईड (मियादी बुखार), चेचक जैसे रोगों में भी उपवास अपना चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाता है। अमेरिका के डॉ० एडवर्ड डेबी ने तो अपने बच्चे का डिप्थीरिया जैसा घातक रोग उपवास से ठीक कर लिया था। कब्ज और कब्ज से पैदा होने वाले रोग में तो उपवास में बहुत जल्दी लाभ होता देखा जाता है।

उपवास की अवधि

उपवास २-३ दिन से लगाकर २ मास अथवा इससे भी अधिक दिनों का किया जा सकता है। एक सप्ताह तक का उपवास छोटा उपवास कहलाता है। सप्ताह से अधिक समय के उपवास लम्बे उपवास की श्रेणी में आते हैं। उपवास की अवधि रोगों के अनुसार नहीं, बल्कि रोगियों की हालत के मुताबिक निश्चित की जाती है। रोग का पुराना या नयापन, रोगी के शरीर की शक्ति, रोगी के शरीर में रोग की गहराई तथा रोगी तथा रोगी की मानसिक स्थिति आदि जांचकर ही उपवास की अवधि निश्चित की जाती है। यों नये रोगों मे छोटे उपवास और पुराने रोगों मे लम्बे उपवास अपेक्षित होते है। प्रायः एक सप्ताह से कम के उपवास से कोई खास लाभ नही होता। फिर भी प्रारम्भ करने वाले यदि शुरू मे ३-४ दिन का उपवास करना चाहें, तो अनुभव प्राप्त करने की दृष्टि मे यह ठीक होता है। लम्बे से लम्बा उपवास भी जब विधिवत् किया जाता है तो उससे कभी खतरा पैदा नही होता। अनेक व्यक्तियों ने दो-दो मास के उपवास सफलता-पूर्वक किये हैं।

उपवास में सावधानी

उपवास मे कभी-कभी खतरे और परेशानियां भी पैदा हो सकती हैं। यह बात सोलह आने ठीक है कि उपवास हर रोग को ठीक कर सकता है, लेकिन हर रोगी को नहीं। जिस रोगी की जीवनी-शक्ति बहुत घट चुकी होती है, उसे उपवास से कोई लाभ नहीं होगा। जैसे टी० बी० के दूसरे या तीसरे दर्जे की हालत का रोगी और अन्तिम दर्जे तक पहुंचा मधुमेह का रोगी। इसके अलावा दिल और गुर्दे की भी कई ऐसी पेचीदी बीमारियां होती हैं जिनमें उपवास से लाभ नही हो पाता। कुछ रोगियों की ऐसी दशाएं भी होती हैं जहां उपवास एकमात्र इलाज न होकर इलाज का एक अंग होता है।

उपवास का मूल्यांकन गलत न हो, इसलिए सावधानी रखनी

चाहिए—

जहां तक हो सके उपवास मे खुले बदन धूप और हवा में बैठना चाहिए।

रूस के न्यूरोफिजियोलोजिस्ट अकेडेमिसियन पियोत्र अनोखिन का मत है कि अनुभवी की देख-रेख मे लम्बे उपवास का प्रयोग पेट के अल्सर, दमा, मधुमेह आदि से मुक्ति पाने के लिए काफी उपयोगी उपाय है। शरीर-रचना की दृष्टि से उपवास एक प्रकार से 'शॉक ट्रीटमेंट' जैसा प्रयोग है। उससे नाड़ी मडलीय क्रिया-कलाप बढ जाता है। उपवास के तीसरे दिन से त्वचा मे परिवर्तन दीखने लगता है; यह शरीर की प्रातरक्षात्मक प्रक्रिया की अभिवृद्धि का द्योतक है। यह रोगी के पेथोलॉजिकल कॉम्प्लेक्स पर क्रियाशील होता है। इस दिशा मे रूस में अनेक केन्द्रों पर काय हो रहा है। डॉ० अनोखिन का मत है कि चिकित्सा-क्षेत्र मे उपवास से बड़ी सम्भावनाए है। वे इस दिशा मे और अधिक काम करने की अपेक्षा मानते हैं।

भगवान् महावीर ने एक दिन के उपवास से लेकर छह महीने तक के उपवास को 'अनशन' की सज्ञा दी है। 'अनशन' शब्द आजकल भूख हड़ताल के चक्कर मे पड़कर कुछ अवमत हो गया है। महावीर इसके सर्वथा विरुद्ध है। वे शरीर की शुद्धि के लिए भी उपवास की उपयोगिता को सीमित करना नही चाहते। उनका लक्ष्य तो उससे बहुत ऊपर है। वे तो केवल आत्मदर्शन के लिए ही उपवास का समर्थन करते है। उन्होंने स्वय दो दिन से लेकर छह महीने तक के लम्बे उपवास किये। वे उपवास-काल मे अपना अधिक समय आत्म-चिन्तन मे या ध्यान मे ही बिताते थे। यद्यपि उन्होने स्वय तो अपनी तपस्या बिना पानी चौविहार ही की है, पर उनकी तपोयात्रा मे पानी पीकर भी तपस्या करने का विधान है। इस अवस्था में केवल गर्म पानी का ही उपयोग अधिक किया जाता है। गर्म पानी को कीटाणुरहित भी माना गया है।

भोजन में कमी करना (ऊनोदरी तप) एवं अस्वाद-वृत्ति (वृत्ति-संक्षेप तप)

यदि कोई उपवास न कर सके, तो उसके लिए अन्य तपों का विधान किया गया है, जिनमे ऊनोदरी और वृत्तिसक्षेप उल्लेखनीय हैं। ऊनोदरी का तात्पर्य है—भोजन में कमी करना, भूख से अधिक न खाना। भूख हो उससे एक-दो ग्रास भी कम करना ऊनोदरी है। खाद्य पदार्थों (द्रव्यों) की सख्या मे कमी करना भी ऊनोदरी है। जैसे—५ या ७ पदार्थों से अधिक न खाना। अधिक 'द्रव्य' खाने का बुरा प्रभाव पाचन-क्रिया पर पड़ता है। दिन में बार-बार न खाना भी ऊनोदरी का एक प्रकार है। एक, दो या

तीन बार से अधिक न खाना, दो बार के भोजन में भी बीच में तीन घण्टे का अन्तराल होना आदि भी ऊनोदरी के प्रयोग हैं।

वृत्ति-संक्षेप का अर्थ है—ऐसे विशेष संकल्प स्वीकार करना जिससे अस्वाद-वृत्ति का विकास हो। जो कुछ सहजभाव से मिल जाये उसे खाते समय स्वाद-भावना से मुक्त रहना वृत्ति-सक्षेप है। संकल्प का स्वीकार 'अभिग्रह' कहलाता है।

आधुनिक शरीरशास्त्र की दृष्टि से सामान्य रूप से स्वस्थ और साधारण श्रम करने वाले व्यक्ति को दिन भर में २५०० कैलोरी ताप उत्पन्न करने वाले भोजन की आवश्यकता होती है। महावीर ने उसे ३२ ग्रास की संज्ञा दी है। व्यक्ति की क्षमता के अनुसार उन्होंने इसमें कमी-बेसी का भी विधान किया है। पर मात्रा का यह विवेक मनुष्य का अपना होता है। जो व्यक्ति यह विवेक नहीं कर सकता, वह साधना के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता।

महात्मा गांधी ने अपनी **'स्वास्थ्य साधना'** नाम की छोटी-सी पर महत्त्वपूर्ण पुस्तक में लिखा है—"पशु-पक्षियों का जीवन देखिए। वे कभी स्वाद के लिए नहीं खाते और न इतना अधिक ही खाते है कि पेट फटने लगे। वे केवल अपनी भूख मिटाने भर ही खाते है, जो कि उन्हें प्राकृतिक रूप से मिल जाता है। वे कुछ भी नहीं पकाते। क्या यह अच्छी बात है कि मनुष्य केवल पेट की उपासना करे? क्या यह अच्छी बात है कि मनुष्य सदा रोगों का शिकार बनता रहे? वास्तव में यदि मनुष्य भी प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं को उसी रूप में खाये, भूख से अधिक न खाये, स्वाद के लिए न खाये, तो वह भी पशु-पक्षियों की तरह रोग-मुक्त रह सकता है।"

अतिभोजन से आंत श्लथ हो जाती है। वह मल को आगे नहीं ढकेल पाती। इस प्रकार कोष्ठबद्धता हो जाती है। उससे चिन्तन में कुंठा आती है। प्रसन्नता के लिए यह अनिवार्य है कि मल-संचय न हो। दो दिन तक खाना न खाया जाये तो भी आंतों को पचाने के लिए शेष रह जाता है। पर मल का उत्सर्ग न हो तो एक दिन में बेचैनी हो जाती है। आंतों में मल भरा रहने से अपान वायु का द्वार रूद्ध हो जाता है। फिर वह ऊपर जाती है और हृदय को धक्का लगाती है। जिसे हम सामान्यतः हृदय-रोग समझते हैं, वह बहुत बार यही होता है। अपने शरीर के तापमान से अधिक ठंडा और अधिक गर्म भोजन भी हानिप्रद होता है। उससे आंत और दांत दोनों विकृत होते हैं। भोजन का संबंध आवश्यकतापूर्ति से है पर उसका संबंध जब स्वाद से हो जाता है, तब मर्यादा का अतिक्रम और विपर्यय होने लगता है।

अध्यशन-वर्जन

अध्यशन आहार का एक दोष है। पहले खाया हुआ पचा नहीं, उसी

बीच और खाना अध्यशन है। संभव हो तो पांच घंटे, कम से कम तीन घंटे पहले, दूसरी बार अन्न न खाया जाए। यह सामान्य मर्यादा रही है। कुछ हल्के भोजन जल्दी पच जाते हैं, पर अन्न तीन घंटे पहले नहीं पचता। पचने से पूर्व खाने से घोल कच्चा ही रह जाता है। प्राचीन काल में भोजन दो बार किया जाता था, कभी-कभी तीन बार भी। किन्तु आजकल इस सिद्धांत में परिवर्तन आ गया है। कई डाक्टर थोड़ा-थोड़ा बार-बार खाने को कहते हैं। उनका आशय संभवतः हल्के भोजन से है। अल्सर जैसे रोग में बार-बार खाया जाता है।

आंध्र प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय के डॉ० प्रो० सूर्यनारायण ने कहा है—"यह बात बिलकुल सही है कि जिस व्यक्ति को अपने आपको स्वस्थ बनाये रखने की इच्छा है उसे जिह्वा का दास नहीं बनना चाहिए और न उसे अंधाधुंध नियंत्रणहीन रूप में खाते ही रहना चाहिए। जो व्यक्ति अपने शरीर पर अवांछित दबाव नहीं डालता है वह निश्चय ही रोगमुक्त रहता है। पूरे रूप में शरीर को पोषण मिले इसके लिए यह आवश्यक है कि भूख के बिना न खाया जाये। भोजन ठूसते ही रहना मात्र उसका लक्ष्य नहीं होना चाहिए। दो भोजनों के बीच में काफी समय का अन्तर रखते हुए थोड़ा कम खाना अच्छे स्वास्थ्य की गारंटी है।"

निश्चय ही उपरोक्त कथनों में ऊनोदरी तथा वृत्ति-संक्षेप का समर्थन मिलता है। अतः इस संबंध में सावधानी बरतनी चाहिए कि भोजन इतना ही किया जाय कि थोड़ी भूख बाकी रहे।

लुई अहोगाफाल्स, ओहियो में अपराधकर्मियों और भोजन के सम्बन्ध में शोधकार्य प्रारम्भ किया गया है। वहां अपराधकर्मियों की जांच की जाती है कि वह 'हाइपरग्लाईसीमिया'—खून में शक्कर के रोग से ग्रस्त तो नहीं है। इससे ग्रस्त होने पर व्यक्ति में चिड़चिड़ापन आ जाता है। वह शंकालु प्रवृत्ति का हो जाता है और यदा-कदा 'हाइपरग्लाईसीमिया'-जनित अपराधों में प्रवृत्त हो जाता है, यथा मारपीट, यौन अपराध तथा कानून का उल्लंघन आदि। ऐसे व्यक्तियों के भोजन में परिवर्तन कर दिया जाये, मीठी चीजें तथा स्टार्च वाली चीजें बन्द कर दी जायें तो उसकी प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जाता है। चीन के एक विख्यात दार्शनिक लिन्ड ताड़ ने बिलकुल सच कहा है—हमारा जीवन भगवान पर आश्रित नहीं है, वह हमारे रसोइयों पर आश्रित है।

रात्रि-भोजन का परिहार

भोजन के सम्बन्ध में रात्रि-भोजन नहीं करना, यह भी महावीर की एक विशेष सूचना है। रात्रि-भोजन से अंधकार में बहुत सारे जीव-जन्तुओं

की हिंसा की संभावना तो होती ही है, पर इसके अतिरिक्त पाचन की दृष्टि से भी इसकी अपनी उपयोगिता है। दिन रहते-रहते खाने से सूरज की गर्मी का भोजन के पाचन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अच्छे पाचन के लिए मस्तिष्क क्रियाशील और सचेत रहना आवश्यक है तो अच्छी नींद के लिए खाली पेट रहना भी आवश्यक है। यह शरीर-विज्ञान के संबंध में एक सर्व-सम्मत नियम है। इस दृष्टि से दिन रहते-रहते खा लेना एक स्वास्थ्यकर नियम भी बन जाता है। जो लोग रात में देर से भोजन करते है और फिर सो जाते हैं, वे अपने शरीर के साथ जबरदस्ती करते हैं।

प्रश्न है कि जैन परम्परा मे रात्रि-भोजन को अस्वीकार क्यों किया? भला, भूख के लिए भी कोई समय निर्धारित होता है? यथार्थता यह है कि जब भूख लगे तब भोजन खा लो। यह एक नियम ही पर्याप्त है भूख के लिए क्या दिन और क्या रात? और क्या प्रकाश और क्या अधकार?

रात्रिभोजन न करना धर्म से सम्बन्धित तो है ही क्योंकि यह धर्म के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इसके साथ इस निषेध का एक वैज्ञानिक कारण भी है। हम जो भोजन करते हैं, उनका पाचन होता है तैजस शरीर के द्वारा। उसको अपना काम करने के लिए सूर्य का आतप आवश्यक होता है। जब उसे सूर्य का प्रकाश नहीं मिलता तब वह निष्क्रिय हो जाता है, पाचन कमजोर हो जाता है। इसलिए रात को खाने वाला अपच की बीमारी से बच नहीं सकता। यह कारण वैज्ञानिक है।

दूसरा कारण है कि जब सूर्य का आतप होता है तब कीटाणु बहुत सक्रिय नहीं होते है। बीमारी जितनी रात में सताती है उतनी दिन में नहीं सताती। उदाहरणार्थ—वायु का प्रकोप रात में अधिक होता है। ये सारी बीमारियां रात में इसलिए सताती है क्योंकि रात में सूर्य का प्रकाश और ताप नहीं होता। जब वे होते हैं, तब बीमारियां उग्र नही होतीं।

रस-परित्याग

इसके अतिरिक्त महावीर भोजन मे जिस एक बात पर और ओर देते हैं, वह है रस-परित्याग। रस-परित्याग का सामान्य अर्थ है दूध, दही, घी, चीनी, मिठाई तथा तेल—इन छह विकृतियों (विगयों) का परित्याग। विकृति शब्द प्रकृति का विलोम है। जब महावीर विकृति शब्द का प्रयोग करते हैं, तो निश्चय ही उनका संकेत प्रकृति की ओर है। प्राकृतिक भोजन सहज मन के लिए भी उत्तेजना-रहित है। वृत्तियों में उत्तेजना न आये, इसके लिए वे बार-बार रूखे-सूखे नीरस भोजन की याद दिलाते हैं। इसी दृष्टि से वे विकृतियों के परित्याग की बात कहते हैं। वे न केवल शरीर को उपचित ही करती हैं पर विकारों को भी जन्म देती हैं। इसीलिए वे कहते हैं—

'रसा पगामं न निसेवियव्वा ।
मुता-रसा दित्तिकरा नराणं,
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥'

—प्रकाम रसों का निषेवन मत करो। वे मनुष्य के लिए उत्तेजक हैं। वे मनुष्य को उसी तरह से परेशान करते है जैसे मधुर फलोंवाले वृक्ष को पक्षी।

पर इसका यह मतलब नही कि वे एकदम नीरस आहार के समर्थक तथा रसपूर्ण आहार के विरोधी है। आवश्यकतानुसार रसपूर्ण आहार के लिए भी उनका निषेध नही है। पर व्यक्ति को उसके संतुलन का बोध अवश्य होना चाहिए।

कुछ लोगो का खयाल है कि स्वास्थ्य की रक्षा के लिए घी, दूध आदि की आवश्यकता है। सतुलित भोजन की दृष्टि से एक हद तक इनकी आवश्यकता हो सकती है। पर दीर्घ और स्वस्थ जीवन पर शोध से इस बात का पता चला है कि उसका मुख्य राज सीधा-सादा भोजन ही है। आज दक्षिणी अमेरिका की पहाड़ियो तथा घाटियों मे, जॉजिया आदि के गावो मे अनेक शतायु व्यक्ति मिलते हैं। उनसे बातचीत करने पर यह पाया गया है कि उनके जीवन का रहस्य सीधा-सादा भोजन तथा तनावमुक्त जीवन है। यद्यपि वे यह नही बता पाते कि उनकी उम्र कितनी है पर न्यूयार्क अकादमी ऑफ मेडिसिन के डायरेक्टर ने अनेक लोगो की शताधिक आयु को स्वीकार किया है।

नयी शोधो के आधार पर शरीर-शास्त्र में यह स्थिर हो गया है कि अधिक चिकनाई का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है। यदि चिकनाई ४० प्रतिशत कैलोरी से ज्यादा हो जाए तो मोटापा, हृदय-रोग, उच्च रक्तचाप, मधुमेह आदि बीमारियो की आशका बढ़ जाती है। कई अध्ययनो ने यह भी पता चला है कि भोजन मे अधिक चिकनाई होने तथा सीने और आंतों के कैंसर में पारस्परिक सम्बन्ध है। सेचुरेटेड चिकनाई का अधिक प्रयोग भी उचित नहीं है।

तली हुई चीजें भी हमारे पाचन-तंत्र को क्षति पहुचाती है। बहुत सारे लोग बहुत सारी चीजों को केवल स्वाद की दृष्टि से ही खाते है। मिर्च-मसाले, हींग आदि ऐसी अनेक चीजें आदमी के भोजन में प्रविष्ट हो हो गयी है जिनकी शरीर के लिए उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी जीभ के लिए है। दालें, शक्कर, घी का उपयोग कम-से-कम किया जाना उत्तम स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। स्वास्थ्यपूर्ण भोजन में रासायनिक खाद्यों का भी निषेध है। जिस अन्न में समस्त खनिज-लवण स्वाभाविक हो वही पूर्ण

स्वास्थ्यप्रद भोजन है।

चीनी और नमक पर नियंत्रण

चीनी, नमक और चिकनाई ये तीनों भोजन के अनिवार्य अंग बने हुए हैं। इनके कारण अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, यह सब नहीं जानते। हृदय की बीमारी के लिए तीनों निषिद्ध माने जाते हैं। बहुत चीनी का प्रयोग भी न हो, बहुत चिकनाई का प्रयोग भी न हो और नमक का प्रयोग सर्वथा न हो तो बहुत अच्छा है। शक्ति के लिए चीनी आवश्यक होती है, किन्तु यह सफेद चीनी नहीं। चीनी तो सहज प्राप्त होती है। दूध मे चीनी होती है। फिर दूसरी चीनी की जरूरत क्या है?

इसी प्रकार चीनी के विषय में 'साइन्स रिपोर्ट' अगस्त, १९७६ में श्री आई० रघुनाथन ने लिखा है—इस शताब्दी के प्रारम्भ से हमारे भोजन की आदतों मे बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। पहले कार्बोहाइड्रेट पदार्थ शक्ति के मुख्य स्रोत थे। आज उनका स्थान चीनी ने लिया है। इसके पीछे कारण रूप हल्के पेयों (soft drinks) मे लोगों की रुचि का अत्यधिक बढ़ना है। चीनी की खपत के इस रूप मे बढ़ने के गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। इसमें सबसे प्रमुख बात तो यह है कि चीनी में पोषण-तत्त्व नगण्य-सा है। फिर भी यह पोषक आहारों पर हावी होती जा रही है।.....आज औसत अमेरिका के भोजन में ४० प्रतिशत कैलोरी चीनी से प्राप्त होती है। पर हल्के पेय, तैयार मिठाइयों आदि का प्रयोग कम करके उसे मात्र १५ प्रतिशत कैलोरी चीनी से प्राप्त करनी चाहिए।

हमारे शरीर को जो शर्करा (ग्लुकोज) चाहिए वह बाजार मे मिलनेवाली चीनी में बहुत कम है। दानेदार शर्करा मे जो मिठास होती है वह हमारे शरीर में सीधे काम नही आती। उसे पचाने के लिए उल्टा हमारे शरीर-तंत्र को काम करना पड़ता है। इसीलिए वह लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक करती है।

नमक का ज्यादा प्रयोग भी स्वास्थ्य को कमजोर बनाता है। इस सलाह के पीछे मुख्य आधार यह है कि नमक कुछ लोगों के रक्तचाप को बढ़ा देता है। लगभग २० प्रतिशत लोग जिनमें बच्चे भी शामिल हैं, उच्च रक्तचाप से पीड़ित रहते है। कुछ अध्ययनों से यह सिद्ध हुआ है कि अधिक नमक खाने से हृदय-रोग, पेट के कैंसर, सिरदर्द आदि की आशंका रहती है। तीन ग्राम नमक से ज्यादा नमक मनुष्य के लिए अनावश्यक है और इतना नमक तो खाद्य-पदार्थों में बिना अतिरिक्त नमक मिलाये ही प्राप्त हो जाता है।

यदि नमक का प्रयोग कम हो जाए तो दस-बीस प्रतिशत बीमारियां

भी कम हो जाएं। नमक के कारण लोग ज्यादा खाते हैं। कृत्रिम स्वाद पैदा कर हमने नमक को भोजन का प्रधान तत्त्व मान लिया जिससे जीभ को स्वाद मिले, डाक्टरों को संरक्षण मिले, उनका धन्धा चले और बीमारियां अच्छी तरह से पलें। नमक छोड़ना केवल साधना का प्रयोग ही नहीं, स्वास्थ्य का प्रयोग भी है। यदि पूरे सप्ताह में सात दिन नमक न छोड सके तो एक, दो, तीन दिन ही छोड़ कर देखें। यह प्रियता और अप्रियता से बचने का प्रयोग होगा, संकल्प-शक्ति का प्रयोग होगा तथा साथ-साथ स्वास्थ्य का भी प्रयोग होगा। हृदय-रोग की संभावना कम होगी, अन्तर्व्रण (कैंसर) की संभावना कम होगी। नमक कृत्रिम ढंग से उत्तेजना पैदा करता है, रक्त को अद्रव बनाता है। जब वह उत्तेजना नहीं होगी, मानसिक शान्ति में भी सहयोग मिलेगा। नमक का प्रयोग साधना के लिए वर्जित होता है और स्वास्थ्य के लिए यह विघ्न है।

कुछ प्रयोग

आयबिल तपस्या एक प्रयोग है जिसमें कोरा एक धान्य और पानी चलता है। आयबिल का प्रयोग अनेक बीमारियों को मिटाने वाला प्रयोग है। भयंकर बीमारियां आयंबिल से नष्ट होती हैं। पक्षाघात की बीमारी बहुत भयंकर बीमारी होती है, किन्तु आयबिल के द्वारा ठीक हो जाती है। अजीर्ण और अपच की बीमारी इससे ठीक होती है। एक साथ ज्यादा वस्तुएं खाने से बहुत बीमारियां होती हैं और एक अनाज खाने से पाचन-शक्ति को बहुत राहत मिलती है।

एक वस्तु पेट में जाती है तो पचाने में सुविधा होती है और अनेक वस्तुएं एक साथ पेट में जाती हैं तो उन्हें पचाने में अधिक शक्ति लगानी पड़ती है। आयबिल में नमक का भोजन नहीं होता।

एक प्रयोग यह भी हो सकता है—कभी अलग-अलग खाया जाए। रोटी अलग, साग अलग, क्योंकि साग जरूरी होता है, यह तो ठीक बात है। पर इसमें तो फर्क नहीं पड़ेगा कि अलग-अलग खाया जाए, पूर्ति तो हो जाएगी। अलग खाने का मतलब है अस्वाद का प्रयोग और साथ-साथ स्वास्थ्य का भी बहुत बड़ा प्रयोग हो जाएगा। रोटी के साथ साग खाते हैं तो पूरा चबाया नहीं जाता। स्वास्थ्य का मूल सिद्धान्त है कि भोजन को जितना चबाया जाए उतना ही अच्छा है।

एक बात तो जरूर है कि जो इतना चबाए तो उसे ज्यादा खाने की जरूरत भी नहीं पड़ती। पांच रोटियां जो काम नहीं करतीं, एक-डेढ़ रोटी उतना काम कर सकती है अगर उतना चबाया जाए। नहीं चबाने का परिणाम होता है कि दांत भी खराब होते हैं और आंत भी खराब होती है।

दांत और आंत दोनों के साथ शत्रुता का पोषण करना हो तो चबाना छोड़ दो ।

जिन लोगो ने बिना साग के कभी गेहूं की रोटी नहीं खायी उन्हें पता ही नहीं कि गेहूं का स्वाद कैसा होता है ? बिना साग के गेहूं की रोटी खाकर देखें, पता चलेगा कि गेहूं कितना मीठा होता है, कितनी मिठास है गेहूं में ! इतना मीठा होता है कि फिर चीनी डालने की बात ही नही आती ।

(II) शाकाहार बनाम मांसाहार

मांसाहार का निषेध क्यों ?

हमारा जीवन आहार मे शुरू होता है । आहार होता है, तब दूसरी प्रवृत्तियां चलती है । जैसी प्रवृत्ति, वैसा संस्कार; जितनी प्रवृत्ति, उतना संस्कार, जैसा संस्कार, वैसा विचार; जैसा विचार, वैसा व्यवहार। व्यवहार हमारी कसौटी है । भीतरी जगत् में कौन कैसा है, हम नहीं जान पाते । मनुष्य की जो प्रतिमा व्यवहार से बनती है उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन होता है । अच्छा व्यवहार, अच्छे विचार, अच्छा संस्कार अच्छे आहार बिना नही हो सकता । इसलिए हमारे धर्माचार्यों ने आहार-शुद्धि को प्राथमिकता दी है । हम अच्छाई का प्रारम्भ आहार-शुद्धि के व्रत से करें । हम न खाएं, यह सबसे अच्छा है, पर यह संभव नही है । आहार हमारे जीवन की अनिवार्यता है । हम वह न खाए जिसकी अनिवार्यता नही है । वनस्पति को आहार की अनिवार्यता के रूप मे स्वीकृति है । इसके पीछे हिंसा का अल्पीकरण, स्वास्थ्य और सात्त्विक संस्कार एव विचार का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है । ये तीनो दृष्टिकोण मांसाहार का समर्थन नही करते । इसलिए इन दृष्टिकोणों से मांसाहार अनिवार्यता की कोटि मे नही आता । आधुनिक शरीर-शास्त्री, आहार-शास्त्री और स्वास्थ्य-शास्त्री भी अपने अन्वेषणों के आधार पर मांसाहार को शारीरिक और मानसिक, दोनों दृष्टियों से दोषपूर्ण बतलाते हैं । मांसाहार अप्राकृतिक उत्तेजना उत्पन्न करता है, सहनशीलता को कम करता है, धमनियों और शरीर के तंतुओं के लचीलेपन को नष्ट कर आयु को कम करता है ।

क्रूरता, क्षणिक आवेश, अधैर्य—ये मांसाहार के सहज परिणाम हैं । आदमी मांस खाकर भी जीता है और अनाज खाकर भी जीता है । इन दोनों में हम चयन करें और सोचें—मांस की अनिवार्यता है या अनाज की अनिवार्यता । हिंसा की संभावना मांस खाने में ज्यादा है या अनाज खाने में है ? इस चयन का फलित होगा कि मांस खाना अनिवार्य नहीं है, अनाज खाना अनिवार्य है । क्योंकि शाकाहार का कोई विकल्प नहीं है जो मनुष्य

को जीवित रख सके। मांसाहार का विकल्प है—शाकाहार। मांस को छोड़ने वाला शाकाहार के बल पर जी सकता है। शाकाहारी माँस नही खाता, पर मांसाहारी अनाज और फल, साग-सब्जी खाते है। क्योंकि मांसाहार करने पर भी शाकाहार की अनिवार्यता का वे अतिक्रमण नही कर पाते। शाकाहार की न्यूनतम अपेक्षा है, उसे छोड़ा नही जा सकता। उसके बिना काम नहीं चल सकता। यह अनिवार्यता का सिद्धान्त है। अनाज और मांस दोनों की तुलना में मांस का भोजन मनुष्य को अधिक क्रूर बनाता है। मांस को प्राप्त करने में मनुष्य को जितना क्रूर बनना पड़ता है, उतना अनाज को प्राप्त करने में नही बनना पड़ता। जो लोग मांसाहारी है, वे भी बूचड़खाने मे नही जाते। जहां जीवों का बध होता है, पशु-पक्षी मारे जाते है, वहां नहीं जाते। यदि वे वहां चले जाए तो संभव है उनके लिए भी मांस खाना मुश्किल हो जाए। अनाज खाने मे भी हिंसा है, क्रूरता की दृष्टि से मांस भोजन की कोटि में नही आता। अनिवार्यता और हिंसा का अल्पीकरण—इन दोनो दृष्टियों से मांस-भोजन स्वीकार्य नहीं हो सकता। जिन लोगो ने करुणा से आर्द्र होकर देखा उन सबने एक स्वर से कहा—मनुष्य विवेकशील प्राणी है। वह विकल्पों का चयन करता है। इसलिये उसे मांस नहीं खाना चाहिए।

अन्तर्वृत्ति की दृष्टि मे हमे मांसाहार के प्रश्न पर विचार करना चाहिए। जिन पशुओं, पक्षियो और जलचर जीवो का मांस खाया जाता है, उनमें तामसिक वृत्तियां प्रबल होती है। मांस पशु के शरीर का अभिन्न भाग होता है, जिसके कण कण मे तामसिक वृत्तियां उभरती है। उस मांस को खाने वाला क्या पाशविकता के संस्कारो से बच पाएगा? कभी नही। मनुष्य में पाशविकता, अज्ञान, प्रमाद और क्रूरता के बढ़ने का बहुत बड़ा कारण है—मांसाहार। मांसाहार ने निश्चय ही मनुष्य को कुछ अंशों मे पशु बनाया है। और उसमें पाशविक वृत्तियां पैदा की है, अन्यथा मनुष्य कुछ ऐसे आचरण नहीं करता जो पशु के लिए ही उचित हो सकते हैं, मनुष्य के लिए नही।

मांसाहार के निषेध की चर्चा पहले अहिंसा के दृष्टिकोण से की जाती थी, अब यह अन्तर्वृत्तियों के दृष्टिकोण से की जा रही है। सभी चाहते हैं कि हमारे समाज मे अपराध की बाढ न आए, किन्तु अन्तर्वृत्तियों को परिष्कृत किए बिना अपराध की बाढ को रोका नही जा सकता। अन्तर्वृत्तियों को विकृत बनाने वाली वस्तुओं के प्रयोग को छोड़े बिना उन्हें परिष्कृत नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से मांसाहार का प्रश्न मनुष्य के लिए बहुत चिन्तनीय है। यह एक ऐसी समस्या है, जिसे दूसरी समस्याएं उपस्थित कर, मनुष्य अपनी दृष्टि से ओझल करना चाहता है, किन्तु वह दृष्टि से ओझल

होकर भी अपना प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहती और स्वयं समाहित नहीं होती।

मन शान्त और पवित्र रहे, उत्तेजनाएं कम हों—यह अनिवार्य अपेक्षा है। इसके लिए आहार का विवेक होना जरूरी है। अपने स्वार्थ के लिए बिलखते हुए मूक प्राणी की निर्मम हत्या करना क्रूर कर्म है। मांसाहार इसका बहुत बड़ा निमित्त है। इसलिए अनिवार्यता, अन्तर्वृत्ति और करुणा—इन सब दृष्टियों से मांसाहार का वर्जन आहार-विवेक का महत्त्वपूर्ण अंग है।

विश्व के हर कोने से वैज्ञानिक व डॉक्टर यह चेतावनी दे रहे हैं कि मांसाहार कैंसर आदि असाध्य रोगों का निमित्त बनकर आयु क्षीण करता है, और शाकाहार अधिक पौष्टिकता व रोगों से लड़ने की क्षमता प्रदान करता है।

पशुओं के मारने से पूर्व उनके शरीर में पल रहे रोगों की उचित जांच नहीं की जाती और उनके शरीर में पल रहे रोग मांस खाने वाले के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं; फिर जिस त्रास व यन्त्रणापूर्ण वातावरण में इनकी हत्या की जाती है उस वातावरण से उत्पन्न हुआ तनाव, भय, छटपटाहट, क्रोध आदि पशुओं के मांस को जहरीला बना देता है। वह जहरीला रोग-ग्रस्त मांस मांसाहारी के उदर में जाकर उसे असाध्य रोगों का शिकार बनाता है।

अम्लों की विनाशलीला

शरीर मे बाहर से प्रवेश करने वाले विष-द्रव्यों में मुख्य योगदान अशुद्ध आहार के द्वारा होता है। यदि आहार-विवेक द्वारा हित, मित, सात्त्विक आहार ही ग्रहण किया जाए, तो शरीर में बाहर से विष-द्रव्यों का प्रवेश नहीं होगा। इतना ही नहीं, शुद्ध आहार द्वारा पूर्व में जमा विष-द्रव्यों का बाहर निकालने में भी सहायता मिलेगी।

हमारा आहार (भोजन) ऐसा होना चाहिए, जिससे कि शरीर में विष-द्रव्य अतिमात्रा में जमा न हो पाए। ऐसा आहार "शुद्ध" आहार कहलाता है। शरीर में चयापचय की क्रिया के परिणामस्वरूप हमारे शरीर मे यूरिक एसिड, लेक्टिक एसिड आदि अम्ल पैदा होते हैं। ऐसे पदार्थ भोजन में अधिक न लें जिनसे इन अम्लों में वृद्धि हो। अन्यथा इन अम्लों को निष्क्रिय करने के लिए क्षार की मात्रा पर्याप्त न होने से, अम्ल अवशिष्ट रह जायेगा, जो हानिकारक ही सिद्ध होता है।

कार्बोहाइड्रेट—यदि भोजन में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो जाती है, तो उससे कार्बन डाईआक्साइड की उत्पत्ति बढ़ जाती है। जिससे शरीर में कार्बोनिक ऐसिड पैदा होता है, जो एक विष-द्रव्य के

रूप में शरीर को नुकसान पहुंचाता है।

प्रोटीन—भोजन में प्रोटीन का जो हिस्सा होता है, उसके चयापचय के परिणामस्वरूप यूरिक एसिड का निर्माण होता है। अत्यधिक श्रम से शरीर में लेक्टिक एसिड की मात्रा बढ जाती है। इन अम्लों को शरीर से यथाशीघ्र निष्कासित करना चाहिए तथा निष्कासित करने से पूर्व उन्हें क्षारों द्वारा निष्क्रिय करना आवश्यक है। सोडियम, पोटेशियम, केल्शियम और मेग्नेशियम क्षारों की पर्याप्त मात्रा रक्त प्रवाह मे रखने के लिए इन द्रव्यों से युक्त पदार्थ भोजन द्वारा ग्रहण करना आवश्यक है। यदि भोजन द्वारा इनकी आपूर्ति नही होती है, तो हमारे शरीर के भीतर के क्षार-भंडार जैसे—अस्थियां, पृष्ठ-रज्जु लीवर आदि में से उन्हें निकालकर रक्त-प्रवाह में भेजना पड़ता है। इस प्रकार जब क्रमशः क्षार-भंडार रिक्त हो जाते हैं तब रक्त में अतिरिक्त मात्रा में जमा अम्ल अपनी विनाशलीला शुरू कर देते है। उदाहरणार्थ—संधिवात की बीमारी मे अस्थि-संधियों मे यूरिक ऐसिड जमा होता है। इसलिए हमारे भोजन मे अम्ल-निरोधक या क्षारान्त पदार्थ की पर्याप्त मात्रा मे पूर्ति आवश्यक है। फल, सब्जी, भाजी, क्षारान्त हैं तथा दाल अन्न आदि अम्लान्त है। दूध केवल नवजात शिशुओं के लिए क्षारान्त है वयस्कों के लिए वह अम्लान्त बन जाता है। इस प्रकार अम्लान्त भोजन की तुलना में पर्याप्त मात्रा में क्षारान्त भोजन होने से ही व्यक्ति "अम्लों" की विनाशलीला से बच सकता है।

चर्बी—भोजन में यदि स्नेह या चर्बी (वसा) की मात्रा सीमा से अधिक होती है तो आंतो मे उसका रूपान्तरण फ्री-फेटी एसिड के रूप में होता है। इसे निष्क्रिय करने के लिए पित्त या अन्य—सोडियम, पोटेशियम आदि के क्षारों का अतिरिक्त मात्रा में व्यय करना पड़ेगा, जो एक "दुर्व्यय" है। यदि ये क्षार पर्याप्त न हों तो एसिटोन डाइ-एसेटिक एसिड जैसे अति विषैले विष-द्रव्यों का संग्रह शरीर मे बढ़ेगा, जो मृत्यु का भी कारण बन सकता है।

स्पष्ट है कि मांसाहार अम्लों की विनाशलीला में एक बहुत बड़ा निमित्त है।

मनुष्य की प्राकृतिक शरीर-रचना शाकाहारी जीवों जैसी

इस सृष्टि में शाकाहारी व मांसाहारी जीवों की अनेकों जातियां हैं और बहुत छोटे से लेकर बडे आकार तक के विभिन्न प्रकार के जीव हैं, किन्तु सभी शाकाहारी जीवों की शरीर रचना, हाथ, पांव, दांत, आतों आदि की बनावट व उनको देखने, सूघने की शक्ति व खाने-पीने का ढंग मांसाहारी जीवों से भिन्न है। जैसे—

शरीर का अंग	मांसाहारी	शाकाहारी
१. दांत[1]	नुकीले	चपटी दाढ़ वाले
२ पंजे	तेज नाखुन वाले	नाखुन तेज नही
३. जबड़े की गति	केवल ऊपर नीचे हिलते हैं	ऊपर, नीचे, दाए-बाएं, सब ओर हिलते हैं
४. चबाने की क्रिया	बगैर चबाए भोजन निगलते है	भोजन चबाने के बाद निगलते हैं
५. जीभ	खुरदरी (rough)	चिकनी (smooth)
६. पानी पीने की क्रिया	जीभ बहार निकाल कर	जीभ बिना बाहर निकाले, होठों से
७. आंतें	लंबाई कम, शरीर की लम्बाई के बराबर; धड़ की लंबाई से ६ गुनी; आंते छोटी होने के कारण वे मांस के सड़ने व विषाक्त होने से पहले ही उसे बाहर फेंक देती हैं	लंबाई अधिक, शरीर की लंबाई से ४ गुनी; धड़ की लंबाई से १२ गुनी; इसके कारण मांस को जल्दी बाहर नही फेंक पाती
८. लीवर, गुर्दे	अनुपात में बडे, ताकि मांस का व्यर्थ मादा आसानी से बाहर निकाल सके	अनुपात में छोटे, ताकि मांस का व्यर्थ मादा आसानी से बाहर नहीं निकाल सकते
९ पाचक अंग में हाइड्रोक्लोराइड एसिड	मनुष्य की अपेक्षा दश गुना अधिक, जिससे मांस आसानी से पच सकता है	कम, मांस को आसानी से नही पचा सकता

१. जौन्स होपकीन्स यूनिवर्सिटी के डॉ० एलन वाकर ने दांतों के माइक्रोस्कोपिक एनेलिसिस से यह पता लगाया है कि मनुष्य फल खाने वाले प्राणियों का वंशज है न कि मांस खाने वालों का।

१०. लार (सलाइवा)	अम्लीय (acidic)	क्षारीय (alkaline) लार में टायलिन ptyaline
११. ब्लड-पीएच०	कम; झुकाव अम्लीय की ओर	अधिक; झुकाव क्षारीय की ओर
१२. सुंघने की शक्ति	अत्यन्त तीव्र	उतनी तीव्र नही
१३. आंखें	रात में चमकती हैं; रात मे भी देख सकती हैं	रात मे देख नहीं सकती
१४. शब्द	कर्कश, भयकर	कर्कश नही
१५. बच्चे	जन्म के बाद एक सप्ताह तक दृष्टि-शून्य	जन्म से ही दृष्टिवाले

उपरोक्त तथ्यों से यह पता लगता है कि प्रकृति ने मनुष्य की बनावट गाय, घोड़ा, ऊंट, जिराफ, सांड आदि शाकाहारी पशुओं के समान ही की है, उसे शाकाहारी पदार्थों को ही सुगमता व सरलता से प्राप्त कर सकने व पचाने की क्षमता दी है। मनुष्य के अलावा संसार का कोई भी जीव प्रकृति द्वारा प्रदान की हुई शरीर-रचना व स्वभाव के विपरीत आचरण करना नहीं चाहता। शेर भूखा होने पर भी शाकाहारी पदार्थ नहीं खाता और गाय भूखी होने पर भी मांसाहार नहीं करती क्योंकि वह उनका स्वाभाविक व प्रकृति अनुकूल आहार नहीं है। मांसाहारी पशु अपनी पूरी उम्र मांसाहार कर व्यतीत करते हैं; उनके लिये यही पूर्ण आहार है किन्तु कोई भी मनुष्य केवल मांसाहार पर दो तीन सप्ताह से अधिक जीवित नहीं रह सकता क्योंकि केवल मास का आहार इतने अधिक तेजाब व विष (Acid and Toxins) उत्पन्न कर देगा कि उसके शरीर की सचालन-क्रिया ही बिगड़ जाएगी। जो मनुष्य प्रकृति के विपरीत मासाहार करते हैं उन्हें भी कुछ-न-कुछ शाकाहारी पदार्थ लेने ही पड़ते हैं क्योंकि मनुष्य के लिए मासाहार अपूर्ण व आयु क्षीण करने वाला आहार है। ऐसकीमों जो परिस्थितिवश प्रायः मांसाहार पर ही रहते हैं की औसत आयु सिर्फ ३० वर्ष ही है। जबकि केवल शाकाहार पर मनुष्य पूरी व लम्बी उम्र सरलता से जी सकता है।

उपरोक्त सभी तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि प्रकृति ने मनुष्य की रचना शाकाहारी और केवल शाकाहारी भोजन के अनुकूल ही की है।

मांसाहार : रोगों का जन्मदाता

मांसाहार पर भगवान महावीर ने बहुत तीव्रता से प्रहार किया है। जैन धर्म ने तो मांसाहार को हिंसा की दृष्टि से तथा भाव एवं लेश्या की मलिनता की दृष्टि से हेय माना ही है, पर विश्व के अन्य धर्म-शास्त्रों व महापुरुषों ने हर प्राणी मात्र में उस परम पिता परमात्मा की झलक देखने को कहा है व अहिंसा को परम धर्म माना है। अधिकांश धर्मों ने तो विस्तार पूर्वक मांसाहार के दोष बताए हैं और उसे आयुक्षीण करने वाला व पतन की ओर ले जाने वाला कहा है किन्तु किसी भी निरीह प्राणी की हत्या का निषेध तो सभी धर्मों ने किया है। अपने स्वाद व इन्द्रिय-सुख को ही जीवन का परम ध्येय समझने वाले कुछ लोग अपने स्वार्थवश यह प्रकट करते हैं कि उनके धर्म में मांसाहार निषेध नहीं है, किन्तु यह असत्य है।[1]

शरीर और मन की दृष्टि से भी मांसाहार पर आज बहुत विचार

१. विस्तार के लिए देखें गोपीनाथ अग्रवाल, शाकाहार या मांसाहार पृष्ठ २५-२८।

हो चुका है। वैज्ञानिक खोजों से यह प्रमाणित हो चुका है कि मांसाहार शरीर की दृष्टि से अनेक प्रकार से हानिप्रद है। शाकाहार में तंतुमय पदार्थ अधिक होते हैं। उनसे पेट को साफ रखने में मदद मिलती है। शरीर के विषाक्त पदार्थ उनके सहारे से बाहर निकल आते हैं। जब भी आहार में तंतुमय पदार्थों की कमी होती है, बड़ी आंत का कैंसर तथा दूसरी बीमारियां होने की शक्यता है।

मांसाहार हमारे लिए कितना घातक व असाध्य रोगों को निमंत्रण देने वाला है इस पर ठोस निष्कर्ष बड़े बड़े डाक्टरों, वैज्ञानिकों आदि ने निकाले हैं।

स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क, बफैलो में की गई शोध से यह प्रकाश में आया कि अमरीका में ४७००० से भी अधिक बच्चे हर वर्ष ऐसे जन्म लेते है जिन्हें माता-पिता के मांसाहारी होने के कारण कई बीमारियां जन्म से ही लगी होती है और ये बच्चे बड़े होने पर भी पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो पाते।[1]

हृदय-रोग व उच्च रक्तचाप

रक्त-वाहनियों की भीतरी दीवारों पर कोलेस्टेरोल की तहों का जमना इसका मुख्य कारण है। १९८५ के नोबेल पुरस्कार विजेता अमरीकी डा० माइकल एस० ब्राउन व डॉ० जोसेफ एल. गोल्डस्टीन ने यह प्रमाणित किया है कि हृदय-रोग से बचाव के लिए कोलेस्टेरोल नामक तत्त्व को जमने से रोकना अति आवश्यक है, यह तत्त्व वनस्पति में नहीं के बराबर होता है। अण्डों में सबसे अधिक व मांस, अण्डों व जानवरों से प्राप्त वसा में काफी मात्रा में होता है। १०० ग्राम अण्डा प्रतिदिन लेने का अर्थ जरूरत से ढाई गुना अधिक कोलेस्टेरोल लेना है। जो व्यक्ति मांस या अण्डे खाते है उनके शरीर में 'रिस्पटरों' की संख्या में कमी हो जाती है जिससे रक्त के अन्दर कोलेस्टेरोल की मात्रा अधिक हो जाती है। इससे हृदय-रोग, गुर्दे के रोग एवं पथरी जैसी बीमारियों को बढ़ावा मिलता है। इससे आंतो, स्तनों तथा गर्भाशय के रोग होने की संभावना अधिक रहती है।

ब्रिटेन के डा० एम० रॉक ने एक सर्वेक्षण अभियान के बाद यह प्रतिपादित किया कि "शाकाहारियों में संक्रामक और घातक बीमारियां मांसाहारियों की अपेक्षा कम पाई जाती है। वे मांसाहारियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, छरहरे बदन, शांत प्रकृति और चिन्तनशील होते हैं।"

बी. बी. सी. के टेलीविजन विभाग द्वारा शाकाहार पर एक साप्ताहिक कार्यक्रम द्वारा मांसाहारियों को स्पष्ट चेतावनी दी जाती रही है

१. अहिंसा संदेश, जून ८९, रांची

कि इससे आपको घातक बीमारियों का सामना करना पड़ सकता है।

पश्चिमी देशों में जहां मासाहार का प्रचलन अधिक है वहां दिल का दौरा, कैंसर, ब्लड-प्रैशर, मोटापा, गुर्दे के रोग, कब्ज, संक्रामक रोग, पथरी, जिगर की बीमारी आदि घातक बीमारिया अधिक होती हैं जबकि भारत, जापान व दक्षिण अफ्रीका में जहां मासाहार का प्रचलन कुछ कम है, कम होती हैं।[1]

मांसाहार से कैंसर

सभी प्राणियों के शरीर में विषैले पदार्थ तैयार होते है। वे केवल मल-मूत्र द्वारा ही शरीर से बाहर निकल सकते हैं। जब कोई जानवर मारा जाता है और उसके मास मे से ऐसे पदार्थ रह जायें तो उनके बाहर निकलने का कोई रास्ता नही रह जाता। हृदय की क्रिया बद होने के बाद शरीर के सारे अवयव पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाते है। अतः मृत जानवरो के मांस में विषैले पदार्थ भारी मात्रा मे जमा रह जाते है। जो व्यक्ति उसे खाता है, सहज ही वह सारा विषैला तत्त्व उसके शरीर मे पहुच जाता है।

जिन जानवरों को मारा जाता है उन्हें हार्मोन्स, एन्टीबॉडीज और इसी प्रकार की अन्य औषधिया तथा जन्तुनाशक दवाइयां निश्चय रूप से दी जाती है। जो व्यक्ति मांसाहार करता है उसके शरीर में ये जहरीले पदार्थ जमा हो जाते है। गायों आदि जानवरों को मोटा-ताजा बनाने के लिए भी B E. S. नाम की दवाई दी जाती है। इससे उनके मांस को खाने से कैंसर की सभावना बताई गयी है। जिन स्त्रियों को आज से पचीस वर्ष पूर्व B. E. S. की औषधि दी गयी थी उनमे तथा उनकी पुत्रियो तक मे कैंसर का प्रमाण अधिक पाया गया है।

मांसाहारियों में कैंसर का बढ़ना कोई आश्चर्यजनक बात नही है। एक सर्वेक्षण से पता चला है कि मासाहार करने वाले २५ देशो मे से १९ देशों की मृत्यु-संख्या बहुत ऊची है। ५ देशों की मृत्यु-संख्या मध्यम है जबकि केवल एक देश की मृत्यु-दर नीची है।'

उन देशो में जहां लोग शाकाहार करते है वहां कैंसर बहुत कम पाया जाता है। १९७५ में बम्बई में कैंसर के पाने वालों की संख्या दस हजार मे एक थी जबकि इग्लैंड मे ५.५ प्रतिशत थी। ईजिप्त में काले रगवाली शाकाहारी जातियों में कैंसर नही के बराबर है जबकि मांसाहार जाति में अंग्रेजों जितनी ही है। कोप्ट मठ मे जहां लोग चाय कॉफी तथा मांसाहार

१. कल्याण, गोरखपुर, पृष्ठ ५७१ व हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, १.१०.८६ Human onchogene: Work done by Prof. R. A. Weinberg from Massachutts Hospital U.S.A. and others.

नहीं करते हैं, पिछले २७ वर्षों मे कैंसर की एक घटना भी नही हुई ।

अमेरिकन मिनेटरो की समिति ने 'आहार-विषयक अमेरिका का ध्येय' विषय पर अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए यही कहा है—मांसाहार से हृदय-विकार तथा कैंसर की संभावनाओ से इन्कार नही किया जा सकता ।

आस्ट्रेलिया, जहां सर्वाधिक मांस भोजन खाया जाता है और जहां प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष १३० किलो गोमांस (Beaf) की खपत है वहां (Bowel) आंतो का कैंसर सबसे अधिक है। Dr. Andrew Gold ने अपनी पुस्तक 'Diabetes : Its Causes and Treatment' में शाकाहारी भोजन की ही सलाह दी है ।[1]

आतों का अलसर, अपेन्डिसाइटिस आतो और मल द्वार का कैंसर (Ulcreative colitis. Appendicitis. Cartinoma of colon and rectum) ये रोग शाकाहारियों की अपेक्षा मासाहारियों में अधिक पाए जाते है ।[2]

अन्य बीमारियां

मांसाहारी लोगो का पेशाब प्राय तेजाबयुक्त होता है । इस कारण शरीर से रक्त का पेशाब और क्षार का अनुपात ठीक रखने के लिए हड्डियों में से क्षार के नमक खून मे मिलते रहते हैं । इसके विपरीत शाकाहारियों का पेशाब क्षार वाला होता है । इसलिए उनकी हड्डियों का क्षार खून में नहीं आता और हड्डियां मजबूत रहती है । डॉ० ए० वॉचमैन और डॉ० डी० एस० बर्नसीन ने हार्वर्ड मेडिकल स्कूल रिपोर्ट, १९६९, पृ० ४५८ मे लिखा है—

मांसाहार पाचन-संस्थान को खराब करता है, क्योंकि वह मुंह की लार की प्रतिक्रिया को क्षार से अम्ल में परिवर्तित कर देता है । इस प्रकार लार अपने काम में सक्षम नही होती ।

मांसाहार जिन असाध्य रोगों को जन्म देता है, उनमें से कुछ इस प्रकार है[3]—

१. मिर्गी (Epilepsy) इन्फेक्टेड मास से होने की संभावना है ।

२. गुर्दे की बीमारियां (Kidney Diseases)—मांसाहार अधिक प्रोटीनयुक्त होने से गुर्दे खराब करता है ।

३. संधिवात, गठिया आदि (Rheumatoid artheritis, gout etc.)—मांसाहार खून मे यूरिक एसिड की मात्रा बढ़ाता है । इससे ये

---

१. Role of Vegetarian Diet in Health and Disease, Bombay.

२. Medical Basis of Vegetarian Nutrition, New Delhi.

३. Medical Basis of Vegetarian Nutrition, New Delhi; डा० नेमीचन्द जैन, अण्डा जहर ही जहर, इन्दौर ।

बीमारियां हो सकती हैं।

४. एथेरोस्क्लेरोसिस—रक्त-धमनियों का मोटा होना। यह बीमारी मांसाहार में विद्यमान पोलीसेचुरेटेड फेट्स, कोलेस्टेरोल आदि से होती है। इससे विपरीत शाकाहारी भोजन इस बीमारी से बचाता है।

५. आंतो का सडना—अण्डा, मास आदि खाने से पेचिस, मदाग्नि आदि बीमारियां घर कर जाती हैं, आमाशय कमजोर होता है व आंते सड़ जाती है।

६. विषावरोधी शक्ति का क्षय—मास, अण्डा खाने से शरीर की विषावरोधी शक्ति नष्ट होती है और शरीर साधारण-सी बीमारी का भी मुकाबला नही कर पाता, बुद्धि व स्मरण शक्ति कमजोर पडती है। विकास मंद हो जाता है। कुछ अमरीकी व इंग्लैंड के डाक्टरो ने तो अण्डे को मनुष्य के लिए जहर कहा है।

७. त्वचा के रोग, एग्जीमा, मुहांसे आदि—त्वचा की रक्षा के लिए विटामिन A का सर्वाधिक महत्त्व है जो गाजर, टमाटर, हरी सब्जियों आदि में ही बहुतायत मे होता है। यह शाकाहारी पदार्थ जहां त्वचा की रक्षा करते है वहीं मांस, अण्डे, शराब इत्यादि त्वचा-रोगों को बढावा देते हैं। त्वचा मे जलन महसूस होने वाले रोग के अधिकांश रोगी मासाहारी ही पाए गए।

८. अन्य रोगो जैसे माइग्रेन, इन्फैक्शन से होने वाले रोग, स्त्रियो के मासिक धर्म संबंधी रोग आदि भी मांसाहारियों में ही अधिक पाये जाते है।

सारांश मे जहा शाकाहारी भोजन प्रायः प्रत्येक रोग को रोकता है वहीं मांसाहारी भोजन प्रत्येक रोग को बढावा देता है। शाकाहारी भोजन आयु बढ़ाता है तो मासाहारी भोजन आयु घटाता है।

महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य

१. ग्वालियर के दो शोधकर्ताओं डा० जसराज सिंह और श्री सी. के. डवास ने ग्वालियर जेल के ४०० बन्दियों पर शोध कर यह बताया कि २५० मांसाहारी बन्दियो में से ८५% चिड़चिड़े स्वभाव के व झगड़ालू टाइप के निकले जबकि बाकी १५० शाकाहारी बन्दियों मे से ९०% शांत स्वभाव के और खुशमिजाज थे।

२. अमरीकी विशेषज्ञ डा० विलियम, सी० राबर्टस का कहना है कि अमेरिका मे मांसाहारी लोगों में दिल के मरीज ज्यादा हैं। उनके मुकाबले शाकाहारी लोगों में दिल के मरीज कम होते हैं।[1]

१. अहिंसा संदेश, जून ८९, रांची

३. एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार एक कीड़ा जिसे अंग्रेजी में ब्रेन बग (Brain Bug) कहते है। ऐसा होता है जिसके काटने से पशु पागल हो जाता है किन्तु पागलपन का यह रोग पूरी तरह विकसित होने मे १० वर्ष तक का समय लग जाता है। इस बीच यदि कोई इस कीड़े द्वारा काटे हुए पशु का मास खा लेता है तो उस पशु मे पलने वाले यह रोग मांस खाने वाले के शरीर में प्रवेश कर जाता है।[१]

यह तो सर्वविदित ही है कि हत्या से पहले पशु, पक्षी मछलियों आदि के स्वास्थ्य की पूरी जाच नही की जाती और उनके शरीर मे छुपी हुई बीमारियो का पता नहीं लगाया जाता। अण्डे, पशु, पक्षी, मछलियां भी कैंसर ट्यूमर आदि अनेक रोगो से ग्रस्त होते है और उनके मास के सेवन से वे रोग मनुष्य में प्रवेश कर जाते है।

४. अकेले अमरीका मे ४०००० से अधिक केस प्रतिवर्ष ऐसे आते है जो रोग-ग्रस्त अण्डे व मास खाने से होते है।[२]

५. हैल्थ एजूकेशन काउंसिल के अनुसार विषाक्त भोजन (Food Poisoning) से होने वाली ९०% मौतों का कारण मासाहार है।[३]

६. जब पशु बूचड़खाने मे कसाई के द्वारा अपनी मौत को पास आते देखता है तो वह डर, दहशत से काप उठता है। मृत्यु को समीप भापकर वह एक-दो दिन पहले से ही खाना-पीना छोड़ देता है। डर व घबराहट मे उसका कुछ मल बाहर निकल जाता है। मल जब खून मे जाता है तो जहरीला व नुकसानदायक बन जाता है। मास मे रक्त, वीर्य, मूत्र, मल आदि अन्य कितनी ही चीजो का अश होता है। मौत से पूर्व नि.सहाय पशु आत्म-रक्षा के लिये पुरुषार्थ करता है, छटपटाता है। पुरुषार्थ बेकार होने पर उसका डर, आवेश बढ़ जाता है, गुस्से से आंखे लाल हो जाती है मुह मे झाग आ जाते है। ऐसी अवस्था मे उसके अन्दर एक पदार्थ एड्रीनालिन (Adrenalin) उत्पन्न होता है जो उसके रक्त-चाप को बढा देता है व उसके मांस को जहरीला बना देता है। जब मनुष्य वह मांस खाता है तो उसमे भी एड्रीनालिन प्रवेश कर उस घातक रोगो की ओर धकेल देता है। एड्रीनालिन के साथ जब क्लोरिनेटेड हाइड्रोकार्बन लिया जाता है तब तो यह हार्ट-अटैक का गभीरतम खतरा उत्पन्न कर देता है।[४]

१. वही
२. वही
३. Food for a Future, Publised by Akhil Bhartiya Hinsa Nivaran Sangh, Ahmedabad.
४. Hindustan Times, New Delhi, 1.10.86.

७. मछली, अण्डे आदि को (प्रिजर्व करने) ठीक रखने के लिए बोरिक एसिड व विभिन्न बोरेट्स का प्रयोग होता है, ये कम्पाउण्ड Cerebral Tissues में एकत्र होकर गंभीर खतरा उत्पन्न कर देते है।

बूचड़खानों से प्राप्त मांस कितना हानिकारक, दूषित, गंदा व रोग-ग्रस्त होता है इसका अनुमान इससे ही लगा सकते है कि यूरोप के अत्याधुनिक, नवीन उपकरणों व नई टेक्नीक द्वारा संचालित बूचड़खानों को भी स्वास्थ्य की दृष्टि से आदर्श नहीं कहा जाता तब भारत के बूचड़खानों के मांस की तो बात ही क्या।

८. अमरिका के डा० ई० वी० एमारी तथा इंगलैंड के डा० इन्हा ने न अपनी विश्व विख्यात पुस्तकों 'पोषण का नवीनतम ज्ञान' और 'रोगों की प्रकृति' में साफ-साफ माना है कि अण्डा मनुष्य के लिए जहर है।

९. इग्लैण्ड के डा० आर० जे० विलियम का निष्कर्ष है "संभव है अण्डा खाने वाले शुरू में अधिक चुस्ती अनुभव करें किन्तु बाद में उन्हें हृदय रोग, ऐकजीमा, लकवा जैसे भयानक रोगों का शिकार हो जाना पड़ता है।

शाकाहार अधिक पौष्टिक व गुणकारी

शाकाहारी भोजन से उचित मात्रा में प्रोटीन अथवा शक्तिवर्द्धक उचित आहार प्राप्त नहीं होता—यह मात्र भ्रांति है। आधुनिक शोधकर्ताओं व वैज्ञानिकों की खोजों से यह साफ पता लगता है कि शाकाहारी भोजन से न केवल उच्च कोटि के प्रोटीन प्राप्त होते हैं अपितु अन्य आवश्यक पोषक तत्त्व विटामिन, खनिज, कैलोरी आदि भी अधिक प्राप्त होते हैं। सोयाबीन व मूंगफली में मांस व अण्डे से अधिक प्रोटीन होता है। सामान्य दालों में भी प्रोटीन की मात्रा कम नहीं होती। गेहूं, चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का आदि के साथ यदि उचित मात्रा में दालें एवं हरी सब्जियों का सेवन किया जाए तो न केवल प्रोटीन की आवश्यकता पूर्ण होती है अपितु अधिक संतुलित आहार प्राप्त होता है, जो शाकाहारी व्यक्ति को मांसाहारी की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, सबल व दीर्घायु प्रदान करता है।

अनेक शोधकर्ताओं ने यह पता लगाया है कि शाकाहारी अधिक शक्तिशाली, परिश्रमी, अधिक वजन उठा सकने वाले, शांत स्वभाव के व खुशमिजाज होते हैं। जापान में किए गए अध्ययनों से यह पता चला है कि शाकाहारी न केवल स्वस्थ व निरोग रहते हैं अपितु दीर्घजीवी भी होते हैं व उनकी बुद्धि भी अपेक्षाकृत तेज होती है।

अतः यह कहना कि मांसाहार शाकाहार की तुलना में अधिक शक्ति-वर्द्धक है, एक गलत धारणा है। नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ न्यूट्रीशन,

हैदराबाद द्वारा प्रकाशित (Nutritive Value of Indian Foods) में विभिन्न खाद्य-पदार्थों की जो तुलनात्मक तालिका दी गई है। उससे यह स्पष्ट होता है कि शाकाहारी पदार्थों में प्रोटीन व अन्य स्वास्थ्य वर्धक तत्त्वों की कमी नहीं है।

उस तालिका से यह भी पता चलता है कि मांसाहारी पदार्थों में (Fibre) फाइबर (दालों, अनाज आदि का ऊपरी भाग) की मात्रा बिल्कुल नहीं है और यह निश्चित हो चुका है कि फाइबर रोगों को रोकने में अत्यधिक महत्त्व रखता है। हमारे स्वास्थ्य के लिए विटामिन्स भी अत्यावश्यक है। इन विटामिन्स के स्रोत भी शाकाहारी पदार्थ ही हैं।[1]

शाकाहारी भोजन के गुणों को जानकर अब पाश्चात्य देशो मे शाकाहार आंदोलन तेज हो रहा है।[2] ब्रिटेन के दस लाख से अधिक लोग अब पूर्णतः शाकाहारी है और इस संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हो रही है।

आर्थिक दृष्टि

आर्थिक दृष्टि से भी शाकाहार की अपेक्षा मांसाहार ज्यादा महगा होता है। एक बकरा ७ पौंड अनाज खाता है, तब एक पौंड माल तैयार होता है।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अंडो से बहुत कम खर्च मे प्रोटीन व पौष्टिकता प्राप्त होती है लेकिन यह एक मिथ्या प्रचार है। विभिन्न पदार्थों मे प्रोटीन की प्रतिशत की जो तालिका है उसके अनुसार एक ग्राम प्रोटीन की कीमत इस प्रकार आती है।[3]

पदार्थ	१ ग्राम प्रोटीन की कीमत
अंडे से	१४ पैसे
गेहू से	८ पैसे
दालों से	३ पैसे
सोयाबीन से	२ पैसे

यदि ऊर्जा (कैलोरीज) की दृष्टि से देखे तो १०० कैलोरीज पर व्यय इस प्रकार आता है:—

पदार्थ	१०० कैलोरीज पर व्यय
अंडे से	९० पैसे
गेहू से	९ पैसे

१. Medical Basis of Vegetarian Nutrition, published by Kishore Charitable Trust, Delhi.

२. अहिंसा सन्देश, जून ८९, P. Box No. 85, Ranchi

३. डा० नेमीचंद चैन, अंडा जहर ही जहर, इन्दौर।

दालों मे ८ पैसे
सोयाबीन से ५ पैसे

अतः यह स्पष्ट है कि अंडो की अपेक्षा दालों व अनाज से बहुत कम खर्च में प्रोटीन व ऊर्जा प्राप्त होती है, इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण पदार्थ विटामिन्ज, खनिज, फाइवर, कार्बोहाइड्रेट इत्यादि अलग प्राप्त होते है जो मांसाहारी पदार्थों में प्रायः नहीं के बराबर हैं।

आर्थिक दृष्टि से यह भी सारांश निकाला गया है कि मांस द्वारा एक किलोग्राम प्रोटीन प्राप्त करने के लिए पशु को ७ से ८ किलोग्राम तक प्रोटीन खिलाना पड़ता है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि १ पशु-मांस-कैलोरी प्राप्त करने के लिए ७ वनस्पति-कैलोरी खर्च होती है। अमेरिका के कृषि विभाग ने जो आंकड़े बनाए हैं उससे पता लगता है कि जितनी भूमि एक औसत पशु को चराने के लिए चाहिए उतनी से औसत दर्जे के पांच परिवारो का काम चल सकता है।

एक औसत अमरीकी करीब १२० किलो मांस प्रतिवर्ष खाता है; इसे प्राप्त करने के लिए करीब एक टन अनाज खर्च होता है। यदि वह सीधा १२० किलो अनाज खाए तो वर्ष भर आठ व्यक्तियों का कार्य चल सकता है। प्रोफेसर जार्ज बोर्गस्टौर्म के अनुमान के अनुसार केवल अमेरिका में पशु-जगत् जितनी वनस्पति-फूड खर्च करता है, उतनी में विश्व की आधी आबादी पेट भर सकती है।

गाय, बैल आदि पशुओं के गोबर से खाद, गैस ऊर्जा आदि की जो अतिरिक्त प्राप्ति होती है उन सबका यदि हिसाब लगाया जाए तो यह प्रकट होता है कि ऐसे पशुओ का वधकर हम उतना ही लाभ प्राप्त करते हैं जितना कोई चाय बनाने के लिए नोट जलाकर लाभ प्राप्त करे। नित्य एक सोने का अंडा देने वाली मुर्गी का पेट काटना समझदारी कभी नहीं है।

बौम्बे ह्यूमैनिटेरियन लीग के आनरेरी सैक्रेटरी दशरथ भाई ठक्कर के अनुसार पशु-जगत् हमारी राष्ट्रीय सम्पदा मे प्रतिवर्ष २५,५०० करोड़ रुपये दूध, खाद, ऊर्जा व भार उठाने की सेवा से अपना पसीना बहाकर हमारे राष्ट्र को देते है, इसके अतिरिक्त इनके मरने के उपरांत, इनका चमड़ा व हड्डियां अलग उपयोग में आती हैं। हमे तो इन पशुओं का कृतज्ञ होना चाहिए जो हमें इतनी सम्पदा देते हैं व हमारी सेवा करते हैं। यदि हम इनके उपकार का बदला इन्हें बूचडखाने भेज कर चुकाएं तो यह हमारी कृतघ्नता ही है।

१. Human Onchogene : Work done by prof. R.A. Weinberg from Massachutts Hospital, U.S.A. and others.

पशुओं का वध रोकने से उपर्युक्त प्रत्यक्ष लाभ के अतिरिक्त जो अप्रत्यक्ष लाभ हैं वे भी कम नहीं हैं। सस्ती खाद मिलने पर अनाज सस्ता होने से गरीब को भी भरपेट भोजन मिलेगा, जिससे कुपोषण से होने वाले रोग घटेंगे व उनकी दवाइयों पर होने वाला खर्च बचेगा। अनाज सस्ता होने से महंगाई सूचकांक गिरेगा, महंगाई भत्तों की बचत होगी। मजदूर आंदोलन, हड़तालें आदि कम होंगी जिससे उत्पादन बढ़ेगा व कीमतें कम होंगी। उत्पादन बढ़ने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और राष्ट्र को विदेशी कर्जों के लिए हाथ नहीं फैलाना पड़ेगा।

अतः पशु-वध रोकना केवल एक धार्मिक, नैतिक या दया की बात ही नहीं है बल्कि राष्ट्र की आर्थिक उन्नति व स्वास्थ्य-रक्षा की परम आवश्यकता भी है।

पर्यावरण

अपनी सुरक्षा व प्रसन्नता चाहने वाले को दूसरों की सुरक्षा व खुशी प्रदान करना सीखना चाहिए अन्यथा प्रकृति का दण्ड देने का अपना अलग ही नियम है। जिस प्रकार जंगल नष्ट होने से पर्यावरण संतुलन बिगड़ रहा है और हम वन-रक्षा व पेड़ लगाओ आंदोलन पर अपनी पूरी शक्ति लगा रहे हैं, उसी प्रकार हमें अपने अस्तित्व व पर्यावरण व पारिस्थितिक (Environment & Ecological) संतुलन को कायम रखने के लिए एक दिन पशु-पक्षी बचाओ आंदोलन करना पड़ेगा। इस कार्य में जितनी देर होगी उतनी ही अधिक हानि होगी।

(III) तम्बाकू-वर्जन

व्यसनों की विनाशलीला

हमारा शरीर जीवन-विकास में सहायक होने वाली एक मशीन है। उसका दुरुपयोग न करना तथा उसे स्वस्थ बनाए रखना ही समझदारी है। यह एक सामान्य विवेक की बात है, किन्तु आज का मनुष्य इस ओर विशेष ध्यान नहीं देता। वह निरन्तर मृत्यु से डरता तो है, पर प्रत्येक संभाव्य रीति से वह वह अपने आपको त्वरता के साथ मृत्यु के नजदीक ले जा रहा है। अज्ञान, निष्क्रियता, तनाव तथा खतरनाक बुरी आदतों के द्वारा हजारों तरीकों से मनुष्य अपने शरीर का दुरुपयोग करता है। ये तरीके हमने अपनी जीवन-पद्धति में अपना रखे हैं। उदाहरणतः आज मद्यपान और धूम्रपान मनुष्य-सभ्यता के अंग बन चुके हैं।

धूम्रपान

प्रत्येक सिगरेट के डिब्बे पर तथा विज्ञापन में यह कानूनी चेतावनी दी जाती है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। धूम्रपान से

अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते है । जैसे—वातस्फीती (एम्फीजीमा) हृदय-रोग, चिरकालिक खासी आदि । इन दिनों में जनता के ध्यान को आकर्षित करने वाला धूम्रपान का सबसे बड़ा दुष्परिणाम है— फेफड़ों का कैंसर । यह एक असाध्य और बहुधा घातक बीमारी है । यह बीमारी नहीं पीने वालों की अपेक्षा पीने वालों मे २० गुणा अधिक व्याप्त है । कैंसर की बीमारी विषाक्त कोशिकाए वृद्धिगत होती हुई स्वस्थ कोशिकाओं को नष्ट कर देती है और अन्ततोगत्वा उतकों को भी । एम्फीजीमा (वातस्फीति) की बीमारी में श्वास-प्रकोष्ठों (अल्वीओली) का रोगात्मक विस्तार होता है । बहुत सारी श्वसनिकाएं एक साथ अवरुद्ध हो जाती हैं । श्वास-प्रकोष्ठो की दीवारे पतली होकर क्षीण हो जाती है । जिससे श्वसन-तंत्र की समग्र उपयोगी सतह के क्षेत्रफल मे भारी गिरावट आ जाती है । सारी परिस्थितियां अपुनरावर्तनीय है । अन्ततोगत्वा ऑक्सीजन की कमी तथा कार्बन-डाइआक्साइड की वृद्धि निरन्तर बनी रहती है, जिससे मृत्यु तक हो सकती है ।

अब धूम्रपान न केवल फेफड़ों के कैंसर का प्रमुख कारण माना जाता है अपितु स्वरयंत्र, मुख-गुहा तथा अन्न-नली के कैंसर का भी प्रमुख कारण माना जाता है । तथा साथ ही मूत्राशय, अग्न्याशय (क्लोमग्रंथि) और गुर्दे के कैंसर में भी सहयोगी कारण बनता है ।[1] सिगरेट का धुआं श्वास-नलिका के अस्तर मे रहे हुए सूक्ष्म बालों (रोमों) को आघात पहुंचा कर संवेदन-शून्य कर देता है । जिससे वे धूलिकण-युक्त श्लेष्म को ऊपर धकेलने मे अक्षम हो जाते है तथा उसे स्वरयंत्र द्वारा बाहर निकालने की क्रिया बंद हो जाती है । यदि धूम्रपान की आदत वाले व्यक्ति धूम्रपान छोड़ दे तो कुछ महिनो में ये बाल साफ-सूफी के कार्य के लिए पुनः सक्रिय बन सकते हैं ।

---

१. आधारः टाइम पत्रिका, मार्च १९८५, इसी पत्रिका मे अमेरिका के सर्जन-जनरल सी० एवरेट कूप की इसी विषय की एक रिपोर्ट भी प्रकाशित है । इस रिपोर्ट में वे कहते हैं—हमारे युग की सार्वजनिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या धूम्रपान की है । उसकी रोकथाम भी की जा सकती है, फिर भी हमारे समाज में मृत्यु का सबसे प्रमुख कारण धूम्रपान है ।

इस रिपोर्ट मे आगे धूम्रपान न करने वालो को भी एक चेतावनी दी गई है कि उनको सिगरेट के धुएं से भरे कमरो मे जाने से बचना चाहिए । क्योंकि कैंसरोत्पादक तत्त्व धूम्रपान करने वाले व्यक्ति के द्वारा कस लेने में जितनी मात्रा में भीतर जाते है उसकी अपेक्षा सुलगती सिगरेट से निकलते धुएं में अधिक मात्रा मे विद्यमान होते हैं ।

नशीले पदार्थों का सेवन

तनाव-मुक्ति, उत्तेजना या सुखाभास की तीव्रानुभूति (या मस्ती) के लिए नाना प्रकार के नशीले पदार्थों का नित्य सेवन करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। दुर्भाग्य की बात है कि अब तक जितने नशीले औषध आविष्कृत हुए हैं, वे किसी-न-किसी रूप में खतरनाक सिद्ध हुए हैं। अधिकांश ऐसे पदार्थों से व्यक्ति उनका व्यसनी बन जाता है, यानी कुछ दिनों के सेवन के बाद उनके शरीर का चयापचय-क्रम परिवर्तित हो जाता है और व्यसनी को उन पदार्थों के निरन्तर सेवन पर आश्रित होना पड़ता है। यदि उनका उपयोग अचानक बन्द कर दिया जाय, तो व्यसनी को काफी पीड़ा सहन करनी पड़ती है और कभी-कभी तो मृत्यु भी हो सकती है। यह पराश्रितता शारीरिक न भी हो, पर मानसिक रूप में अवश्य हो जाती है, जो नशीले पदार्थ को 'वैशाखी' का रूप देकर मनुष्य को पंगु बना देती है। बहुत सारे नशीले पदार्थ यकृत और मस्तिष्क जैसे प्राणाधार अवयवों को भारी क्षति पहुंचाते हैं।

अफीम और मार्फिया जैसे स्वापक पदार्थ केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान के शामक होने के कारण पीड़ा आदि में राहत पहुंचाते हैं या चिंता की अनुभूति से व्यक्ति को मुक्त करते हैं। इससे सुखाभास या भ्रम भी पैदा होता है किन्तु ये तीव्र दुर्व्यसन हैं और सदियों से गम्भीर स्वास्थ्य-समस्याओं के उत्पादक रहे हैं। इन व्यसनों के शिकार व्यक्ति अपने लत पूरी करने के लिए अपराध करने उतारू हो जाते हैं।

उत्तेजक पदार्थ

चाय, काफी, कोको आदि अन्य पेय पदार्थों में विद्यमान केफीन और सिगरेट आदि तम्बाकू वाले पदार्थों में विद्यमान निकोटीन सामान्यतः प्रयुक्त उत्तेजक पदार्थ हैं। इन दोनों में (केफीन और निकोटीन में) केन्द्रीय नाड़ी तंत्र को उत्तेजित करने की अद्भुत क्षमता है। किन्तु दूसरी ओर ये ही तत्त्व हृदय-रोग को बढ़ाने में सहयोगी बनते हैं। अधिक मात्रा में केफीन का सेवन चिड़चिड़ापन तथा अनिद्रा की बीमारी को पैदा करता है। निकोटीन की अतिमात्रा फुप्फुस से सम्बन्धित कैंसर आदि अनेक रोगों को जन्म देने के लिए कुख्यात है। शारीरिक दृष्टि से इनका व्यसन-स्वभाव विवादास्पद हो सकता है, किन्तु मानसिक दृष्टि से इनकी परावलम्बिता असंदिग्ध है।

भांग, गांजा, सुल्फा, एल. एस. डी. आदि जिन्हें "साईकेडेलिक औषध" कहते हैं, शरीर में से प्राकृतिक रूप में श्रावित "नोरएपिनेफीन" नामक उत्तेजक हार्मोन के साथ में वृद्धि करके अपना प्रभाव डालते हैं। इनके सेवन करने वालों में कभी-कभी उत्तेजना इतनी अधिक हो जाती है कि व्यक्ति

नींद नहीं ले सकता । सुखाभास जैसी स्थिति और गहरी निराशा की स्थिति एक के बाद एक होती रहती है । इन पदार्थों का दीर्घकालीन सेवन व्यक्ति को भ्रम या भ्रांति या उग्र व्यवहार तक पहुचाता है । एल. एस. डी. का अणु रासायनिक दृष्टि से सेरोटोनीन नामक तन्त्रिका-संचारी (न्यूरो-ट्रान्स-मीटर) के साथ अदभुत सादृश्य रखता है, जिससे वह मस्तिष्कीय कोशिकाओं के कार्य कलापों में विक्षेप पैदा करता है । इससे पैदा होनेवाले भ्रम अति आह्लादक या अति भयानक स्वप्न जैसे होता है । जब व्यक्ति नशे की स्थिति में होता है, तब उनकी विवेकशक्ति विकृत हो जाती है जो उसके स्वयं के लिए तथा अन्य लोगों के लिए भी हानिकारक सिद्ध हो सकती है । अमेरिका की "नेशनल एकेडमी ऑफ साइन्स" के "इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडिसिन" नामक संस्थान में गांजा के प्रभाव पर अपनी विस्तृत रिपोर्ट (लगभग १०० पृष्ठों की) के निष्कर्ष में बताया है —"गांजे में विद्यमान मुख्य सक्रिय तत्त्व (डेल्टा टेट्राहाइड्रोकेनाबीनोल) (टी एच.सी.) शराब की तरह क्रियावाही तंतुओं के पारस्परिक तालमेल को छिन्न-भिन्न कर डालता है ।"

इसमे गतिमान पदार्थों के हिलने-डुलने को समझने की क्षमता भी प्रभावित होती है । ऐसा व्यक्ति प्रकाश की चमक को पकड़ने में असफल हो जाता है । चूकि ये सारी क्रियाओ में पैदा होने वाली गड़बडी का अर्थ होता है भारी खतरा मोल लेना । इन पदार्थों का सेवन स्वल्पकालीन स्मृति को क्षीण करता है, अवबोध-शक्ति को मन्द तथा निर्णायक शक्ति में विपर्यय करता है, व्यक्ति के मस्तिष्क में आतक और किंकर्तव्यमूढता की प्रतिक्रियाएं पैदा करता है ।

इन पदार्थों का अतिमात्रा में सेवन करने से श्वसन-पथ का कैंसर होने और फुफ्फुसों को गभीर रूप मे क्षति पहुचने की सभावना बनी रहती है ।

जर्दा-धूम्रपान : बीसवीं सदी का निर्मम हत्यारा

संसार मे समय-समय पर विभिन्न कारण मानव विनाश के लिए उत्तरदायी रहे हैं । इस शताब्दी के शुरु के दशकों में महामारियां, जैसे चेचक प्लेग, टीबी, मलेरिया और निमोनिया सबसे अधिक अकाल मौतो का कारण बनी । दूसरे एवं पांचवे दशक में मृत्यु के सबसे बड़े कारण विश्व-युद्ध रहे । छठे दशक से अब तक असामयिक मृत्यु का सबसे बडा जो कारण रहा है वह है जर्दा धूम्रपान । पिछले चार दशकों से ससार में तम्बाकू पीने व खाने से हुयी बीमारियां मानव को मृत्यु मुख में ले जाने में प्रमुख रही हैं । अकाल मृत्यु के सबसे बड़े कारण जर्दा-धूम्रपान को यमदूत की संज्ञा दी जा सकती है । निम्न आंकड़े इस कथन की पुष्टि करते हैं :

१ प्रथम विश्व-युद्ध के चार सालों में जितने लोगों की मृत्यु हुई, उतने

लोग तो तम्बाकू से उत्पन्न बीमारियों से सिर्फ १.५ वर्ष में काल-कवलित हो जाते है ।

२. भयंकर बीमारी एड्स से पिछले एक दशक मे संसार में जितने लोगों की मृत्यु हुई, उतने लोग तो तम्बाकू से हुई बीमारियों से सिर्फ एक माह में मर जाते हैं ।

३. जर्दा-धूम्रपान से भारत में रोजाना ३,००० लोग मरते हैं अर्थात् सड़क-दुर्घटनाओं मे २० गुना व हत्याओं मे २१ गुना अधिक लोग रोजाना जर्दा-धूम्रपान से जनित हुई बीमारियों मे मरते है । देश के समाचार-पत्रो में हत्याओं व दुर्घटनाओं से हुई मृत्यु के त्रासद समाचार मुखपृष्ठ पर छपते हैं, किन्तु मानव-मृत्यु के इनसे कही बड़े कारण सिगरेट या बीड़ी से हुई मृत्यु का उल्लेख भी नही होता । आलोचना तो दूर समाचार-पत्रों मे तो जर्दा बीड़ी और सिगरेट के प्रचार-प्रसार के लिए लुभावने विज्ञापन छपते है ।

४. कई प्रकार के कैंसर पैदा करने वाले तत्त्व जो कारसीनोजन कहलाते हैं, सीगरेट या बीडी के धुए मे होते है । मुंह, गले व फेफड़े के कैंसर के हर दस रोगियो मे से ९ व्यक्ति वे होते है जो जर्दा-धूम्रपान के आदी होते है । मूत्राशय, गुर्दे, पेन्क्रीयाज पेट व गर्भाशय कैंसर भी धूम्रपान करने वालो के अधिक होते है । मुह, गले व भोजन नली का कैंसर आमंत्रित करने मे शराब धूम्रपान का सहयोग करती है ।

५. जर्दा-धूम्रपान लेने वालो मे हृदय-रोग की सम्भावना १५ गुना अधिक होती है ।

६. क्रॉनिक ब्रॉकाइटिस व एम्फाइजीमा जैसे खतरनाक रोगों के भी दस में से नौ रोगी धूम्रपान करने वाले व्यक्ति होते है ।

७. भारत में धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों मे से ३०% लोग क्रॉनिक ब्रॉकाइटिस नामक श्वास रोग से पीडित होते है ।

८. जर्दा-धूम्रपान लेने वालों में ब्रेन हेमरेज और लकवे की बीमारी जर्दा-धूम्रपान न लेने वालों से कही अधिक होती है ।

९. जर्दा-धूम्रपान के साथ डायबिटीज की सम्भावना बढ जाती है ।

१०. धूम्रपान से रीढ की हड्डी के विकार पैदा हो जाते हैं ।

११. जर्दा-धूम्रपान करने वाले के चेहरे पर झुर्रियां, उसके द्वारा किये जाने वाले जर्दा-धूम्रपान की मात्रा के अनुपात मे बढती है ।

१२. यदि कोई व्यक्ति ४० सिगरेट पीता है, तब उसके बगल मे बैठा ऐसा व्यक्ति सिगरेट नही पीता, ३ सिगरेट के बराबर धुआं शरीर में ग्रहण करता है ।

१३. चिन्ताओं से घिरे लोगों के लिए जर्दा-धूम्रपान अधिक खतरनाक हृदयाघात (हार्ट अटैक) की संभावना बहुत ज्यादा होती है ।

१४. जर्दा-धूम्रपान से उच्च रक्तचाप जैसी घातक बीमारी हो जाती है ।

१५. लगातार जर्दा-धूम्रपान करने से व्यक्ति को खाना कम स्वादिष्ट लगता है ।

१६. गर्भावस्था में बीड़ी या तम्बाकू के सेवन या सिगरेट पीने से गर्भ के बच्चे पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । यदि गर्भ का बच्चा लड़का है तब उस कुप्रभाव की आशंका अधिक होती है ।

१७. बीड़ी एवं सिगरेट के धुए में ५% घातक गैस कार्बन मोनोआक्साइड होती है, जो कि खून के आवश्यक तत्त्व हीमोग्लोबिन से मिलकर कार्बोक्सी-हीमोग्लोबिन नामक विषैला पदार्थ बनाती है । इससे प्रतिरोधात्मक शक्ति कम होती है तथा शरीर मे पोलीसाइथेमिया की बीमारी हो जाती हैं और नर्वस सिस्टम की कार्य-क्षमता मे विकार आ जाता है । धूम्रपान करने वाले व्यक्ति की शारीरिक क्षमता में भी कमी आती है और थोड़ा परिश्रम करने के पश्चात् ही ऐसे लोगों को थकान आने लगती है ।

१८. एक सिगरेट पीने से धूम्रपान करने वाले व्यक्ति का जीवन पांच मिनट कम हो जाता है, अर्थात् कोई व्यक्ति यदि १२ सिगरेट रोजाना पीता है, तब उसकी उम्र एक घंटा प्रतिदिन घटती जाती है ।

१९. एक पैकेट सिगरेट पीने वाला व्यक्ति यदि सिगरेट के बजाय इस धन को लगातार २५ वर्ष तक बैंक में संचित करता रहे तो इस अवधि के उपरान्त ३.५ लाख रुपये बैंक मे जमा होंगे । जबकि २५ वर्ष तक धूम्रपान करते रहने के पश्चात् शरीर को स्वस्थ रखने हेतु ५००-१००० रुपये प्रति माह चिकित्सा पर खर्च करने पड़ते है ।

जर्दा-धूम्रपान : आत्म-हत्या का तरीका

जर्दा-धूम्रपान का सेवन करने वाले अधिकतर व्यक्ति तम्बाकू के घातक कुप्रभावों से प्रायः अनभिज्ञ होते है, लेकिन बहुत से व्यक्ति इसकी बुराइयो को जान लेने के बावजूद जर्दा-धूम्रपान का सेवन करना जारी रखते हैं और कालांतर मे इसकी वजह से उत्पन्न बीमारियो की वजह से काल-कवलित होते हैं । इस श्रेणी के व्यक्तियों की मृत्यु को तो "आत्म-हत्या" कहना ही अधिक उपयुक्त होगा । आत्म-हत्या के अन्य कारणो से यह सिर्फ इसलिए भिन्न हैं कि अन्य तरीके जैसे आत्म-दाह, फांसी लगाना, या जहर खाने से तत्काल मृत्यु होती है, जबकि तम्बाकू से जनित बीमारियो से व्यक्ति धीरे-धीरे, घुट-घुट कर मरता है । अतः जर्दा-धूम्रपान से होने वाली मृत्यु

वस्तुतः आत्महत्या का सबसे प्रचलित तरीका है। हर चार धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों में से एक (२५%) की मृत्यु जर्दा-धूम्रपान से जनित बीमारियों से होती है।

हत्या का प्रचलित तरीका धूम्रपान

अनुमानतः भारत मे प्रतिदिन २०० लोगों की मृत्यु धूम्रपान करने वाले दोस्तो या स्वजनो के सान्निध्य मे रहने की वजह से उनके द्वारा छोड़े गए धुए से हुई बीमारियो से होती है। एक प्रकार से इन्हें धूम्रपान करने वाले स्वजनों द्वारा की गई हत्याएं ही कहा जाना चाहिए। धूम्रपान करने वाले दोस्तों या परिवारजनों के सान्निध्य मे रहने वाले स्वस्थ व्यक्तियो के फेफड़े की क्षमता २०-२५% तक घट जाती है और यदि फेफड़े पहले से हो कमजोर है तो बीमारी अधिक घातक होती है। सिगरेट का साइड स्ट्रीम धुआ तथा धूम्रपान के दौरान मुह से निकला धुआ दोनो मे ही टार की मात्रा इतनी होती है, जो कि अगल-बगल बैठे व्यक्तियों मे कैंसर पैदा कर सकती है। इसी प्रकार धूम्रपान करने वाले व्यक्ति के सान्निध्य में रहने से हृदय-रोग की संभावना बढ जाती है। अतः सिर्फ यही जरूरी नहीं कि आप स्वय धूम्रपान न करे, बल्कि निकट रहने वाले व्यक्ति का धूम्रपान न करना भी उतना ही आवश्यक है।

आत्म-निरीक्षण

पिछले चालीस वर्षों मे ससार मे मौत का ताण्डव करने वाली ऐसी क्या चीज है धूम्रपान मे ?

लगभग ४,००० प्रकार के तत्त्व सिगरेट के धुए मे पाए गए है जिनमे से निकोटीन नामक तत्त्व नितात खतरनाक होता है। इसके घातक प्रभाव के कारण इसे बहुत सी कीटनाशक दवाओ मे भी काम मे लिया जाता है। लगातार सेवन करने पर यह हृदय तथा अन्य अगों पर कुप्रभाव डालता है। समय के साथ यह हृदय की धमनियों मे मोम जैसा जमाव पैदा कर देता है, जिससे धीरे-धीरे ये धमनिया बन्द होती जाती है। परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्तियो को हृदय-रोग हो जाता है। पेट मे अल्सर भी हो सकता है।

धूम्रपान एक प्रकार से अपने ही शरीर के अगो से की गई क्रूर हिंसा के समान है। फेफड़े के ऊतक बीडी-सिगरेट के धुए मे घुट कर नष्ट हो जाते हैं। जो बचते हैं उन पर घाव हो जाते है और कालिख जमती जाती है। जिस प्रकार लकड़ी जलाने वाले चूल्हे की रसोई मे २०-२५ साल मे कालिख की मोटी परत जम जाती है, उसी प्रकार फेफड़ों में भी सिगरेट-बीड़ी के धुंए से कालिख जम जाती है जो वातावरण से ली गयी ऑक्सीजन के फेफड़ों

द्वारा शरीर में प्रवेश के छिद्र बन्द कर देती है तथा फेफड़ो मे नाजुक उत्तक जल कर नष्ट हो जाते है। इस अवस्था में रोगी को श्वास लेने मे कठिनाई होने लगती है।

धूम्रपान क्यों और कैसे छोड़ें ?

किसी भी समय जर्दा-धूम्रपान छोड़ने से निम्न लाभ होंगे :

- हृदय-रोग की सभावना कम होगी।
- श्वास-रोग कम होगा तथा इसमे फायदा होगा।
- निमोनिया, टी बी. व अल्सर जैसे खतरनाक रोगों की सभावना कम होगी।
- आपके बच्चों को आप के द्वारा धूम्रपान करने से होने वाली बीमारियां नही होगी।
- कैंसर की संभावना घट जाएगी।
- यौन-क्षमता में काफी वृद्धि होगी।

इच्छा शक्ति जर्दा-धूम्रपान छोड़ने मे सबसे आवश्यक है और बिना पक्के इरादे के जर्दा-धूम्रपान छोडने की कल्पना भी नही की जा सकती। लेकिन इच्छा-शक्ति विकसित करने में जर्दा-धूम्रपान के घातक प्रभावों की सही जानकारी की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। एक चिकित्सक बीमारी के समय रोगी को इस प्रकार की जानकारी देकर रोगी का मानस जर्दा-धूम्रपान के कुप्रभावों की ओर आकर्षित कर सकता है।

लोग जर्दा-धूम्रपान क्यों शुरू करते हैं ?

धूम्रपान की शुरूआत अक्सर बचपन मे होती है। कच्ची उम्र में इसके अधिकतर नोसिखिए परिणामों के बारे में अनभिज्ञ रहते हैं। प्रायः इसकी शुरूआत निम्न प्रकार से होती है :

- उत्सुकता, जिज्ञासा एव प्रयोग करने की लालसा।
- दोस्तों को प्रभावित करने के लिए।
- घर के बुजुर्गों द्वारा छोड़ी सिगरेट या बीडी को उठा कर कश खींचने की उत्सुकता से।
- दोस्तों के साथ काम करने के बाद आराम करते समय।
- दांत में दर्द, बलगम की रुकावट, पेट में गैस व कब्ज जैसी बीमारी में आराम के लिए कुछ लोग जर्दा-धूम्रपान की शुरूआत करते हैं।
- अक्सर ग्रामीण क्षेत्रों में मेहमान को हुक्का या बीड़ी पिलाना सामान्य शिष्टाचार माना जाता है। काफी लोग इस सामाजिक चलन मे धूम्रपान शुरू करते है।

धूम्रपान कैसे भी शुरू हो, कुछ महीनों या सालों मे लत या नशे मे

परिवर्तित हो जाता है ।

लोग जर्दा-धूम्रपान जारी क्यों रखते हैं ?

मुख्यतया लोग निम्नलिखित कारणों से धूम्रपान जारी रखते है :

एक आदत

शौकिया शुरू किया गया जर्दा-धूम्रपान धीरे-धीरे आदत बन जाता है, तथा दिनचर्या के किसी कार्य से जुड़ जाता है । शौच करते वक्त, भोजन करने के बाद, काफी मेहनत करने के बाद, कुछ समय के लिए विश्राम करते समय आदि । ये कुछ उदाहरण हैं जिनमे जर्दा-धूम्रपान का एक आदत की तरह दिनचर्या मे समावेश होता है । यदि आदत को शुरू मे नही रोका जाए तो यह लत बन जाती है ।

एक रिवाज

पुराने समय से ही धूम्रपान समाज मे एक महत्त्वपूर्ण रिवाज रहा है । आज भी कई घरो मे मेहमान-नवाजी के लिए बीडी-सिगरेट, हुक्का या चिलम पेश की जाती है । यहा तक कि समाज मे किसी का हुक्का-पानी बन्द करने का मुहावरा उसके बहिष्कार के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

अहम् के लिए

पान की दुकान पर खड़े होकर अदा से कश लेना, निचला होठ आगे करके धुए के छल्ले निकालना, मुह मे सिगरेट दबा कर स्कूटर चलाना, मुह मे सिगरेट रख बेफिक्री, लापरवाही, मनमौजीपन या धाकड़ व्यक्तित्व दिखाना, आदि ऐसी गतिविधिया है जो कि अहम् की तुष्टि करती है ।

एक नशा

लगातार धूम्रपान करने से नशा हो जाता है तथा जब कभी धूम्रपान न किया जाए तो बहुत से शारीरिक कष्ट प्रकट होने लगते है । ऐसी स्थिति मे धूम्रपान या तो सकरात्मक भाव जैसे जोश, आनन्द या सुस्ताने के लिए या नकारात्मक भाव जैसे चिन्ता, हड़बडी बेचैनी को कम करने के लिए किया जाता है ।

मनुहार

कई लोग मनुहार के कच्चे होते है । स्वय बीड़ी-सिगरेट छोड देते हैं, किन्तु किसी ने मनुहार की नही कि फौरन फिर शुरू कर जाते हैं ।

चाहने पर भी लोग जर्दा-धूम्रपान क्यों नहीं छोड़ पाते ?

आदत एवं नशे के वशीभूत हो चाहने पर भी लोग जर्दा-धूम्रपान

नही छोड़ पाते एव इस लत के दुष्परिणामों की ओर आख मूंद लेते हैं। धूम्रपान के साथ प्रविष्ट होने वाले धुए से जो नुकसान शरीर मे होता है, यदि आखो से उसे देखना सभव होता तो धूम्रपान कोई नहीं करता। लेकिन विडम्बना यह है कि जब इस नुकसान से होने वाले लक्षण उभरने लगते हैं तब तक शरीर मे बीमारी जड़ें जमा कर असाध्य होने लगती हैं।

क्या कोई ऐसी चीज है जो जर्दा-धूम्रपान छुड़ा सके ?

पक्का इरादा ही जर्दा-धूम्रपान छुड़ा सकता है, अन्य कोई चीज या जादू ऐसा नही है जो यह काम कर सके। कुछ लोग धूम्रपान छोड़ जर्दा या तम्बाकू खाना शुरू करते है। लेकिन कुछ लोग धूम्रपान बन्द कर लगातार जर्दा खाने लगते हैं। इससे कोई विशेष लाभ नही होता, क्योंकि हृदय व पेट की बीमारियां जर्दे के कारण भी उतनी ही होती है।

जर्दा-धूम्रपान कैसे छोड़ा जाए ?

प्रथम चरण :

छोड़ने से पहले निम्न प्रश्नों का उत्तर सोच कर लिखिए—

(अ) मैने जर्दा-धूम्रपान क्यों शुरू किया ?

(ब) मै जर्दा-धूम्रपान क्यो करता हू।

(स) मै जर्दा-धूम्रपान क्यों छोड़ना चाहता हू ?

अधिकतर ऐसा देखा गया है कि अ और ब का उत्तर एक नही होता है। यदि ऐसा है तो कही आप जर्दा-धूम्रपान का सेवन मजबूरी में तो नहीं कर रहे है ?

द्वितीय चरण :

जहां तक हो सके अपने साथ जर्दा-धूम्रपान लेने वाले दोस्त या सहकर्मी को भी जर्दा-धूम्रपान छोड़ने के लिए प्रेरित करें और साथ-साथ तम्बाकू-त्याग का निश्चय करे। दो दोस्त यदि एक साथ तम्बाकू से छुटकारा पाने को चेष्टा करे, तो ज्यादा पक्के इरादे से जर्दा-धूम्रपान छोड़ सकते हैं, और इन्हे त्यागने से शुरू में होने वाली व्याकुलता का अधिक दृढ़ता से सामना कर सकते हैं।

(परिवार-जनों को चाहिए कि जर्दा-धूम्रपान बन्द करने वाले व्यक्ति को प्रोत्साहित करें, उसका मनोबल बढाएं)।

तृतीय चरण

- जर्दा-धूम्रपान एकदम छोड़ने का सकल्प करे, कम करने का नही। जर्दा-धूम्रपान कम करने से कोई खास लाभ नहीं होगा, बल्कि यह आपके तम्बाकू बन्द करने के इरादे को कमजोर करेगा।

• जर्दा-धूम्रपान छोड़ने का किसी निश्चित दिन का संकल्प करें।

त्यौहार का दिन, बच्चे का जन्म-दिन या किसी दिन देवालय मे जाकर जर्दा-धूम्रपान छोड़ने की प्रतिज्ञा करे। इस प्रकार तम्बाकू अधिक दृढ़ निश्चय के साथ छोड़ी जा सकती है, क्योकि इनसे जुड़ा भावनात्मक लगाव आपको प्रतिज्ञा-पूर्ति मे मदद करता है।

चतुर्थ चरण :

आत्म-विश्वास रखिए कि आप प्रतिज्ञा पूरी करेंगे।

जर्दा-धूम्रपान को तिलाजलि देने के बाद रोजाना लिखिए कि क्या फायदे आप महसूस करते है, जैसे :

- मुह से बदबू नही आना।
- बलगम कम आना।
- खांसी में कमी।
- दो महीने में दो-तीन किलो वजन बढ़ना (यानी बीडी, सिगरेट आपका शरीर इतना जलाती थी।)

यदि पूरी कोशिश के बावजूद जर्दा-धूम्रपान न छोड़ पाए तो इस प्रकार के तरीके अपनाए जिनमे इनकी मात्रा कम हो, जैसे दाये हाथ से बीड़ी सिगरेट पीने की बजाय बाए हाथ से पीना, बीडी या सिगरेट को पॉलीथीन के बैग मे रबर बैड से बाध कर रखना, एक ही ब्राड की सिगरेट पीना, खुद खरीद कर न पीना, घर पर नही पीना, आदि।

जर्दा-धूम्रपान छोड़ने से होने वाली व्याकुलता या धूम्रपान तलब का क्या समाधान है ?

- इसे नकारिए तथा जर्दा-धूम्रपान छोडने से होने वाले फायदो की बात सोचिए।
- सोचिए कि धूम्रपान से आपको ही नही बल्कि बीबी, बच्चो को भी कितना खतरा है।
- स्वयं को याद दिलाइये कि यह आप के आत्म-विश्वास की परीक्षा का समय है।
- अपने को अधिक से अधिक व्यस्त रखिए।
- मुह में इलायची या सौंफ रखिए।
- लम्बे, गहरे श्वांस अन्दर-बाहर लेकर एकाग्रता से मन ही मन दोहराइए, "मैं कभी तम्बाकू सेवन नही करूंगा, जर्दा-धूम्रपान नहीं लूंगा।" इससे मनोबल को दृढता मिलती है। **प्रेक्षाध्यान के प्रयोग से** भी जर्दा-धूम्रपान छोड़ने से होने वाली व्याकुलता पर नियंत्रण किया जा सकता है।

- विचार कीजिए—कुछ लोग महिनों तक उपवास रख लेते हैं, कई दिन खाए-पीए निकाल देते है, क्या मै उनसे कमजोर हूं ?
- जब भी जर्दा-बीड़ी सिगरेट या तम्बाकू देखें, अपने बच्चों को याद कीजिए क्योंकि तम्बाकू आपके बच्चों से उनके पिता को हमेशा के लिए छीन सकती है ।

बीड़ी या सिगरेट का हर कश निकोटीन की मात्रा दिमाग मे पहुचाता है, जिससे दिमाग की कोशिकाएं निकोटीन के प्रभाव में आती हैं और लगातार सेवन के बाद निकोटीन की दास हो जाती हैं । क्या आप अपने दिमाग को निकोटीन की गुलामी में रखना पसन्द करेंगे ? क्या आप का आत्मबल और स्वाभिमान इतना मजबूत नही कि इस गुलामी को छोड़ सके ?

(IV) मद्यपान-वर्जन

मद्यपान और मांसाहार का भगवान महावीर तीव्र प्रतिरोध करते है। वह केवल अहिंसा की दृष्टि से ही नही अपितु उनसे मनुष्य की वृत्तियां भी बिगडती हैं ।

इसमे कोई संदेह नही है कि आज ये प्रवृत्तिया बढ रही है. पर जिस मात्रा मे ये प्रवृत्तिया बढ रही हैं उसी मात्रा में समस्याएं भी बढ रही है । दी ओहिया स्टेट युनिवर्सिटी के श्री वॉल्टर सी० रेक्लेस ने अपनी पुस्तक 'The Crime Problem' मे मद्यपान पर सागोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया है । उन्होंने कहा—अपराध से तीन बाते मुख्य रूप से जुडी हुई हैं—शराब पीना, नशीली दवाइयां लेना तथा अस्वाभाविक यौन-भावना । इसके साथ वेश्या-गमन, जुआ, परिवार का बिखराव, गर्भपात, भिखारीपन आदि अनेक समस्याएं भी जुड़ी हुई है, पर कदाचित् शराब इन सारी समस्याओं से प्रमुख रूप से जुड़ी हुई है ।

यद्यपि यह तो सम्भावना नही है कि अपराध के लिए केवल शराब को ही उत्तरदायी टहरा दिया जाए । पर फिर भी उसमें शराब का एक महत्त्वपूर्ण भाग है, इसमे कोई सदेह नही है । यह कहना भी उचित नहीं होगा कि हर शराबी अपराधी ही होता है । पर यह सच है कि शराब और अराजकता के बीच एक गहरा सम्बन्ध है । शराबी आदमी अपने सामाजिक दायित्व के प्रति उदासीन रहता है । वह औसत आदमी की तुलना में ज्यादा अपराध करता है ।

मद्यपान और अपराध

अमरीका की एक जांच समिति ने १२ राज्यों के १७ कारागरों और सुधार-गृहों में १३४०२ बंदियों का परीक्षण कर यह तथ्य निकाला है कि

उनमें से ५० प्रतिशत से अधिक अपराध संयमहीनता के कारण किये गये थे। और वह संयमहीन सीधा शराब से जुड़ी हुई थी।

स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० जोसेफ बेहन की पुस्तक 'Behind the Sins of Murder' के अनुसार हत्या के आधे केस केवल शराब के कारण होते है।

सिटी कोर्ट के न्यायाधीश श्री ग्रेलिनर ने अपने सामने आये १०००० मामलो की छानबीन करने के बाद बताया कि उनका ९२ प्रतिशत कारण शराब ही था।

न्यायाधीश श्री विलियम आर. मैंके ने नेशनल वायस (६ मार्च, १९४७) मे लिखा था—दस वर्ष तक प्रासिक्युटिंग एटॉर्नी एव इतनी अवधि तक म्युनिसिपल एव सुप्रीम कोर्ट-पीठो का काम करने के उपरान्त मेरा सुविचारित मत है कि जो भी व्यक्ति फौजदारी अदालत के सम्मुख सुनवाई के लिए उपस्थित होते है उनमे से ९० प्रतिशत मादक शराब के अत्यधिक उपयोग के कारण प्रत्यक्ष रूप से स्वय ही इस मामलो मे लिप्त होते है।

कुयाहोगा काउन्टी, ओहिया न क्वीनलैंड मे विस्तृत जाच करने के बाद अपने प्रतिवेदन मे कहा है—हमारी कार्यविधि मे हमे डकैतियो के मामलो के सम्बन्ध मे जो विपुल साक्षिया पेश की गयी, उनसे प्रतिध्वनित होता है कि शराब का उसमे महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ही वह स्थान है जहा डकैतियों का उद्भव होता है। आग लगाना, सेंध मारना, यौन अपराध, गोली चलाना, छुरा भोंकना, नर-हत्या, धोखाधड़ी गोपनीय हथियार रखना, मारपीट एव वाहन सम्बन्धी कानून का उल्लघन भी उसी मे शामिल है।

न्यूजर्सी राज्य की मद्यसारयुक्त पेय नियत्रण राज्य आयुक्त फेडरिक बर्नेस्ट ने अपने भाषण मे कहा था—अनादिकाल से पुलिस की चार समस्याए रही हैं—अनैतिकता, जुआ, मादक द्रव्य और शराब।

लास एंजिल्स काउण्टी के सुपीरियर कोर्ट के जज विलियम आर० मैंके ने कहा है—न्यायालय मे पेश होनेवाले अपराध के १० मामलों मे ९ ऐसे होते हैं जो प्रत्यक्षत. शराब के अधाधुन्ध उपयोग की देन होत है।

मद्यपान के अध्ययन मे नवीन प्रवृत्तियों के लेखक ए० आई० माल-कोहम ने अपनी रिपोर्ट मे बताया है—सामान्य जनसख्या की तुलना मे मद्यपो की आत्म-हत्या की दर ५८ गुना अधिक होती है। अमेरिका में अपराधिता के अध्ययन मे चित्रित आकड़ो मे बताया गया है—१९६७ मे पियक्कड स्थिति मे बदी बनाये गए लोगो की सख्या १३९६२८० थी। सुरापान कर वाहन चलाने के आरोप मे बदी बनाय गए व्यक्तियो की सख्या २४८९१२ थी, सुरापान के प्रभाव से अनियत्रित व्यवहार करनेवाले बंदियों की संख्या ४९५७८४ थी। कुल मिलाकर २१,४०,९७६ की यह कुल संख्या

इस बात का प्रमाण है कि वहां की कुल बंदियों की संख्या में एक-तिहाई से लेकर आधी संख्या मद्यपान से सम्बन्धित लोगों की थी।

यौन अपराधों में ६० प्रतिशत, चोरी-चकारी में ६५ प्रतिशत, जालसाजी में ६६ प्रतिशत, ऑटोचोरी में ६८ प्रतिशत, बलात्कार में ३९ प्रतिशत सेंधमारी में ७० प्रतिशत, लूटमार में ७४ प्रतिशत, हत्याओं में ७० प्रतिशत, जान-बूझकर गोली चलाने में ८३ प्रतिशत, सामान्य प्रहार में ८५ प्रतिशत, हथियार सम्बन्धी अपराधों में ८५ प्रतिशत, जेब काटने के ९३ प्रतिशत अपराधों में शराब का हाथ है।

'लिसन' नामक पत्रिका में २३३ जजों के अनुमानों का सर्वेक्षण करने के बाद पाया गया कि गिरफ्तार किए व्यक्तियों में से ६३ प्रतिशत का शराब से लगाव रहा है।

इन सब से एक बात निर्विवाद रूप से उभरती है कि मद्यपान और अपराध का चोली-दामन का सम्बन्ध है। सुरापान से आदमी क्रूर, क्रोधी एवं प्रमादी बन जाता है। उसके लिए जीवन बहुत सस्ता हो जाता है। वह न केवल अपनी ही हानि कर लेता है अपितु दूसरों की हत्या करने में भी उसे कोई संकोच नहीं रहता। जब कोई व्यक्ति शराब के नशे में होता है तो वह सभी प्रकार के अपराध और विभिन्न स्तरों पर उत्तरदायित्वहीन व्यवहार करने लगता है। कई जगह पर पाया गया है कि अन्य अपराधों से जितने व्यक्ति जेल जाते है, शराब के नशे मे धुत्त होकर जेल जाने वालों की संख्या उससे ज्यादा है।

अवैध गतिविधियों मे अनुरक्त व्यक्तियों में शराब पीने के बाद मिथ्या साहस की भावना उद्भव होती है। ऐसे लोगों को भयानक काम करने के लिए शराब पिलाई जाती है। शराब ऐसे व्यक्तियों को भी उचित-अनुचित मे भेद-रेखा खीचने में विवेकहीन बना देती है जो उच्च सिद्धान्तों को मानने वाले होते है। मद्यपान के परिणामस्वरूप वे अपनी भावनाओं पर नियंत्रण खो देते है। यदि वे मद्यपान नहीं करते तो कदापि अपराध नहीं करते, पर मद्यपान के बाद वे अपना आपा खो देते है। वास्तव में वह सही और गलत में विवेक न कर पाने के कारण होता है। ऐसी स्थिति की तुलना ढलान मे चलती हुई गाड़ी के ब्रेक फेल हो जाने से की जा सकती है।

मद्यपान और वेश्यावृत्ति

यौन अपराधों एवं व्यक्तिगत हिंसा के मामलों में भी शराब को ही मुख्य प्रेरणा के रूप में माना गया है। वेश्यावृत्ति एवं मद्यपान के बीच गहन सम्बन्ध है। बालकों के साथ यौन अपराध मे लिप्त होने वाले व्यक्ति प्रायः सुरापायी होते है। वे जितनी मात्रा में शराब अधिक पीते हैं, उसी मात्रा में अपराध भी तीव्रता से करते है।

सुरापना को वैध कर देने का ही एक बड़ा अभिशाप वेश्यावृत्ति है। इसका सम्बन्ध अधिकतर मदिरालयों से है। क्योंकि सड़कों पर घूमने वाले लोग अपना धन्धा चलाने के लिए सुरापान के स्थलों मे प्रवेश करते हैं। कतिपय मद्य प्रतिष्ठान तो मात्र कामवासना की पूर्ति के ही अड्डे होते हैं जहा वेश्याओं से सम्पर्क ही एकमात्र लक्ष्य होता है।

जियोन हैराल्ड नामक समाचार-पत्र मे विशम हजरक्सेक ने लिखा है—मदिरालय अबाध स्वातंत्र्य के दिनो की अपेक्षा हजारो गुणा अधिक विघातक और विनाशक सिद्ध हो रहे है। हमारे युवको को पथभ्रष्ट करने के लिए उपवन ही शराब के स्थल नही रह गये है, अपितु उनके साथ-साथ वेश्यालय भी सड़कों पर ही बस गये है। वेश्यालयो के साथ शारीरिक स्वास्थ्य किस हद तक जुडा हुआ है, इसे बताने की आवश्यकता नही है। हजारो-हजारो ही नही, लाखो-करोडों लोग अपने गुप्त रोगों का उपहार वेश्यालयों से ही प्राप्त करते है।

विस्कोन्सिन राज्य विधानमण्डल ने १९१४ मे महिलाओ मे वेश्यावृत्ति आदि की जाच के लिए एक समिति नियुक्त की थी। उसने अपने प्रतिवेदन मे बताया है कि महिलाओ और युवतियो के पतन, मादक पेय, शराब और व्यावसायिक दुराचार के बीच एक गहन सम्बन्ध है।

सभी विशेषज्ञ इस तथ्य से सहमत है कि बाल-अपराध तथा अवैध सतानो की उपज का मुख्य अड्डा सुरागृह ही होते है। ९० प्रतिशत अवैध सन्ताने उन परिचयों का ही परिणाम होती है जो मदिरालयो मे होता है। सहायक काउण्टी अटॉर्नी ल्युसिएन सेलवारे के अनुसार ऐसे मामले मे सबंधित युवक युवतियो की उम्र १६-२२ वर्ष के बीच की पायी गयी है। डॉ० हीले ने कहा है—लघुमात्रा मे किया जाने वाला सुरापान भी किशोर-युवतियो को चारित्रिक दृष्टि से गिरा देता है। अनेक खोजो से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गयी है कि सुरापान की अवस्था मे महिलाएं अपना विवेक खो देती हैं।

मद्यपान और तलाक

तलाक-सम्बन्धी मामलो के सम्बन्ध मे अपने अनुभव बताते हुए श्री मैके ने कहा—दिन-प्रतिदिन पति-पत्नी में मतभेद मे पैदा होने वाली कतार मेरे समक्ष आती है, उनमें ७५ प्रतिशत मामलों मे शराब ने ही झंझट प्रारंभ करवाया है जिसने तलाक के लिए कार्यवाही को आवश्यक बना दिया। मैं यह देखकर विशेष रूप से द्रवित हुआ हूं कि महिलाओं में भी सुरापन की लत बढती जा रही है। वस्तुत. यह प्रत्येक दृष्टि से नैतिक पराभव की ही परिचायक है। इससे बालकों को भी अपराध करने का प्रत्यक्ष बढ़ावा मिलता है; क्योंकि शराबी माताएं बच्चों के प्रति उपेक्षाशील हो जाती है। उनका समय मदिरालय के चक्कर लगाने में ही बीतने लगता है।

मद्यपान और गर्भस्थ शिशु

अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि गर्भवती नारी यदि अत्यधिक शराब पिये तो गर्भस्थ बच्चे मे विकृति आ सकती है। यह बात केवल अत्यधिक शराब पीने वाली महिलाओं पर ही लागू नही होती अपितु कम मात्रा मे कभी-कभी दिन में एक-दो बार कड़ी शराब पीने वाली महिलाओं पर भी लागू होती है। अमेरिका मे यू० एस० नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ अल्कोहलीक अब्यूज एण्ड अलकोहलिज्मने अपनी शोध मे बताया है -प्रतिदिन एक-दो औंस विशुद्ध अल्कोहल यदि गर्भवती नारी लेती है तो उसके बच्चे के विकास में असामान्यता आ जाती है या जन्मजात विकृति आ जाती है। अनुमान है कि अमेरिका मे स्कूल मे पढ़ने वाले ५० से ७० लाख बच्चों मे बुद्धि सम्बन्धी कोई-न-कोई विकार है। शोध करने पर पता चला है कि उनकी माताए गर्भावस्था मे शराब पीती थी; क्योकि शराब मा के रक्त में पहुचकर गर्भगत बच्चे की रक्तधारा मे मिल जाती है। जब मां नशे की हालत मे होती है तो गर्भावस्था मे बच्चा भी नशे में हो जाता है। यह स्थिति उसके लिए बड़ी भयानक होती है; क्योंकि उसके यकृत का पूरा-पूरा विकास नही हुआ होता। वयस्क आदमी का यकृत २८ मि० ली० शराब का उपापचय एक घण्टे में कर सकता है। भ्रूण का अविकसित यकृत इस कार्य को बडी धीमी गति से कर पाता है। अतः बच्चे तक पहुचने वाला अल्कोहल गर्भनाल में अपविस्तृत हो जाता है। जब मा के रक्त मे अल्कोहल की मात्रा नीचे उतरेगी तभी वह बच्चे के उस अतिरिक्त अल्कोहल को वापस ले सकेगी। अत. मां यदि २८ मि० ली० से अधिक शराब पीती है तो असहाय बच्चे को अति दीर्घकाल तक उसे अपने रक्त मे रोके रखना पड़ता है। पर मा यदि पीती ही जाए, तो बच्चे में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया निश्चय ही होगी।

अभी यक यह बताना कठिन है कि किस काल मे गर्भावस्था में शराब का दुष्प्रभाव सबसे अधिक होता है। पर इतना निश्चित है कि यदि मां की इच्छा हो कि उसका बच्चा स्वस्थ हो, उसका कद छोटा न हो, चेहरा विकृत न हो, आंखें छोटी न हो, नाक का ऊपरी हिस्सा दबा हुआ न हो, हृदय तथा फुफ्फुस निर्दोष हो, हाथ-पैर कुरूप न हों, मस्तिष्क अधिक मोटा न हो, उसे रक्तचाप न हो, स्नायु-दुर्बलता न हो तो उसे शराब से दूर से ही नमस्कार करना चाहिए। इतना ही नही, मद्यपायी माताओ के बच्चे प्रायः मर जाते है। जीवित रह जाएं तो उनका वजन कम होता है।

मद्यपान और बाल-अपराध

मैके, ब्लैकर, डेमोन और कैले ने अपने-अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि बाल-अपराधों और सुरापान का गहन सम्बन्ध है।

१९६५ में कैलिफोर्निया के राजकीय बाल-सुधारगृहों में प्रविष्ट ६०,१४७ बालकों का अध्ययन कर श्री रिचार्ड ने पता लगाया है कि उनमें से २० प्रतिशत का अपराधों से सम्बन्ध रहा है। उनमें से अनेक मद्यपान के आदी थे।

१८ अप्रैल, १९६८ के रूस के प्रमुख समाचार-पत्र 'प्रावदा' से पता लगता है कि रूस में भी बच्चों में मद्यपान की आदत बढ़ रही है। १४ से १६ वर्ष की आयु के अनेक किशोरों द्वारा किये गये अपराधों का एकमात्र कारण शराब पीना ही था। इसे पीने के लिए उन्होंने चोरी की और पुन पीने के लिए पुनः चोरी करनी पड़ी। फिर तो उनके जीवन में यह एक चक्र ही बन गया।

'लिसन' पत्रिका के सम्पादक जे० ए० बकवाल्टर ने वाशिंगटन राजकीय पन्टिशियरी में रखे गये २०० बच्चों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमें १८९ मद्यपायी थे।

शराब और स्वास्थ्य

एक बार हम दर्शन और तर्क को छोड़ दें, नैतिकता और समाज-व्यवस्था को भी भूल जायें तो भी शराब मनुष्य के स्वयं के स्वास्थ्य के लिए कितनी भयानक है, इस पर जरा ध्यान दें। स्वास्थ्य-समस्याओं में हृदय-रोग और कैंसर के बाद तीसरा स्थान शराब के दुर्व्यसन का है।

शराब शरीर और मन पर कितने भयंकर प्रभाव डालती है, इसकी जानकारी के लिए चिकित्सा-व्यवस्था में लगे लोगों, वैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों, मनोरोग-विशेषज्ञों, शरीरक्रिया एवं औषधि विज्ञान-वेत्ताओं की राय महत्त्वपूर्ण होती है। इस दृष्टि से अमेरिका में आयोजित मानस-चिकित्सक और नाड़ी-तन्त्र विशेषज्ञों के राष्ट्रीय सम्मेलन का प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा है इस सम्मेलन की सम्मति में यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि है शरीर के भीतर ली गयी शराब मस्तिष्क और अन्य तन्तुओं के लिए विष के रूप में काम करती है। इसके प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप से पागलपन, मृगी, मन की दुर्बलता और अन्य इसी प्रकार की अनेक मानसिक बीमारियां आती है।

स्ट्रासबर्ग में आयोजित इण्टरनेशनल फिजीओलॉजिकल कांग्रेस में औषधि-निर्माण विभाग के डाक्टर ओटटो श्मेइदरवर्ग ने अपने निबन्ध में कहा था—शराब क्लोरोफार्म और ईथर की तरह अवसादक है। इसके सम्पर्क से व्यक्ति के शरीर के प्रत्येक तन्तु की शक्ति निर्बल हो जाती है।

इंग्लैण्ड में पागलपन पर नियुक्तक मीशन की रिपोर्ट में कहा गया है कि पागलपन के विपाक्त कारण की सूची में शराब मुख्य है। सार्वजनिक

स्वास्थ्य सेवाओं के सर्जन जनरल डाक्टर थॉमस पार्डन ने भी कहा है—पागलपन का मुख्य कारण शराब है।

अल्कोहल एण्ड अल्कोहलिजम पुस्तक के पृष्ठ १४ पर लिखा है—अत्यधिक शराब पीने की वजह से प्रतिवर्ष कई मिलियन डालर खर्च हो जाते है। मानवीय कष्ट का मूल्य तो किसी प्रकार नही आंका जा सकता।

व्हिस्की, ब्राडी आदि शराब सम्बन्धी विशेष काढ़े हुए पेय जब पेट में डाले जाते है तब जिगर, छोटी आंत और छोटी नसों द्वारा मद्यसार शीघ्रता से रक्त की सहायता से शरीर के सब भागों मे पहुंच जाता है। मुश्किल से ही कोई शराब बड़ी अंतड़ियो तक पहुचती है। भोजन-रहित पेट मे अंतड़ियों द्वारा मद्यसार को शीघ्रता से अपने मे खपा लेना असाधारण गति से होता है। १० से ३० मिनट के भीतर यह रक्त मे उच्चस्तर तक पहुच जाती है। जिस मात्रा में शराब ली जाती है उसी मात्रा मे उसका परिणाम और यह हानि पहुचती है। प्रबल शराब का पेट के साथ सम्पर्क होने से वहां सूजन हो जाती है, जिससे पाचक-यन्त्रों को स्थायी रूप से हानि होती है। यह एक प्रकार का प्रवाहशील विष है जो जिगर, दिल और गुर्दों को क्षति पहुंचाता है। इससे पेट मे दीर्घकालीन सूजन हो जाती है।

शराब का पेट पर जो सीधा उत्तेजक प्रभाव पड़ता है वह मुख्यतः रक्त के जमा और संकुचित हो जाने का है। कभी-कभी इससे पेट में फोड़े हो जाते हैं। प्रतिदिन आदतन शरीब पीने से पेट के अन्दर सूजन रहने लगती है। पुराने मद्यपायी वाततनाडी शोथ, मस्तिष्क-ज्वर, चमड़ी फटने का रोग, रक्ताल्पता आदि अनेक बीमारियों से घिर जाते है।

वैज्ञानिक खोजो से पता लगा है कि दीर्घकाल तक मद्य पीने से हृदय की नसें बेकार हो जाती हैं। इसमे अनेक प्रकार के विकार प्रकट हो जाते है। इसी प्रकार मद्यपान से अप्रत्यक्ष रूप से गुर्दे पर भी भारी प्रभाव पड़ता है। शराबी के मूल-अम्ल का निकलना कम हो जाता है, जिससे मूत्र के रक्तसारों मे कमी हो जाती है। उसमे मेग्नेशियम की भी कमी हो जाती है।

नशीले पेय शराब आदि कैंसर के भी मुख्य कारण है। उन समस्त देशों में जहा शराब अधिक पी जाती है, कैंसर का प्रसार अधिक है।

यकृत (liver) शरीर में प्रविष्ट विषों को निकालने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। मदात्यय (over-intoxication) से शरीर की कोशिकाएं असामान्य रूप से विषाक्त बन जाती है, जिन्हें निर्विष बनाने के लिए यकृत को अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार मदात्यय से मस्तिष्क और यकृत को अपूरणीय क्षति होती है। युवावस्था में मौत तक हो सकती है।

सवाल होता है—शराब से जब इतना नुकसान है तो लोग इसका

प्रयोग क्यों करते है ? इसका कारण यह है कि साधारण आदमी समझता है कि शराब पीने से वह चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। ऐसा केवल बीमार आदमी ही नही समझते है अपितु दिन भर की मेहनत से थका हुआ हर आदमी यही सोचता है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि नशे से न तो शक्ति आती है और न उससे चिन्ताए मिटती है; अपितु नशे के बाद कार्य-क्षमता तथा चिन्ताएं और अधिक बढ जाती हैं।

अल्कोहल के लगातार सेवन से आदमी के शरीर मे अनेक बीमारिया घर कर लेती हैं। आखे जलने लगती हैं, मितली-सी आने लगती है, भूख खत्म हो जाती है, थकावट आने लगती है, पसीना ज्यादा छूटने लगता है, शरीर में कम्पकम्पी शुरू हो जाती है। आदमी उसे दूर करने के लिए फिर ज्यादा शराब पीता है। परिणामत. परेशानियां भी बढने लगती हैं। और आदमी एक दुश्चक्र मे उलझ जाता है।

सुप्रसिद्ध ब्रिटिश सर्जन सर लाउडर ब्रुटन ने कहा है—शराब धीरे-धीरे निर्णय को पंगु बनाती है, उसका यह कार्य प्रथम जाम के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है।

डाक्टर क्वैनसैल का अभिमत है—मद्यसारयुक्त पेय की लघु मात्रा भी मूत्राशय की थैली की कार्य-प्रणाली मे भारी परिवर्तन कर सकती है। विचार को पंगु बना सकती है, अनुभूति की स्वच्छता मे कमी तथा निर्णय लेने की शक्ति को घटा सकती है।

मद्यपान और आयु

इटली के प्राध्यापक लोम्ब्रोजो के निष्कर्ष के अनुसार शराब मानव जीवन को घटाने वाली प्रमुख चीजो में एक है। मद्यपान करने वाला २० वर्ष की आयु वाला व्यक्ति १५ वर्ष और जिए जब कि न पीने वाला ४४ वर्ष जी सकता है।

अनेक बीमा कम्पनियो ने शराब और मृत्यु-सम्बन्ध के बारे मे अनेक महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये है। मेडिकल एक्एरिल मोर्टलरी इन्वेस्टिगेशन के केन्द्रीय ब्यूरो के अध्यक्ष ने २५ वर्षो तक २० लाख लोगो के जीवन-वृत्तों के सम्बन्ध मे एक जांच का परिणाम देते हुए कहा है—यह सुनिश्चित है कि मद्यपायियों की अपेक्षा मद्यपान न करने वाले ५० वर्ष अधिक जीते हैं।

कानेक्टीकट म्युच्युअल के अध्यक्ष जैकब ग्रीने का कथन है—मैं इस बहु प्रचलित धारणा का विरोध करता हू कि बीयर हानिरहित है। यदि शराबमुक्त लोगो की मृत्यु-संख्या १०० है तो यदा-कदा पीने वालों की मृत्यु संख्या १२२, संयमित पीने वालों की मृत्यु-संख्या १४२ तथा नियमित पीने वालों की मृत्यु-संख्या २१२ है। इतना ही नहीं, शराब के धंधे में लिप्त व्यक्तियों की मृत्यु-दर भी बढ़ जाती है।

यह सब कुछ होते हुए भी आज मद्यपान का प्रवाह बढ़ रहा है।

जहां पहले नशाबंदी का कानून था वह समाप्त कर दिया गया है। इसके पीछे शराब-प्रसारकों के व्यापक विज्ञापन अभियान एक मुख्य भूमिका निबाहते हैं। इससे लोगों पर मनोवैज्ञानिक असर होता है और मद्यपान के प्रति अनैतिकता की धारणा टूट गयी है। आज तो सुरापान सभ्य-समाज में सामाजिक स्तर का परिचायक समझा जाने लगा है। उसके बिना अतिथि-सत्कार भी अधूरा समझा जाता है। सामाजिक उत्सव आदि में आजकल मद्य-पान के लिए लोगों को विवश किया जाता है। बहुत लोग इच्छा न होते हुए भी केवल मजाक के पात्र बनने के डर से इनकार नहीं करते। पर बहुत लोग चाहकर वैसा करते हैं। वे नहीं जानते कि मद्यपान-सेवन उन्हें मानसिक परावलम्बिता तथा अत्यन्त खतरनाक दुर्व्यसन की ओर तेजी से धकेल रहा है।

विज्ञापन करने वाले लोग करोड़ों रुपये इस बात का प्रसार करने में लगाते है कि सीमित मात्रा में शराब पीना बुरा नहीं है। पर सीमित मात्रा में मद्यपान ही अपरिमितता की ओर प्रथम पग है। इसका कभी-कभी उपयोग भी अन्ततः एक आदत बन जाती है। आज जो लोग भयंकर पियक्कड़ हैं उन्होने भी शराब पीना कभी-कभी पीने से ही शुरू किया होगा। प्रारम्भ मे उन्होंने भी यही सोचा होगा कि सीमित मात्रा मे शराब पीते है या कभी-कभार पीते हैं। पर धीरे-धीरे उनके शरीर का ढांचा ही ऐसा बन जाता है कि वे पिये बिना रह ही नहीं सकते।

वैज्ञानिक साक्ष्य इस बात का समर्थन करती है कि कार-दुर्घटनाओं में अधिकांश का निमित मद्यपान है। यातायात दुर्घटनाओं मे ५१ प्रतिशत का सम्बन्ध शराब पिए हुए चालकों या परिचालकों से है। ड्राइवर के द्वारा मद्यपान करने पर उसके मस्तिष्क पर शराब का दुष्प्रभाव पड़ता है जिससे वह सही ढंग से समन्वयन, निर्णायकता और प्रतिवर्त सहज क्रिया (reflex action) करने में अक्षम हो जाता है।

शराब पीने का प्रभाव ही यह होता है कि की आदमी नियंत्रण-शक्ति चेतनाशून्य हो जाती है और वह अच्छे-बुरे में भेद नही कर सकता। रक्त की धारा के माध्यम से जब शराब एक बार मस्तिष्क में प्रविष्ट हो जाती है तो उसका प्रभाव आत्म-नियंत्रण तथा निर्णय लेने की शक्ति पर हावी हो जाता है। इसलिए सीमित मद्यसारयुक्त पेयों का प्रयोग मात्र छलनामय सिद्धांत है। सीमित मात्रा में मद्यपान ही कभी न बुझने वाली शराब की शुरुआत देता है। इस दृष्टि से हल्की नशीली शराब का सेवन भी मद्यसार की आदत का निर्माण कर देता है। इसलिए इस दिशा मे बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है।

शरीर-शक्ति के लिए शराब का प्रयोग करना न तो बुद्धिमानी है और न यह पौष्टिक खाद्य पदार्थ का स्थान ले सकती है। अल्कोहल में कैलरीज तो होती है पर वह विटामिन, प्रोटीन, लोहा आदि पौष्टिक पदार्थों का स्थान नहीं ले सकती। वह तो बस एक चाबुक मात्र है।

यदि हम थोड़ी-सी आखें उठाकर देखें तो हमे अपने आस-पास ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेगे जिनके कारण परिवार का परिवार क्षत-विक्षत हो जाता है। न्यायाधीश ए०ए० डावसन (टैक्सास) के आकलन के अनुसार यदि मादक शराब का पीना बन्द हो जाये तो दो-तिहाई न्यायालय समाप्त हो जाएं। इसके साथ-साथ वर्तमान कानूनों को लागू करने में जितनी राशि खर्च होती है उसमें भी ८५ प्रतिशत की बचत हो सकती है। आज करोड़ों-अरबों रुपये उन लोगों पर खर्च किए जाते हैं जो मद्यपान की चपेट मे आ जाते हैं। अकेले अमेरिका में २१ वर्ष की अवस्था से ऊपर के अपराधियों पर २९ मिलियन डालर खर्च होता है, जबकि इन अपराधों में अधिकांश के मूल में शराब ही होती है।

कुछ लोगो का तर्क है कि शराब पीना उनका अपना व्यक्तिगत मामला है। पर एक व्यक्ति का आचरण जब समाज को प्रभावित करने लग जाता है तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सीमा समाप्त हो जाती है। शराब पीना एक व्यक्तिगत मामला भले ही हो, आज यह एक सामाजिक रूप ले चुका है। थोड़ी-सी पी गयी शराब भी औद्योगिक उत्पादन की गति शिथिल कर देती है। मादकता लाने वाली शराब तो किसी भी आधुनिक फैक्टरी या कारखाने को नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है। इसीलिए जेफरसन काउन्टी अलवाया के शेरिफ होस्ट मेकडोबेल का कहना है—मेरा सदैव विश्वास रहा कि यदि कोई व्यक्ति कहता है कि शराब पीना उसका अधिकार है तथा उसमे बाधा डालने का किसी को अधिकार नही है तो एक शेरिफ के तौर पर मैं कह सकता हू कि इस मामले में दखल देना एक नागरिक का परमपावन कर्तव्य है।

आज तो नशे की दृष्टि से शराब एक अकेली चीज नही रह गयी है अपितु भारत सरकार द्वारा स्थापित विशेषज्ञों की एक कमेटी ने अपनी रिपोर्ट 'ड्रग एब्यूज इन इंडिया' में नशीली चीजों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं—भांग, गांजा, चरस, पेथेडीन, मारफीन, हीरोइन, कोकीन तथा शराब आदि। जो लोग इनके अधीन हो जाते है, वे बीमार हो जाते हैं।

सारी दुनिया में आज नशे की ये चीजें द्रुतगति से फैल रही हैं। थाइलैंड में ५ लाख से अधिक व्यक्ति नशीली दवाइयों के आदी हैं जबकि मलेशिया मे उनकी संख्या सवा लाख है। उनमें से ७५ प्रतिशत व्यक्ति तो हीरोइन का इस्तेमाल करते हैं। सिंगापुर तथा हांगकांग मे तो उनकी संख्या

८० प्रतिशत हो जाती है।

इसीलिए भगवान् बुद्ध ने कहा था—"मनुष्यो, तुम सिंह के सामने जाते समय भयभीत न होना क्योंकि वह पराक्रम की परीक्षा है। तुम तलवार के नीचे सिर झुकाने से भयभीत मत होना क्योंकि वह बलिदान की कसौटी है। तुम पर्वत-शिखर पर से पाताल में कूद पड़ना क्योंकि यह तप की साधना है। तुम बढ़ती हुई ज्वालाओं से विचलित मत होना, यह स्वार्थ-परीक्षा है। पर शराब से सदा भयभीत रहना क्योंकि यह पाप और अनाचार की जननी है।" आगे उन्होंने कहा है—"जिस राजा के राज्य में सुरादेवी आदर को प्राप्त होगी वह राज्य कालवेदी पर नष्ट हो जाएगा। वहां न औषधि उपजेगी, न अनाज।"

भारत सरकार ने भी अपने संविधान मे स्वीकार किया है—राज्य अपनी जनता के पोषक भोजन और जीवन-निर्वाह के स्तर को ऊंचा करने और सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्रारम्भिक कर्तव्यों मे मुख्य समझेगा और विशेषतया राज्य वह प्रयत्न करेगा कि नशीले पेयों और नशीली दवाइयों के प्रयोग का निषेध करें।

(V) भाषा-विवेक

भाषा-विवेक जैन जीवन-शैली के साथ जुड़ा हुआ एक ऐसा बिन्दु है, जो अध्यात्म-साधना, व्यावहारिक जीवन एवं व्यक्तित्व-निर्माण—इन तीनों दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। भाषा का सीधा सम्बन्ध शब्द से है और शब्द एक ऐसा भौतिक अस्तित्व है जिस पर आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में बहुत सूक्ष्मता से प्रयोग एवं परीक्षण हुए हैं। प्रस्तुत प्रकरण मे भाषा-विवेक पर तीन दृष्टिकोणों से विचार करना है—

१. साधना में भाषा-विवेक

२. व्यवहार में भाषा-विवेक

३. शक्ति के स्रोत रूप शब्द (भाषा) की मीमांसा

इन तीनों पर जैन दर्शन और विज्ञान के संदर्भ में हमें चर्चा करनी है।

शब्द भी : मौन भी

भगवान महावीर शब्द और मौन दोनों को स्वीकार करते हैं और दोनों से ही इनकार करते हैं। वास्तव में महावीर की हर बात अनेकांतवादी है। उनके हिसाब से प्रतिबन्धक शब्द नहीं, राग-द्वेष है। राग-द्वेषमुक्त शब्द प्रतिबन्धक नहीं, विमोचक है। वास्तव में वही शब्द विमोचक है जो मौन से जुड़ा हुआ है। इसीलिए भगवान महावीर ने स्वयं साढ़े बारह वर्षों तक मौन की साधना की। यदि मौन ही अन्तिम बात होती तो फिर वे प्रवचन

नहीं करते। वास्तव में 'अवचन' की साधना से ही वचन 'प्रवचन' बन सकता है। इससे स्पष्ट है कि वे वचन के लिए 'अवचन' की भूमिका आवश्यक है।

वाणी की शक्ति

वाणी एक ऐसी शक्ति है जो एक ओर मन का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरी ओर शरीर को उछालती है। आदमी किसी से लड़ता है तो वाणी के द्वारा लड़ता है। आदमी किसी से प्रेम करता है तो वाणी के द्वारा करता है। आदमी किसी को अपना बनाता है तो वाणी के द्वारा ही बनाता है। आदमी किसी को विरोधी बनाता है तो वाणी के द्वारा ही बनाता है। वाणी की बहुत बड़ी शक्ति है। मुंह से एक बात निकलती है और सामने वाले व्यक्ति को चाहे सो बना देती है।

वाणी की एक शक्ति है भावना और दूसरी शक्ति है उच्चारण। उच्चारण के आधार पर ही समूचे मंत्र-शास्त्र का विकास हुआ है। तरंग का सिद्धांत भी इसके साथ जुड़ता है। आज वाणी पर आधुनिक खोजें हुई हैं, मंत्रशास्त्रीय खोजे हुई हैं। इन खोजों में तीनों शक्तियों की बात निर्णीत हुई है। तीनों बातें जुड़ी हुई मिलती हैं। पहली बात है भावना। दूसरी बात है उच्चारण और तीसरी बात है उच्चारण के द्वारा उत्पन्न वाणी की शक्ति। उच्चारण के साथ-साथ मस्तिष्क में तरंग पैदा होती है। एक शब्द का उच्चारण होता है और अल्फा-तरंगे पैदा हो जाती हैं, एक शब्द का उच्चारण होता है और थेटा तरंगें पैदा हो जाती है, बीटा तरगें पैदा हो जाती हैं। इन तरगों के आधार पर मत्रों की कसौटी की जाती है। 'ओम्' का उच्चारण होता है, अल्फा-तरगें पैदा होती है और मस्तिष्क रिलैक्स हो जाता है, शिथिल हो जाता है। जैसे-जैसे मस्तिष्क की शिथिलता बढती है, अल्फा-तरंगें पैदा होती चली जाती है। शिथिलन के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जितने भी बीज-मत्र है, उनसे भिन्न-भिन्न तरंगें उत्पन्न होती हैं और वे मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। बीजाक्षर है—अ, सि, आ, उ, सा, अर्हं, ओम्, ह्रीं, श्रीं, क्लीं। ये सारे बीज-मंत्र है। इनसे उत्पन्न तरगें ग्रन्थि-संस्थान को प्रभावित करती है, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव को संतुलित करती है। ग्रन्थियों का स्राव 'ह्रं' के उच्चारण से सतुलित हो जाता है।

प्रश्न है, वाणी की शक्ति का विकास कैसे हो? उसकी अशुद्धि को मिटाने का एक उपाय है—'**प्रलम्बनादाभ्यासाद् वाक्य-शुद्धिः**'— प्रलंब नाद के अभ्यास से वाक्य शुद्धि होती है। ध्वनि प्रलब है। मन के साथ, भावना के साथ संबन्ध स्थापित करने के लिए प्रलबनाद का अभ्यास महत्त्वपूर्ण होता है। यह उच्चारण का एक प्रकार है। उच्चारण अनेक प्रकार के होते हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि। मंत्रशास्त्र में

ह्रस्वोच्चारण का एक प्रकार का लाभ होता है, दीर्घोच्चारण का दूसरे प्रकार का लाभ होता है और प्लुत उच्चारण का भिन्न प्रकार का लाभ होता है। उच्चारण जितना लम्बा होता है, ऊर्जा उसी के अनुपात में निर्मित होती है और मन के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित होता है। अर्हं और ओम् का लम्बा उच्चारण होता है। सामवेद में अनेक प्रकार की उच्चारण-पद्धतियों का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। उच्चारण के आधार पर एक-एक मंत्र की हजार-हजार शाखाएं हो जाती है।

वाणी और शब्दों का संयोजन और उच्चारण हमारी भावना को प्रभावित करता है।

वाक्शुद्धि का दूसरा उपाय है- सत्य का आलम्बन। उच्चारण का विवेक कर लिया, तरंगों को भी समझ लिया, किन्तु उसके पीछे भावना का जो बल है वह यदि असत् है, असत्य है तो सब कुछ बिगड़ जाएगा। वचन-सिद्धि का सबसे बड़ा साधन है- सत्य। जो सत्यवादी होता है, उसके कथन को कोई बदल नहीं सकता। उसके कथन को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। उसकी वाणी की तरंगों मे, परमाणुओं मे इतनी शक्ति आ जाती है कि प्राकृतिक घटना को वैसे ही घटना पड़ता है। एक व्यक्ति मे सत्य का, ब्रह्मचर्य का इतना बल होता है कि प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है—बादल होते है तो बिखर जाते हैं और नहीं हों तो बन जाते हैं। और भी न जाने क्या-क्या घटित हो जाता है। सत्य की शक्ति असीम है।

जिन व्यक्तियों ने सत्य की निष्ठा बनाए रखी, वे विलम्ब से भले ही हो, आगे बढ़े है। यदि सत्य के प्रति अटूट निष्ठा होती है तो उसका अच्छा परिणाम अवश्य आता है। यदि वास्तव मे सत्य का प्रयोग हो तो वाणी में भी अपार शक्ति आ जाती है। इससे वचनसिद्धि होती है।

मौन की शक्ति

हम बोलने से परिचित हैं। बोलने का क्या मूल्य है—इसे भलीभांति जानते है। हमारा सारा व्यवहार बोलने से चलता है। किन्तु न बोलने का भी अपना मूल्य है। जितना बोलने का मूल्य है उतना ही न बोलने का मूल्य है और एक अवस्था में शायद बोलने की अपेक्षा न बोलने का मूल्य अधिक है। उस मूल्य को हमें समझना है।

जितना भाषा का प्रयोग अधिक होगा, हम अधिक बोलेंगे तो हमारे अन्तर्ज्ञान में बाधा आएगी। चंचलता बाधा उत्पन्न करती है। भाषा का पहला काम है चंचलता उत्पन्न करना। बोलने से पहले चंचलता और बोलने के बाद चंचलता। जब हम बोलते हैं तो सबसे पहले मन को चंचल करना पड़ता है। यह सारा चंचलता का व्यवहार है। यह व्यवहार अन्तर्ज्ञान मे बाधा उपस्थित करता है।

मौन का एक परिणाम है—निर्विचारता। जब हम मौन कर लेते हैं तब निर्विचारता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

नहीं बोलने का दूसरा मूल्य है—विवाद-मुक्ति। मौन हो जाओ, विवाद अपने आप समाप्त हो जाएंगे। **'अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेव विनश्यति'**—आग जल रही है। उसे खाने के लिए घास नहीं मिली, भोजन नहीं मिला, तो वह स्वय बुझ जाएगी, जलेगी नहीं। एक बोलता है और दूसरा यदि मौन हो जाता है, तो आग को घास नहीं मिलती, वह अपने आप शांत हो जाती है, बुझ जाती है।

मौन का तीसरा लाभ है—अहं-मुक्ति। नहीं बोलने से अहंकार समाप्त हो जाता है। बोलने से अहंकार बढ़ता है। भगवान् महावीर ने इसीलिए कहा—**'न चित्ता तायए भासा, कओ विज्जाणुसासणं'**—भाषा हमे त्राण नही देती।

नहीं बोलने का एक बहुत बड़ा मूल्य है—सत्य की सुरक्षा। अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, अव्याकृत—ये शब्द सत्य की सुरक्षा करते हैं। एक कहता है—अस्ति अर्थात् 'है'। दूसरा कहता है—नास्ति अर्थात् 'नहीं है'। दोनों की दो दिशाएं है। विवाद की स्थिति आ जाती है। महावीर ने कहा, —जो कहता है अस्ति, वह भी सही नहीं है और जो कहता है नास्ति, वह भी सही नहीं है। दोनों गलत है। दोनों सही तब हो सकते है जब दोनों अपने-अपने कथन के साथ अपेक्षा जोड़ देते है और कहते हैं कि इस दृष्टि से, इस अपेक्षा से यह है और इस अपेक्षा से यह नही है—**स्यादस्ति, स्यान्नास्ति**। जब **स्यादस्ति** कहने से भी काम नही चलता और स्यान्नास्ति कहने से भी काम नही चलता तब **स्याद् अवक्तव्य** कहना होता है। यह मानकर चलो कि सत्य नही कहा जा सकता, संपूर्ण सत्य कहा नहीं जा सकता। सत्य की प्रकृति, स्वभाव ही ऐसा है कि वह कहा नही जा सकता। हम जो कहते हैं वह सत्य का एक अंशमात्र होता है। हम अंशमात्र का कथन करके पूरे सत्य के प्रति शायद अन्याय ही करते हैं, एक दृष्टि से। इस बात को मानकर ही तुम कहो कि पूरा सत्य कहा नहीं जा सकता।

आज के पेरासाइकोलॉजिस्ट टेलीपैथी का प्रयोग करते हैं। टेलीपैथी का अर्थ है—विचार-सप्रेषण।[1] इसके लिए मानसिक क्षमता के विकास की जरूरत होती थी। साधक मानसिक क्षमता को बढ़ाने का प्रयत्न करते थे। हमने बोलने की बहुत आदत डालकर मानसिक क्षमता को कमजोर किया है, गंवाया है। यदि हम न बोलकर अपनी मानसिक क्षमता को विकसित करें तो ऐसा भी हो सकता है कि बिना कहे भी बात समझ में आ सकती है। **'गुरोस्तु मौनव्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः'**—जिस गुरु की आत्म-शक्ति

१. देखें, इसी पुस्तक का तीसरा अध्याय, पृष्ठ १२६

प्रबल होती है, वह मौन बैठता है। शिष्य आते है, नाना प्रकार के सदेह लेकर। गुरु के पास बैठते है, गुरु की सन्निधि प्राप्त करते है। उनके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, उनका समाधान हो जाता है। क्योकि वहां मन की भाषा चल रही है। मन अपना काम करता है, सदेह मिट जाता है।

भाषा-विवेक के सूत्र

एक बात को कर्कश शब्दों मे कहा जा सकता है, उसे ही सरस तरीके से कहा जा सकता है। कर्कशता भाषा की फूहड़ता है, सरसता एक साधना है। फर्क तथ्य का नहीं, कथ्य का है।

मन में यदि कर्कशता नही है तो भाषा मे कर्कशता नही आ सकती। मन ही यदि कर्कश है तो भाषा कर्कश होने से नही बच सकती। इसीलिए साधक को बोलते समय इस बात का खयाल रखना आवश्यक है कि वह कर्कश न बोले।

कर्कश की तरह ही भाषा-प्रयोग का एक अन्य रूप है कठोर। सत्य कहना आवश्यक है, पर उसे कठोर बनाकर कहना भाषा-विवेक का खडन है। इसीलिए कहा गया कि—सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियं। सत्य बोलो पर ऐसा सत्य बोलो जो प्रिय हो। अप्रिय सत्य मत बोलो।

कभी-कभी ऐसा भी क्षण आता है कि कठोर सत्य को भी प्रकट करना पड़ता है। पर यह आदत नही होनी चाहिए। कठोर सत्य को कहने की भी साधक की तैयारी होनी चाहिए। पर उसके लिए उसे अपने मन को अत्यंत मृदु बनाना होगा। मृदु मन के द्वारा निकला हुआ कटु सत्य थोड़ी देर के लिए कटु महसूस हो सकता है पर अन्ततः वह मृदुता में परिणत होता ही है।

कटुता और स्पष्टता

बहुत सारे लोग इतने व्यावहारिक होते है कि कटु सत्य को व्यक्त करने की हिम्मत ही नहीं करते। यह साधना नहीं, कायरता है। इससे भलाई की नही अपितु बुराई की जड़ें मजबूत होती हैं, जो लोग अपने साथियों से कटु सत्य कहने में केवल इसलिए डरते हैं कि हमसे नाराज हो जायेंगे, वे अपने साथियों के हितेच्छु नही, दुश्मन हैं। साधक वह हो सकता है जो समय पर कटु सत्य को प्रकट करने का भी साहस रखता है। वे हां में हां नहीं मिला सकते। फिर भी उनसे यह अपेक्षा तो है ही कि वे पत्थरबाज होने से बचें। जो लोग सत्यवादिता के नाम पर पत्थरफेंक बात करते है वे अनजाने मे ही दूसरे लोगों को तो पीड़ादायक होते ही हैं, अपने लिए भी स्वयं शत्रुओं की सेना खड़ी कर लेते हैं।

वास्तव में स्पष्टवादिता के लिए आदमी को पात्र होना भी आवश्यक है। यह कभी संभव नहीं है कि सबको एक घाट पानी पिलाया जाये। वह स्पष्टवादिता ही कारगार हो सकती है जो सामने वाले व्यक्ति के दिल को ठेस नहीं पहुंचाये। साथ ही साथ सत्य कहने वाले व्यक्ति के लिए भी यह आवश्यक है कि वह निश्छिद्र हो।

शब्द और भावना

भाषा-विवेक भावना का तो आदर करता ही है, पर वह शब्द को भी अहिंसा का जामा पहनाता है। वास्तव मे भाषा एक अहिंसक शिल्प है।

जो भाषा-विवेक को नही जानता, वह अहिंसा को भी नहीं जानता। जो अहिंसा को नही समझता, वह साधना को भी नही समझ सकता। इसीलिए भाषा साधना के साथ बहुत गहरे अर्थो मे जुडी हुई हैं।

एक इस्लामी कहावत है कि मुह से निकलने वाले हर शब्द को तीन फाटकों से होकर आना चाहिए। पहले फाटक पर दरबान पूछे—क्या यह सत्य है? दूसरे फाटक पर पूछे—क्या यह आवश्यक है? और तीसरे फाटक पर पूछा जाये—क्या यह नेक है? सचमुच भाषा-विवेक का यह एक बहुत बहुत बड़ा निर्देशन है।

धीमे बोलने का अभ्यास करें

जब भी हम बोलते है तो हवा में ध्वनि-तरगे बनती हैं। वे तरंगें पूरे पर्यावरण पर आघात करती है। आज उसे बहुत सूक्ष्मता से माप लिया गया है। उसका वैज्ञानिक मानक है—डेसीबल। वैज्ञानिको ने ध्वनि के विविध रूपों को डेसीबल के रूप में इस तरह व्यक्त किया है—

	डेसीबल
अतिसूक्ष्म श्रवणेन्द्रिय से ज्ञात होने वाली आवाज	१
मनुष्य के हृदय की धड़कन	१०
पेड़ के पत्तों की सरसराहट	२०
रेफ्रिजेटर की गुनगुनाहट	३०-४०
कुत्ते का भौंकना	६५
गुस्से भरी आवाज	८३-८९
तेज दौड़ने वाली ट्रक की आवाज	९०
बड़े कारखानों की आवाज	१२०
जेट विमान की आवाज	१२०
रॉक एंड रोल का तीव्र संगीत	१३८
राकेट की आवाज	१९५

यह एक वैज्ञानिक तालिका है। जब भी हम बोलते हैं, तो ध्वनि-

तरंगें पैदा होती हैं। हम जोर से बोलेंगे, तो ध्वनि तरंगें जोर से उठेंगी, वायु-प्रदूषण बढ़ेगा। धीमे बोलने से हम वायु-प्रदूषण से बच सकते है।

तीव्र आवाज से आदमी की ऊर्जा तो क्षीण होती ही है उसका विचार-तंत्र भी प्रभावित होता है। उससे अभिव्यक्ति का तारतम्य खडित हो जाता है। धीमे बोलकर आदमी अपने वक्तव्य को ज्यादा प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर सकता है। यह एक बहुत ही आध्यात्मिक प्रक्रिया है।

बातचीत करते समय भारतीय लोग बड़े जोर से बोलते हैं। उससे बिना मतलब ऊर्जा नष्ट होती है। विदेशी लोग प्राय. बहुत धीमे-धीमे बोलते हैं। शायद दो आदमियों की बात तीसरे आदमी के कानों में नहीं पड़ती। इससे दूसरों को बिना मतलब विक्षेप नही होता।

ध्वनि-प्रदूषण के दुष्प्रभाव

ध्वनि-प्रदूषण का मनुष्य के शरीर पर विविध रूपों मे प्रभाव होता है। वैज्ञानिको ने इस बात की सूक्ष्मता से खोज की है कि इससे आदमी न केवल बहरा ही हो सकता है अपितु उसकी स्मृति भी क्षीण हो सकती है। बल्कि उसका स्नायु-तंत्र भी विघटित हो सकता है। शहरों तथा कल-कारखानों के आस-पास रहने वाले लोगो पर अनुसधान करने से अनेक चोकाने वाले तथ्य सामने आए है।

नोबल पुरस्कार विजेता डॉ० रोबर्ट ने आज से ७० वर्ष पहले कहा था —"एक दिन ऐसा आयेगा जब हमें मनुष्य के स्वास्थ्य के सबसे बड़े शत्रु के रूप में कोलाहाल से संघर्ष करना पड़ेगा।" लगता है सचमुच आज वह क्षण नजदीक आ रहा है।

ध्वनि से सभी परिचित हैं। यह वही ध्वनि है जिसके बढ़ जाने से व्यक्ति पागल हो सकता है, पाचनशक्ति बिगड़ सकती है, रक्तचाप बढ सकता है, हृदयरोगी की जान खतरे मे पड़ सकती है। ध्वनि की तीव्रता (शोर) के विरुद्ध विश्व भर में एक मुहिम चल रही है। सभी देश शोर के खिलाफ कमर कसे हुए हैं। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि ध्वनि सिर्फ नुकसान ही पहुचाती है। आधुनिक विज्ञान ने इसी ध्वनि का चिकित्सा के क्षेत्र में सफलतापूर्वक उपयोग करना सीख लिया है।

ध्वनि दो प्रकार की होती है। एक श्रव्य, जिसे हम सुन सकते हैं। दूसरी पराश्रव्य, जिसे हम सुन नही सकते। पराश्रव्य ध्वनि-तरंगों की आवृति अधिक होने से वह हमे सुनाई नही पड़ती। पराश्रव्य ध्वनि-तरगो का चिकित्सा के क्षेत्र में सर्वप्रथम उपयोग स्वीडन के डॉ० लेकसैल मे किया था। लेकसैल ने मस्तिष्क में रसौली आदि का पता लगाने के लिए पराश्रव्य ध्वनि का सफलतापूर्वक सहारा लिया था। आज भी लेकसैल विधि से मस्तिष्क की अन्दरूनी खराबी का पता लगाया जाता है।

मस्तिष्क में जासूसी

पराश्रव्य तरंगो से मस्तिष्क के भीतरी हिस्से का ग्राफ (रेखाचित्र) बनाया जा सकता है। मस्तिष्क के अदरूनी भाग का कच्चा चिट्ठा होता है यह ग्राफ। यदि मस्तिष्क में कहीं रसौली या फोड़ा आदि हो तो यह परा-श्रव्य तरंगों की निगाहों से छिप नहीं सकता। तरंगें उसका अता-पता व स्थिति ग्राफ के जरिए बना देती है।

आख जैसे नाजुक अग के ऑपरेशन मे अब तक चिकित्सकों को कई परेशानियों का सामना करना पड़ता था। लैंस व ऐंटीना जैसे महत्त्वपूर्ण भागो मे पराश्रव्य ध्वनि अब वे सब काम करने मे सक्षम है जो पहले छुरी-कांटों के बल पर किया जाता था। लैंस के साधारण ऑपरेशन मे जहां पहले कई सप्ताह या महीनो तक रोगी के घाव नही भर पाते थे, वही जब ध्वनि-ऑपरेशन के बाद एक या दो दिनों मे ही घाव ठीक हो जाते है।

यदि आंख मे कोई वस्तु चली जाए या आंख के भीतरी भाग मे कोई गाठ या ऐसी ही कोई चीज (विकार) उभर जाए तो शल्य-क्रिया के लिए आवश्यक माप-जोख भी पराश्रव्य ध्वनि की मदद से किया जाने लगा है।

स्त्रियों, विशेषकर गर्भवती स्त्रियो के रोगो के निदान मे पराश्रव्य ध्वनि महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इसकी मदद से गर्भ मे भ्रूणो की सख्या ज्ञात की जा सकती है। जब किसी गर्भवती का ऑपरेशन करना होता है तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है—भ्रूण के प्लेसेन्टा की स्थिति को जानना। पराश्रव्य ध्वनि ने यह काम आसान कर दिया है। यदि भ्रूणो मे कोई विकार हो तो उसे भी पराश्रव्य ध्वनि की मदद से दूर किया जा सकता है।

अल्ट्रासोनिक कार्डियोग्राफ

हृदय की जांच के लिए चिकित्सक अकसर ई० सी० जी० (इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ) का सहारा लेते हैं। अब यह कार्य ध्वनि-तरगे करने लगी है। ध्वनि-तरंगों से प्राप्त लेख 'अल्ट्रासोनिक कार्डियोग्राफ' कहलाता है। ध्वनि के गतिमान बिन्दुओं को एक निर्धारित वेग से चलने वाली फिल्म पर अंकित कर यह कार्डियोग्राफ प्राप्त किया जाता है।

ध्वनि-तरंगों से सूक्ष्म रक्तवाहिकाओं का भी रक्तचाप मालूम किया जा सकता है। धमनियों मे कहीं कोई खराबी आ गयी हो, तो उसे भी ध्वनि-तरंगें खोज निकालती हैं। इस विधि को 'ए स्कोन' विधि कहते हैं।

शरीर के अन्य अंगों जैसे यकृत, वृक्क व अग्न्याशय के रोगों को ध्वनि-तरंगें पहचान लेती है। शरीर में कहीं भी रसोली हो, ये तरगें तुरन्त उसका पता-ठिकाना बता देती हैं। सोवियत वैज्ञानिकों ने ध्वनि-तरगो को

मदद से हड्डी या ऊतकों को जोड़ने की नयी तकनीक विकसित की है। इस पद्धति से बांह, हंसुली तथा पसलियों का इलाज किया जाता है। सोवियत अनुसन्धानकर्त्ताओं ने एक और नयी खोज की है। उन्होंने पराश्रव्य ध्वनि से ऊतक काटने की ऐसी पद्धति खोजी है, जिसमें मेहनत तो कम लगती ही है, ऊतकों को हानि नहीं के बराबर पहुंचती है। साथ ही कटाई में सफाई भी उच्च स्तर की होती है।

'ध्वनिजन्य तरंगों का मानव-शरीर पर होने वाला प्रभाव' विषय पर पचीस वर्षों तक गहन अध्ययन करने के बाद, इटालियन वैज्ञानिक डॉ० लेसरल सारियो ने प्रमाणित किया है कि—

१. उच्छ्वास के साथ शब्द-स्वरों के उच्चारण से उत्पन्न प्रकम्पनों से आंतरिक अवयवों का व्यायाम हो जाता है।
२. भीतर के ऊतकों तथा तन्त्रिका-कोशिकाओं की गहराई तक प्रकंपन पहुंचते हैं।
३. इससे ऊतकों तथा अवयवों में रक्त-संचार निर्बाध बनता है और उनमें प्रचुर मात्रा में रक्त की आपूर्ति होने से प्राण-शक्ति प्रदीप्त होती है।

नवीनतम शरीरशास्त्रीय अध्ययन से इस बात का पता चला है कि इन स्पन्दनों का हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर गहरा प्रभाव पड़ता है, जिनके द्वारा हमारी भावधारा चिन्तन एवं आचरण को प्रभावित किया जा सकता है।

ध्वनि-प्रकम्पनों के प्रभाव से अनुकम्पी तथा परानुकम्पी तंत्रिकाओं में एक सुदृढ़ता स्थापित की जा सकती है।

म्युनिख के एक संगीतज्ञ मीटर लुडविग मात्र अपने संगीत से तहखाने में स्थित अपने क्लीनिक में १३ से १६ वर्ष के अत्यधिक असामान्य बच्चों के लिए अभिव्यक्ति के नये उपाय रचने में संलग्न है। उनकी इस चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व परम्परागत चिकित्सक भी असंदिग्ध रूप से मानते हैं।

शब्द और संगीत-चिकित्सा

संगीत आदमी के उल्लसित मन की एक सरस अभिव्यक्ति है। अनादिकाल से आदमी इस माध्यम से अपने मन की कुंठाओं को विसर्जित करता रहा है। **'गांधर्वस्तु पंचमो वेदः'** कहकर वैदिक परम्परा में इसे महत्त्व दिया गया है। श्रमण परम्परा में भी इसे आदर प्राप्त है।

इटली की बात है—तेरहवीं शताब्दी में यहां एक विचित्र प्रकार की बीमारी का प्रचलन हो गया। उसके प्रभाव से आदमी को सोते समय मधुमक्खी के दंश की-सी पीड़ा का अनुभव होता। धीरे-धीरे वह पीड़ा इतनी असाध्य हो जाती कि आदमी उछल-कूद मचाने लगता। वह वस्त्रों को उतार

फेंकता और अश्लील शब्दों का प्रयोग कर धक्का-मुक्की करने लगता। कभी-कभी तो वह सूअर की तरह गन्दे स्थानों में लोटने-पोटने भी लगता। डॉक्टरों को यह रोग समझ मे नहीं आ रहा था। 'फार्डीना सूड' नाम के एक डॉक्टर के पास एक ऐसा ही केस आया। डॉक्टर उस समय वीणा पर संगीत का अभ्यास कर रहा था। उसे सुनकर सहसा रोगी की बीमारी शांत होने लगी। थोड़ी देर मे तो वह पूर्ण रूप से स्वस्थ बन गया। उसके बाद तो इसी पद्धति से डॉक्टर ने अनेक लोगों को स्वस्थता प्रदान की। अंततः वह संगीत एक दवा बन गया।

एक रूसी विज्ञानवेत्ता प्रो० एस० बी० कोदाफ ने कई बार अपने प्रयोगों में सफलता प्राप्त कर लेने के बाद यह परिणाम निकाला है कि संगीत द्वारा आंखों का इलाज किया जा सकता है और जिन आखों की रोशनी धीरे-धीरे कम होती जाती है उनमे संगीत द्वारा इलाज करके लगभग २५ प्रतिशत सुधार आसानी से किया जा सकता है। उक्त वैज्ञानिक ने प्रयोग करके देखा है कि जो घड़िया घटा बजाती है, उनके संगीतमय मधुर स्वर से ही आंखो पर काफी प्रभाव पड़ जाता है।

इस प्रसंग मे रूस की अपेक्षा अमेरिका के प्रयोग तो और भी आश्चर्यजनक है। शिकागो के पागलखाने मे विश्वप्रसिद्ध पियानोवादक मो० बोगुस्लावस्की ने कई बार अनोखे प्रयोग किए। उस पागलखाने मे एक नवप्रसूता इटालियन युवती भरती हुई थी। वह अपने बच्चे से भी भयकर घृणा करती थी। बोगुस्लावस्की ने पागलखाने मे उसे ग्राफ संगीत सुनाया तो न केवल वह अपने बच्चे को ही चाहने लगी अपितु बिलकुल स्वस्थ हो गई।

न्यूयार्क मे विलेन अस्पताल के डॉ० एस० एम० बेंडर ने स्वभावत उत्पाती बच्चो के उपद्रवो को छुडाने का साधन संगीत खोज निकाला है।

ब्रूकलिन के नेत्र और कान अस्पताल के चिकित्सक डॉ० ए० एफ० बर्डमैन ने चीर-फाड़ के समय रोगियों के कान मे ईयरफोन लगाकर ऑपरेशन मे बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की है।

फ्रांस एव अमेरिका की स्वास्थ्य औषध प्रयोगशालाओं में अब तो सैकड़ों विज्ञानवेत्ता संगीत की भावी उपयोगिताओ को लेकर अनेकविध अनुसंधान कर रहे है। एक जर्मन औषध-विशेषज्ञ ने तो सुप्रसिद्ध अग्रेजी औषध अनुसन्धान-पत्र 'लैसेट' में स्पष्ट लिखा है—संगीत मे इतनी बड़ी सभावनाएं दिखाई पड़ती है कि वह समय आने मे बहुत देर नहीं जब रोगियों को देखने के लिए स्टैथेस्कोप और दवाइयों के बक्स के साथ-साथ डॉक्टरों को कुछ मधुर संगीत के रिकार्ड भी अपने पास रखने पड़ेंगे।

संगीत का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं, पशुओं पर भी पड़ता है। स्वीडन तथा रूस के कुछ डेरी फार्मों में प्रयोग करके देखा गया कि संगीत से गायें अधिक दूध देने लगती है; बल्कि आज तो यह भी खोज लिया गया है कि संगीत से पेड़-पौधे भी प्रभावित होते हैं। मंत्रों के प्रभाव से पौधे जल्दी फूलते-फलते हैं। नागपुर के पास खाकरी नामक गांव में कृषि में मंत्रों के प्रभाव पर प्रयोग हो रहे हैं। उनके कुछ परिणाम सामने आए हैं। रासायनिक खाद वाले क्षेत्र में जहां १६ किलो ककड़ी और ३५ किलो बैंगन पैदा हुए वहां अभिमंत्रित जल से सींचे जाने वाले खेत मे ४० किलो ककड़ी और ७० किलो बैंगन पैदा हुए। इन सब प्रयोगों से ध्वनि के भौतिक प्रभावों की एक झलक मिलती है।

ध्वनि-तरंगों का उपयोग आज अनेक रूपों में हो रहा है। हीरे जैसी कठोरतम वस्तुओं को सूक्ष्म-ध्वनि से काटा जा सकता है। पारे और पानी का मिश्रण साधारणतया नहीं होता, पर सूक्ष्म ध्वनि-प्रयोग से यह भी संभव हो सकता है। सूक्ष्म-ध्वनि से कपड़ों की धुलाई हो सकती है।

शब्द की शक्ति

एकलय, एक गति से निरन्तर किए जाने वाले सूक्ष्म आघात का चमत्कार वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में देखा जा चुका है। इस प्रयोग की पुष्टि हो चुकी है कि एक टन भारी लोहे का गर्डर किसी छत के बीचोबीच लटका दिया जाय और उस पर पांच ग्राम के वजन वाले कार्क का निरंतर आघात एक गति, एक क्रम से कराया जाए तो कुछ ही समय बाद गर्डर कांपने लगेगा। पुलों पर से होकर गुजरती सेना को पैर मिलाकर चलने से रोक दिया जाता है। कारण यह है कि लेफ्ट-राइट के ठीक क्रम से तालबद्ध पैर पड़ने से जो एकीभूत शक्ति उत्पन्न होती है, उसकी सामर्थ्य इतनी अद्भुत एवं प्रचंड होती है कि उसके प्रहार से मजबूत पुलों के भी टूटकर गिर पडने की संभावना बन जाती है। इसी प्रकार मंत्र-जप के क्रमबद्ध उच्चारण से भी एक तापक्रम उत्पन्न होता है। फलस्वरूप शरीर के अन्तःसंस्थानों मे विशिष्ट प्रकार की हलचलें उत्पन्न होती हैं जो आंतरिक मूर्च्छना को दूर करने एवं सुषुप्त क्षमताओं को जागृत करने मे सक्षम रहती है।

पदार्थ-विज्ञान के विशेषज्ञ जानते हैं कि इलेक्ट्रो-मैगनेटिक वेव्स पर साउण्ड को सुपर-इम्पोज कर रिकार्ड कर लिया जाता है। फलस्वरूप वे पलक मारते ही सारे संसार की परिक्रमा कर लेने जितनी शक्ति प्राप्त कर लेती हैं। इन शक्तिशाली तरंगों के सहारे ही अंतरिक्ष में भेजे गए राकेटों की उड़ान को धरती पर से नियंत्रित कर उन्हें दिशा देने, उनकी आंतरिक खराबी दूर करने का प्रयोजन पूरा किया जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि शब्द-शक्ति केवल संहारक ही नहीं है। उसके कुछ रचनात्मक उपयोग भी हैं। इस दृष्टि से मंत्र-शास्त्र का अध्ययन एक विशेष महत्त्व रखता है। भाषा-विवेक के अन्तर्गत उसका अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण है।

शब्द-शक्ति के दो चामत्कारिक रूप है—एक काव्य और दूसरा मंत्र। काव्य मे स्तुतियां-स्तोत्र आदि आते हैं।

मंत्र जाप का ही एक रूप है। वह आत्मशक्ति, प्राणशक्ति और चैतन्यशक्ति को जगाने का विज्ञान है। इसके दो विभाग है—एक भक्ति-मार्ग और दूसरा तंत्र-मार्ग। जो लोग श्रद्धावान् और सरल होते हैं उनके लिए भक्ति-मार्ग है। बौद्धिक लोगों के लिए तंत्र का मार्ग है।

मंत्रो के द्वारा जैव-रासायनिक परिवर्तन भी संभव है।

मंत्र-शक्ति आज कोई अजूबा नहीं रह गई है। पूर्व और पश्चिम मे अनेक लोग उस पर अनुसंधान कर रहे है। अनेक स्थानों पर मंत्रों के द्वारा शारीरिक चिकित्सा के प्रयोग हो रहे हैं। फिलिपाइन्स में तो बिना ऑपरेशन के केवल ध्वनि तरंगो के द्वारा ही शरीर की चीर फाड की जा रही है। वैज्ञानिक इस खोज में गहराई मे लगे हुए हैं कि ऑपरेशनों के लिए औजारो की आवश्यकता न रहे।

मंत्र की शक्ति

मत्र के तीन तत्त्व हैं—शब्द, सकल्प और साधना। मत्र का पहला तत्त्व है—शब्द। शब्द मन के भावों का वहन करता है। मन के भाव शब्द के वाहन पर चढकर यात्रा करते है। कोई विचार-संप्रेषण (टेलिपेथी) का प्रयोग करे, कोई सजेसन या ऑटोसजेसन का प्रयोग करे, उसे सबसे पहले ध्वनि का, शब्द का सहारा लेना ही पड़ता है। वह व्यक्ति अपने मन मे भावों को तेज ध्वनि में उच्चारित करता है। जोर-जोर से बोलता है। ध्वनि की तरंगे तेज गति से प्रवाहित होती है। फिर वह उच्चारण को मध्यम करता है, धीरे करता है, मद कर देता है। पहले होंठ, दांत, कंठ, सब अधिक सक्रिय थे, वे मंद हो जाते हैं, ध्वनि मंद हो जाती है। होंठों तक आवाज पहुंचती है पर बाहर नहीं निकलती।

जब मंत्र की मानसिक क्रिया होती है, मानसिक जप होता है तब न कंठ की क्रिया होती है, न जीभ हिलती है, न होंठ और न दांत हिलते है। स्वर-तंत्र का कोई प्रकम्पन नहीं होता।

शब्द अपने स्वरूप को छोड़कर जब प्राण मे विलीन हो जाता है, मन में विलीन हो जाता है, तब वह अशब्द बन जाता है।

मंत्र का दूसरा तत्त्व है—संकल्प। मंत्र-साधक की संकल्प-शक्ति दृढ़ होनी चाहिए। उसकी श्रद्धा और इच्छाशक्ति गहरी होनी चाहिए। प्रत्येक

मंत्र-साधक में यह आत्मविश्वास और संकल्प होना ही चाहिए कि 'मैं अपने अनुष्ठान में अवश्य ही सफल होऊंगा।'

मंत्र का तीसरा तत्त्व है—साधना। जब तक मंत्र-साधक आरोहण करते-करते मंत्र को प्राणमय न बना दे, तब तक वह सतत साधना करता रहे। वह निरंतरता को न तोड़े। साधना में निरन्तरता और दीर्घकालिता—दोनों अपेक्षित हैं।

दीर्घकाल का अर्थ है—जब तक मंत्र का जागरण न हो जाए, मंत्र वीर्यवान् न बन जाए, मन चैतन्य न हो, जो मंत्र शब्दमय था वह एक ज्योति के रूप में प्रकट न हो जाए, तब तक उसकी साधना चलती रहे।

मंत्र स्वयं शक्तिशाली होता है। उसका वर्ण-विन्यास, अक्षर-संरचना शक्तिशाली होती है। एक-एक अक्षर इतना शक्तिशाली होता है कि जिसकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। आप इसे दर्शन की गहराइयों में जाकर समझें। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर 'अ' 'आ' आदि अनन्त पर्यायों से युक्त होता है। प्रत्येक अक्षर के अनन्त पर्याय है। अनन्त अवस्थाएं घटित होती है। हम उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। अक्षर अर्थात् अक्षरणशील। उसका कभी क्षरण नहीं होता। अक्षर तीन है—परमात्मा अक्षर है, आत्मा अक्षर है और वर्णमाला का वर्ण अक्षर है। इनका कभी क्षरण नहीं होता।

आप स्वयं इसका अनुभव करें 'र' 'रं' को लें। इसका उच्चारण करें। मात्र उच्चारण, मात्र ध्वनि। इसके साथ मंत्र की भावना न भी जोड़ें, इसके साथ अन्तर्ध्वनि को न भी जोड़ें, एकाग्रता को न भी जोड़े, केवल रं, रं, रं की ध्वनि करते जाएं। कुछ ही समय बाद आप अनुभव करने लगेंगे कि आपके शरीर में ऊष्मा बढ़ रही है, ताप बढ़ रहा है।

'णमो अरिहंताणं'—इस सप्ताक्षरी मंत्र के जाप से कषाय क्षीण होते हैं। 'णमो अरिहंताणं' के जाप की चौंसठ विधियां हैं। तैजस केन्द्र मे इस मंत्र का ध्यान करने से क्रोध उपशांत होता है, क्षीण होता है। आनंद-केन्द्र में इस मंत्र का ध्यान करने से मान, अहंकार क्षीण होता है। विशुद्धि-केन्द्र में इस मंत्र का ध्यान करने से माया क्षीण होती है। तालु-केन्द्र में इसका ध्यान करने से लोभ क्षीण होता है। इस मंत्र के द्वारा सारे कषाय क्षीण होते हैं। मंत्र से उत्पन्न होने वाली ध्वनि-तरंगों के द्वारा, मंत्र के साथ घुलने वाली भावना के द्वारा, संकल्प-शक्ति और मंत्र के साथ होने वाली गहन श्रद्धा के द्वारा तथा मंत्र के साथ होने वाले इष्ट के साक्षात्कार के द्वारा कषाय नष्ट होते हैं।

मंत्र-शक्ति का यह एक उदाहरणमात्र है।

मंत्र की आराधना की अनेक निष्पत्तियां हैं। ये निष्पत्तियां आंतरिक

भी हैं और बाह्य भी हैं, मानसिक भी हैं और शारीरिक भी हैं। मंत्र की आराधना से जब मंत्र सिद्ध होने लगता है, तब कुछ निष्पत्तियां हमारे सामने प्रकट होती है।

पहली निष्पत्ति है—मन की प्रसन्नता। जैसे-जैसे मंत्र सिद्ध होने लगता है, मन में प्रसन्नता आने लगती है। उस समय न हर्ष, न शोक, न राग, न द्वेष का कोई मैल नहीं रहता।

इसका दूसरा परिणाम है—चित्त की सन्तुष्टि। पदार्थ की उपलब्धि के बिना भी मन संतोष से इतना भर जाता है कि सारी चाह मिट जाती है, कुछ भी नहीं चाहिए।

इसी प्रकार मंत्र की आराधना से स्मृतिशक्ति का विकास होता है, बौद्धिक शक्तियों का विकास होता है और अनुभव की चेतना जागती है। ये मानसिक निष्पत्तियां है, जो प्रत्यक्ष अनुभव में आती हैं।

मंत्र की आराधना का शरीर पर भी प्रभाव होता है। मंत्र की आराधना जैसे-जैसे विकसित होने लगती है, अनायास ही व्यक्ति की आंखों में आसू उछल पड़ते है, शरीर रोमांचित हो जाता है, कंठ गद्‌गद् हो जाता है, वाणी भारी-सी हो जाती है। ये शारीरिक लक्षण प्रकट होने लगते है। स्वास्थ्य का भी परिवर्तन होता है।

जप करने वाला या मंत्र की आराधना करने वाला व्यक्ति क्षय, अरुचि, अग्नि की मंदता आदि-आदि बीमारियों पर नियन्त्रण पा लेता है।

मंत्र की आराधना के द्वारा तैजस शरीर को सक्रिय बनाया जाता है। मंत्र की आराधना का सबसे पहला प्रभाव पड़ता है तैजस शरीर पर। जब तक तैजस शरीर तक मंत्र नहीं पहुंचता, तब तक मंत्र सफल नहीं होता। वह मात्र शब्द का पुनरावर्तन बनकर रह जाता है।

मंत्र की सफलता का सूत्र है—शब्द को आगे पहुंचाते-पहुंचाते, स्थूल शरीर की सीमाओं को पार कर, तैजस शरीर की सीमा में पहुंचा देना।

जब मंत्र तैजस शरीर तक पहुंच जाता है, तब वहां उसकी शक्ति बढ़ जाती है। फिर तैजस शरीर से जो प्राणधारा निकलती है, उससे मंत्र शक्तिशाली बन जाता है। इस स्थिति में शरीर की शक्ति बढ़ जाती है, मन की शक्ति बढ़ जाती है और संकल्प की शक्ति बढ़ जाती है—मन की सारी क्रियाओं की शक्ति बढ़ जाती है।

मंत्र की साधना का बहुत बड़ा परिणाम, उपलब्धि या निष्पत्ति है—संकल्प-शक्ति का विकास।

मंत्र की आराधना जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, संकल्प शक्ति का विकास होता चला जाता है। इससे इच्छा-शक्ति बहुत विकसित होती है, प्रबल होती है। इससे एक प्रकार का कवच हमारे चारों ओर बन जाता है। तब

बाहर का आक्रमण, बाहर का संक्रमण, बाहर का कुप्रभाव उस कवच को भेदकर व्यक्ति की चेतना तक नही पहुंच पाता। वह बाहर ही रह जाता है। आभामण्डल, लेश्याओं का घेरा और एक विचित्र प्रकार का औरा—ये सारे हमारे शरीर के आसपास, चारों ओर एक वलयाकार में बन जाते हैं। यह सारा मंत्रशक्ति का प्रभाव है।

मंत्र एक शक्ति है, ऊर्जा है। उस शक्ति के द्वारा अध्यात्म का दरवाजा बन्द भी किया जा सकता है और खोला भी जा सकता है। समय-समय पर मंत्रों के अनेक प्रयोजन सामने आए हैं। मंत्रों से चिकित्सा होती है। मंत्र द्वारा भयकर बीमारियां नष्ट होती है। मंत्र-साधना के द्वारा व्यक्ति अपनी ऊर्जा को इतना प्रबल बना देता है, आभामण्डल को इतना शक्तिशाली बना देता है, अपने लेश्या के कवच को इतना सूक्ष्म बना देता है कि आने वाले बुरे विचारों के परमाणु उसको प्रभावित नही कर पाते, उनके मस्तिष्क में प्रवेश नहीं कर पाते।

जब सुषुम्ना का उद्घाटन होता है, तब मनुष्य के लिए अन्तर्मुखी, निष्काम और निर्विकार होने का द्वार खुलता है। प्राण की धारा जब सुषुम्ना मे प्रवाहित होने लगती है, तब आध्यात्मिक जागरण प्रारम्भ होता है। अध्यात्म-जागरण का पहला बिन्दु या उस यात्रापथ का पहला चरण है—सुषुम्ना मे प्राणधारा का प्रवेश। मंत्र के द्वारा ऐसा किया जा सकता है। मत्र के द्वारा हम ऐसी सूक्ष्म ध्वनि-तरंगें पैदा करते हैं कि सुषुम्ना के द्वार खुल जाते हैं और व्यक्ति में आध्यात्मिक जागृति की किरण फूट पड़ती है।

अभ्यास

१. जैन जीवन-शैली के मुख्य बिंदुओं का उल्लेख करते हुए स्वास्थ्य-विज्ञान के आधार पर उनकी उपादेयता पर विस्तार से प्रकाश डालें।
२. उपवास का जैन साधना-पद्धति में क्या स्थान है? वैज्ञानिकों की दृष्टि मे उसके मूल्य को बताते हुए उसकी समीक्षा करें।
३. उपवास के अतिरिक्त तप के अन्य प्रकारों की हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है?
४. 'शाकाहार बनाम मांसाहार' का वैज्ञानिक आधारों पर विश्लेषण करते हुए मनुष्य-जाति के लिए कौन-सा अधिक श्रेयस्कर है, उसे सप्रमाण प्रस्तुत करें।
५. धूम्रपान से क्या-क्या हानि होती है? उससे मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए?
६. मद्यपान एवं नशीले पदार्थों से व्यक्तिगत एवं समाज के स्तर पर

होने वाले दुष्परिणामों का विस्तृत आकलन करें।

७. भाषा-विवेक के सन्दर्भ में जैन साधना का वैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यांकन करें।

८. मंत्र-विज्ञान के मौलिक आधार क्या हैं ? आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित शब्द की शक्ति के सन्दर्भ में इनकी चर्चा करें।

५. जैन दर्शन और विज्ञान : सत्य की मीमांसा

(1) नियमवाद

नियंता की अस्वीकृति ने नियम की ओर ध्यान आकर्षित किया। जैन-दर्शन नियता को नहीं मानता, नियम को मानता है। भगवान् महावीर ने चार मुख्य नियमों का प्रतिपादन किया—द्रव्यादेश, क्षेत्रादेश, कालादेश और भावादेश। आदेश का अर्थ है—अपेक्षा। किसी भी घटना, विषय-वस्तु का ज्ञान करना हो तो कम से कम इन चार नियमों से उसकी समीक्षा करें और उसके बाद निर्णय लें। यह नियमवाद सत्य की खोज का सिद्धांत है। जैन दर्शन ने प्रत्येक व्यक्ति को सत्य की खोज का अधिकार दिया है। केवल अमुक व्यक्ति ही सत्य का खोजी नहीं हो सकता; प्रत्येक मनुष्य हो सकता है। **'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'**—स्वयं सत्य की खोज करो। यह बहुत वैज्ञानिक बात है।

नियमवाद : जैन-दर्शन की मौलिक प्रस्थापना

सत्य की खोज का अर्थ है नियमों की खोज। नियमों की खोज ही सत्य की खोज है। वैज्ञानिक पहले नियम को खोजता है, फिर नियम की खोज के आधार पर कार्य करता है। धर्म के क्षेत्र में कहा गया—नियमों की खोज करो। जैन-दर्शन ने नियमों को खोजा है और नियमों का काफी विस्तार किया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये चार दृष्टियां जैन-दर्शन में ही उपलब्ध है, अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हैं। उत्तरकाल में जैनाचार्यों ने इनका विकास किया। चार आदेशों के स्थान पर पांच समवायों का विकास हुआ है—स्वभाव, काल, नियति, पुरुषार्थ, भाग्य या कर्म। ये पांच समवाय चार दृष्टियों का विकास है। इन पंच समवायों को समाहित किया जाये तो ये सारे चार दृष्टियों में समाहित हो जाते हैं। अगर विभक्त किया जाए तो ये पांच उत्तरवर्ती दृष्टियां और चार पूर्ववर्ती दृष्टियां—आठ नियम प्रस्तुत होते है। (काल दोनों में है। इसलिए आठ दृष्टियां होंगीं।) इन दृष्टियों के द्वारा समीक्षा करके ही किसी सचाई का पता लगाया जा सकता है, किसी घटना की समीक्षा या व्याख्या की जा सकती है। इनके बिना एकांगी दृष्टिकोण से वास्तविकता का पता नहीं चलता, मिथ्या धारणाएं पनप जाती हैं।

एकान्तवाद से बचने का सिद्धान्त

सम्यग्दर्शन का सिद्धांत नियमों के बिना चल नहीं सकता। तत्त्वज्ञान के विषय में दृष्टिकोण का सम्यक् होना आवश्यक है। प्रत्येक घटना और वस्तु के बारे में भी व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् होना चाहिए, एकांगी नहीं होना चाहिए। एकांगीवाद और मिथ्या एकांतवाद से बचने के लिए नियमवाद का सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसकी घटनाओं के साथ व्याख्या करें, जीवन-संदर्भ के साथ व्याख्या करें तो नियमवाद का एक उदात्त पक्ष उजागर हो सकता है।

(अ) संदर्भ : जन्म और मृत्यु का

जीवन का पहला संदर्भ है—जन्म और मरण। मनुष्य जन्मता है और मरता है, यह एक चक्र है। यह क्यों होता है? इसका नियम क्या है? आदमी क्यों जन्म लेता है और क्यों मरता है? जन्म लेना एक नियति है, अनिवार्यता है। जब तक आत्मा कर्मबद्ध है, तब तक व्यक्ति जिएगा मरेगा। इसका एक नियम है नियति और दूसरा नियम है काल। एक काल के बाद प्रत्येक वस्तु को बदलना होता है, वह उसी रूप में रह नहीं सकती। काल-मर्यादा भी इसका एक नियम है।

नियामक एक ही नहीं है

तीसरा नियम है—कर्म। आयुष्य-कर्म के परमाणुओं को भोगना है। जितने समय तक आयुष्य-कर्म के परमाणु पूरे हुए, भोग लिए गए, मृत्यु हो जाएगी।

चौथा नियम है—स्वभाव। वह भी अपना काम करता है। द्रव्य का स्वभाव है कि वह परिवर्तित होता रहता है। द्रव्य में ध्रौव्यांश अपरिवर्तनांश है तो साथ-साथ में परिवर्तनांश भी है, अध्रौव्यांश भी है। द्रव्य में परिणमन होता है, पर्याय बदलता है। एक पर्याय (अवस्था) है जन्म और दूसरा पर्याय है मरण। यह पर्याय का चक्र चलता है। इस प्रकार अनेक नियम मिलकर जन्म और मरण की व्यवस्था का सम्पादन कर रहे हैं। इस भाषा में भी कहा जा सकता है—अनेक नियमों के प्रयोग से जन्म और मरण की व्यवस्था संपादित हो रही है।

(ब) सन्दर्भ रोग का

जीवन का दूसरा संदर्भ है—रोग। जन्म के बाद एक बड़ी स्थिति आती है रोग की। रोग क्यों होता है? अनेक लोग सोचते हैं—असातवेदनीय कर्म का उदय है इसलिए यह रोग हो गया, किन्तु यदि इसकी समीक्षा करें तो यह बात समीचीन नहीं ठहरती। केवल असातवेदनीय कर्म ही रोग का कारण नहीं बनता। रोग के अनेक कारण हैं और अनेक नियम हैं। एक

नियम है—क्षेत्र । क्षेत्र संबधी रोग होता है । एक व्यक्ति अमुक गाव में गया और बीमार हो गया । वहां से बाहर जाते ही वह बिना दवा के ठीक हो जाएगा । एक नियम है—काल । काल-जनित रोग पैदा होते हैं । सर्दी के मौसम में एक प्रकार के रोग पैदा होते हैं और गर्मी के मौसम में दूसरी प्रकार के रोग पैदा होते हैं । लू का प्रकोप गर्मी के मौसम मे होगा, सर्दी के मौसम में नहीं होगा । शीतजनित बीमारिया सर्दी मे होंगी, गर्मी मे नही होगी । प्रातःकाल एक रोग उपशांत होगा और रात्रि मे, मध्य रात्रि में वह रोग भयकर बन जाएगा ।

एक नियम है—अवस्था । अवस्था-जनित रोग होता है । अमुक अवस्था मे एक प्रकार की बीमारी होगी, पहले वह नही होगी । एक नियम है—भाव । अमुक भाव में बीमारी होगी । क्रोध का भाव तीव्र हो गया तो अमुक बीमारी पैदा हो जाएगी । आजकल इस पर बहुत काम हुआ है विज्ञान के क्षेत्र मे । किस प्रकार का मनोभाव किस प्रकार की बीमारी मनोदैहिक (Psycho-somatic) रोग को जन्म देता है—इस विषय में बहुत खोज हो रही है । भाव भी इसका एक कारण है, नियम है ।

कर्म एक नियम है

आयुर्वेद मे एक प्रकार का रोग माना गया—कर्मज रोग, जो कर्म से उत्पन्न होता है । कर्म एक नियम है । कुछ बीमारिया ऐसी हैं, जिन्हें कर्मज कहा जा सकता है । असातवेदनीय कर्म के उदय से होने वाला रोग कर्मज कहा जा सकता है । किन्तु सब रोगों को कर्मज माना जाए, यह समीचीन नही लगता । रोग आने पर असातवेदनीय का उदय हो जाता है । अप्रिय कर्म का योग होता है, दुःख का संवेदन होता है, यह ठीक बात है किन्तु सब रोग असातवेदनीय के उदय से होते हैं—यह विमर्शनीय है । ऐसा नही होना चाहिए । दुःख का निमित्त होना एक बात है और असातवेदनीय के उदय से पैदा होना बिलकुल दूसरी बात है ।

कर्म सर्वत्र नियामक नहीं

एक आदमी चल रहा था । ठोकर लगी और पैर मे दर्द हो गया । असातवेदनीय के उदय से यह बीमारी आई, ऐसा तो नही कहा जा सकता । किन्तु ठोकर लगी, दर्द हुआ और असातवेदनीय कर्म का उदय हो गया, यह कहा जा सकता है । रोग का एक नियम हो सकता है—कर्म, किन्तु उसे सर्वत्र नियामक नही माना जा सकता । नियमों की समीक्षा किए बिना शायद पूरी बात समझ में नही आती । क्षेत्र सम्बन्धी रोग होते हैं, काल सबंधी रोग होते हैं । कीटाणुजनित रोग होते हैं, बहुत सारे रोग संक्रामक होते हैं । एक संक्रामक बीमारी फैली, हजारों-हजारों आदमी एक साथ

बीमार हो गए। वह असातवेदनीय से उत्पन्न रोग नहीं है किन्तु उस रोग ने असातवेदनीय कर्म का उदय ला दिया। यदि समग्र दृष्टि से रोग के बारे में नियमों की समीक्षा की जाए तो एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत हो पाएगा।

(ख) संदर्भ नींद का

जीवन का एक सन्दर्भ है—नीद। व्यक्ति के जीवन को नीद बहुत प्रभावित करती है। जब नीद आनी चाहिए, तब बहुत सारे व्यक्तियों को नीद नहीं आती और जब नीद नही आनी चाहिए, तब लोगो को नीद आ जाती है। ध्यान के समय मे नीद नही आनी चाहिए, स्वाध्याय के समय मे नीद नही आनी चाहिए किन्तु नीद आ जाती है। सोते समय नीद आनी चाहिए किन्तु उस समय बहुत लोगों को घटों तक नीद नही आती। वे बिस्तर पर इधर-उधर करवटें बदलते रहते है। नीद जीवन के साथ जुड़ा हुआ एक पहलू है। प्रश्न होता है—नीद का क्या नियम है? उसे कौन प्रभावित करता है? इसका पहला नियम है—काल। काल और नीद का बहुत गहरा सम्बन्ध है। दिन नीद का काल नही है। नीद का काल है—रात्रि। दिन मे सोना और रात मे न सोना—दोनों स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल नही माने जाते। आयुर्वेद का सिद्धांत है—दिन मे नही सोना चाहिए या बहुत नही सोना चाहिए। केवल गर्मी के दिनो मे दिन मे सोया जा सकता है, और दिनो में दिन मे सोना उपयुक्त नही माना जा सकता। काल का नियम है नीद के साथ जुड़ा हुआ। सहज नीद रात मे जितनी अच्छी आती है, दिन में उतनी अच्छी नही आती। यदि आती है तो अधिक आलस्य पैदा कर देती है।

अपराध भी नींद में

दूसरा नियम है कर्म का। नीद का कर्म के साथ भी सम्बन्ध है। जब दर्शनावरणीय कर्म के परमाणु व्यक्ति को प्रभावित करते हैं, तब व्यक्ति नीद मे चला जाता है। एक व्यक्ति बहुत नीद लेता है। उसका निदान नही होता। बहुत प्रयत्न करता है, पर नीद आए बिना नही रहती। इस स्थिति की समीक्षा करना अपेक्षित है। न आहार का कारण, न कफ की प्रधानता और न वायु की प्रधानता। बिलकुल स्वस्थ है और फिर भी नीद बहुत आती है तो वहां दूसरा नियम खोजना होगा। वह नियम होगा—कर्म। निश्चित ही उस व्यक्ति के दर्शनावरणीय कर्म की अधिकता है। उसका विपाक बहुत होता है, इसलिए वह नीद मे चला जाता है। कुछ लोग बहुत सघन निद्रा मे चले जाते हैं। इतनी सघन निद्रा, जिसे स्त्यानर्धि निद्रा कहा जाता है। जिस नीद मे आदमी अकरणीय काम कर लेता है, असंभावित काम कर

लेता है और उसे पता ही नही चलता। ऐसी होती है स्त्यार्नाध नींद। नींद में उठकर चला जाता है, किलोमीटरों तक चला जाता है, किसी का दरवाजा खोल आता है, चोरी कर आता है, किसी को मार आता है, कहीं से कोई चीज उठाकर ले आता है और वापस आकर सो जाता है। उसे पता ही नहीं चलता कि उसने कुछ किया है। ऐसी घटनाएं (जिसे मनोविज्ञान में Somnambulism कहा जाता है) आज भी कहीं-कहीं मिलती हैं। समाचार-पत्रों में ऐसे विवरण प्रकाशित होते हैं। इतनी गाढ़ निद्रा के मूल कारण को शरीर में नहीं खोजा जा सकता। इसका कारण है—कर्म।

निदान से परे का सच

बहुत बार बीमारी की अवस्था के और इस प्रकार की नीद की अवस्था के शारीरिक कारण भी खोजे जाते हैं। किन्तु कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं—डॉक्टरों के द्वारा सारे निदान करा लिये, निदान में बिलकुल बीमारी नही आ रही है और मैं बहुत भयकर बीमारी भुगत रहा हूं। इसका क्या कारण है? उपकरण नही बता पा रहे हैं कि यह व्यक्ति बीमार है और वह व्यक्ति भयकर दुःख भोग रहा है। वहा केवल शरीर को ही नियम मानकर सत्य को, वास्तविकता को नहीं खोजा जा सकता। वहां शरीर से आगे खोजना होता है। उस बीमारी का कारण है—असातवेदनीय कर्म। वह कर्म के कारण भुगत रहा है। बीमारी का कोई लक्षण प्रकट नही हो रहा है किन्तु असातवेदनीय का प्रबल उदय हो गया इसलिए वह कष्ट को भोग रहा है। यह सत्य की खोज का बहुत व्यापक दृष्टिकोण बनता है। जैन-दर्शन ने इस दृष्टिकोण को बहुत व्यापक बनाया है और इस व्यापक दृष्टिकोण से सत्य की बहुत समीक्षा की है, मीमांसा की है।

(ब) संदर्भ : अमीरी और गरीबी का

जीवन से जुड़ा हुआ एक सदर्भ है—गरीबी और अमीरी। आदमी गरीब क्यों बनता है, आदमी अमीर क्यों बनता है? यह एक आम धारणा है कि जिसने अच्छा कर्म किया था, वह अमीर बन गया और जिसने बुरा कर्म किया था वह गरीब बन गया। यह एक सचाई हो सकती है, एक नियम हो सकता है किन्तु इसे व्यापक नियम नहीं कहा जा सकता। अनेक नियम इसमें काम करते है। एक नियम है—क्षेत्र। क्षेत्र कर्म के उदय मे निमित्त बन सकता है। एक क्षेत्र ऐसा है, जहां पैदा होने वाला आदमी बहुत गरीबी भोगता है और एक क्षेत्र ऐसा है, जहां पैदा होने वाला सहज ही अमीर बन जाता है। हमारे सामने एक घटना है—अरब देशों में जब तक तेल उपलब्ध नही हुआ, अमीरी नही थी, बहुत गरीबी थी और प्राकृतिक साधन भी बहुत कम थे। न वहां विशेष खेती थी, न कोई और रोजगार के

अच्छे साधन थे किन्तु जैसे ही तेल उपलब्ध हुआ, वे देश दुनिया के अमीर देशों में मुख्य बन गए। यह अमीरी किस कर्म के उदय से हुई? एक साथ ऐसा कैसे हुआ? सबके एक साथ शुभ कर्मों का उदय हो गया, ऐसा नही माना जा सकता। यदि इस बात की गहराई में जाकर नियमों को खोजा जाए तो इसका नियम उपलब्ध होगा—क्षेत्र।

भविष्यवाणी मिथ्या क्यों होती है ?

काल का भी एक नियम है। गरीबी और अमीरी मे काल भी कारण बनता है। अमुक व्यक्तियो पर या अमुक-अमुक स्थानो पर सौर-विकिरण का अमुक प्रकार का प्रभाव होता है। काल का अर्थ है—सूर्य चन्द्रमा की गति यानी सौर-मंडल की गति और सौर-मंडल के विकिरण। पूरा का पूरा ज्योतिषशास्त्र इस आधार पर विकसित हुआ है। ज्योतिषशास्त्र बहुत वैज्ञानिक सिद्धांत है। प्रस्तुत प्रसंग मे उस ज्योतिष से सम्बन्ध नही है जिसके द्वारा फलित बताने में बहुत गड़बड़िया होती हैं। इसका कारण है—भविष्यवाणी करने वाले को पूरे नियमो का पता ही नही होता। वे एक बात को लेकर भविष्यवाणी कर देते है। इसलिए वह भविष्यवाणी अनेक बार मिथ्या प्रमाणित होती है। जब ज्योतिष के पूरे नियमों का पता नही होता, तब अनेक मिथ्या धारणाए बन जाती है और उन धारणाओ के आधार पर ये भविष्यवाणी करने वाले लोगों को बहुत गुमराह कर देते है। किसी को बताते हैं—तुम्हारे लड़का पैदा होगा और पांच दिन के बाद लड़की हो जाती है। किसी को बताते है—तुम्हारा कारखाना बहुत चलेगा और सात दिन बाद दिवाला निकल जाता है। ये सामने आई हुई घटनाए है। ये भविष्यवाणियां व्यक्ति को गुमराह करती हैं।

ज्योतिर्विज्ञान : एक नियम

ज्योतिर्विज्ञान का अर्थ है—काल-चक्र के आधार पर होने वाली घटनाओं का विश्लेषण और वह बहुत सही निकलता है। कब किस प्रकार के ग्रहों की गति होती है और उस गति के क्या परिणाम आते है, यह बिलकुल वैज्ञानिक बात है। इसे गणित ज्योतिष कहा जाता है। कुछ व्यक्ति हस्तरेखा देखकर चार-पांच मोटी-मोटी बातें जान लेते है और उसके आधार पर फलित बता देते है। कुण्डली देखते हैं और भविष्यवाणी कर देते है। इस पाखण्डवाद ने ज्योतिर्विज्ञान को धूमिल बना दिया, सदेहास्पद बना दिया। वास्तव में ज्योतिर्विज्ञान एक बहुत बड़ा नियम है। कब सूर्य, चन्द्र आदि-आदि ग्रहों की गति और उनके विकिरण किस प्रकार के होते हैं और कब व्यक्ति उनसे प्रभावित होता है—यह सारा ज्योतिर्विज्ञान से जाना जा सकता है। इन नियमों का विस्तार किया गया ज्योतिर्विज्ञान में। किस महीने में, किस ऋतु

में और किस राशि में किस प्रकार का विकिरण होता है और वह व्यक्ति के शरीर को किस प्रकार प्रभावित करता है। यदि हार्ट को पुष्ट करना है तो किस राशि में उसको पुष्ट किया जा सकता है ? यदि मस्तिष्क को पुष्ट करना है तो किस राशि में उसको पुष्ट किया जा सकता है। प्रत्येक अवयव के साथ राशि और ऋतु का चक्र जुड़ा हुआ है। ज्ञान को विकसित करना है तो कब करना चाहिए। जैन आगमों में अध्ययन के विशेष काल का निर्देश दिया गया है। प्रश्न पूछा गया—स्वाध्याय प्रारम्भ करें तो कब करें। उत्तर दिया गया—पुष्य नक्षत्र में या अमुक-अमुक नक्षत्र में अध्ययन शुरू करें। अमुक दिशा में बैठकर अध्ययन शुरू करें। यह दिशा का निर्देश, काल का निर्देश बहुत सार्थक है। उस समय किया गया स्वाध्याय का प्रारम्भ बहुत फलदायी होता है और बहुत ग्राह्य बनता है।

प्रभाव सौरमंडल के विकिरणों का

यह काल का प्रभाव है। उसके नियम गरीबी और अमीरी के साथ भी जुड़े हुए है। अमुक प्रकार का सौर-मंडल का या ब्रह्माण्डीय विकिरण अमुक प्रकार के व्यक्ति को प्रभावित करता है तो गरीबी की स्थिति बन जाती है। बहुत लोग कहते हैं—हमने बहुत प्रयत्न किया, व्यावसायिक बुद्धि और पुरुषार्थ का भी बहुत उपयोग किया, बहुत चेष्टाएं की, प्रयत्न किए, अनेक लोगों से सम्बन्ध स्थापित किए किन्तु अब तक सफलता नहीं मिली, गरीबी बनी की बनी रही। समाज मे ऐसी घटनाएं बहुत होती हैं और इनका कारण हो सकता है—कोई काल विपरीत चल रहा है, सौर-मंडल के विकिरण विपरीत काम कर रहे हैं। जब कोई अवसर आता है, वे व्यक्ति के कार्य की निष्पत्ति में बाधक बन जाते हैं। एक नियम है—पुरुषार्थ। श्रम-हीनता, श्रमविमुखता गरीबी को बढ़ाती है और श्रम की प्रचुरता गरीबी को कम करती है, गरीबी को मिटाती है। एक नियम है—कर्म। जिस व्यक्ति के असातवेदनीय कर्म का उदय अति तीव्र होता है, उसकी गरीबी को मिटाना मुश्किल बन जाता है। इस प्रकार अनेक नियमों को जानकर ही इस प्रश्न की समीक्षा की जा सकती है।

(ई) संदर्भ भाव का

जीवन का एक संदर्भ है—भाव। एक दिन में मनुष्य को अनेक भावों का सामना करना होता है। क्रोध, अहंकार, लोभ आदि-आदि मनोभाव बदलते रहते हैं। एक आदमी ने कहा—मुझे दिन में गुस्सा कम आता है और रात को ज्यादा आता है। किसी को अमुक व्यक्ति पर गुस्सा ज्यादा आता है, किसी को अमुक स्थिति में गुस्सा ज्यादा आता है, ऐसा क्यों होता है ? किसी व्यक्ति को अमुक स्थान मे जाने पर गुस्सा आ जाता है। इसका क्या कारण

है ? इस प्रश्न के संदर्भ में नियमों के समवाय अनुशीलन आवश्यक है। स्थानांग सूत्र मे चार कारण बतलाए गए है । उनमें पहला कारण है—क्षेत्र । एक क्षेत्र के प्रकंपन ऐसे होते है, जहा जाते ही आदमी के भाव बिगड जाते है और एक क्षेत्र के प्रकंपन ऐसे होते हैं, जहां जाते ही आदमी के भाव अच्छे बन जाते हैं, गुस्से के भाव शांत हो जाते है। नेपाल में भवन बनाते समय मिट्टी का परीक्षण किया जाता है। वहां यह एक शास्त्र—विद्या चल पड़ी है। नेपाल में इस प्रकार के ज्योतिर्विज्ञानी हैं, जो मिट्टी का परीक्षण करते है। परीक्षण के बाद बतलाते है—यहा की मिट्टी के प्रकम्पन किस प्रकार के है। वे आपके लिए लाभप्रद होंगे या हानिकारक ? क्षेत्र के आधार पर यह पूरा विज्ञान विकसित हुआ है।

मूड क्यों बिगड़ता है ?

मूड बिगड़ने का एक ही कारण नही है। उसका एक नियम है—काल। प्रातःकाल मूड कम बिगड़ेगा और गर्मी का समय है तो मूड जल्दी बिगड़ जाएगा। व्यक्ति का अलग-अलग समय पर अलग-अलग मूड होता है। पर जिस सिद्धात का विकास हुआ है, उसे स्वर-विज्ञान मे, स्वरोदयशास्त्र में बहुत स्थान दिया गया है। किस समय किस प्रकार का भाव भीतर चलता है—इस आधार पर सारे कार्यो का निर्णय करना चाहिए। अनेक आदमी जानते हैं कि अभी लाभ का दुघडिया है, शुभ का दुघडिया है, अमृत का दुघड़िया है। ये सारे व्यक्ति पर प्रभाव डालते हैं। एक समय होता है, व्यक्ति का भाव बहुत शात रहता है, प्रसन्न रहता है, मूड बहुत अच्छा रहता है। दूसरा समय आया, उसी व्यक्ति का उसी दिन मे भाव विगड जाता है, मूड बिगड जाता है। वह बिलकुल बदला हुआ-सा लगता है। यह वही व्यक्ति है, ऐसा विश्वास नही होता। एक ही व्यक्ति के भाव कितने बदल जाते हैं, उसके पर्याय कितने बदल जाते हैं, इसे नियमवाद के आधार पर ही समझा जा सकता है।

नियमन का सिद्धांत है—नियमवाद

जीवन के सदर्भ में नियमवाद का यह संक्षिप्त अनुशीलन है। नियमो का जैन-साहित्य मे बहुत विकास हुआ है। उसमे बहुत सारे नियम ग्रथित हैं। अगर सारे नियमों का सकलन किया जाए तो पूरा एक नियमशास्त्र बन जाए, नियमो का एक महाग्रथ बन जाए, उसके आधार पर नियमों की समग्र व्याख्या की जा सकती है। जैन-दर्शन नियता को नही मानता, ईश्वर को नही मानता। वह नियमन के सिद्धान्त को नियमवाद के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है। वह मानता है—हर व्यक्ति और पदार्थ के अपने-अपने नियम हैं और वे नियम अपना काम करते है। ईश्वरवादी यह कहकर छुट्टी पा सकता है कि

भगवान् की ऐसी मर्जी थी, ऐसी इच्छा थी, अतः ऐसा हो गया पर एक अनीश्वरवादी यह कहकर छुट्टी नही पा सकता। उसके सामने बड़ा जटिल मार्ग है। ईश्वरवाद का मार्ग बहुत सरल मार्ग है। ईश्वर का अस्वीकार बड़ा जटिल कार्य है। इससे व्यक्ति के सामने स्वयं निर्णय करने का प्रश्न आता है, नियमों की खोज का प्रश्न आता है। इस प्रश्न के सदर्भ में जैन-दर्शन ने नियमों की जो खोज की है, वह खोज बहुत उपयोगी है, उसका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

आधुनिक विज्ञान में नियमवाद

आधुनिक विज्ञान का सारा विकास नियमवाद के आधार पर हुआ है। भौतिक विज्ञान में न्यूटन से लेकर आइस्टीन तक उन मौलिक नियमों को खोजने का प्रयत्न किया गया है जिनके आधार पर जगत् की प्रक्रियाओं की व्याख्या की जा सके। आधुनिक विज्ञान के 'परमाणुवाद'[1] द्वारा समस्त व्यावहारिक प्रक्रियाओ को समझाने का प्रयत्न काफी सफल हुआ है। जीव-विज्ञान के रहस्यों को भी भौतिक विज्ञान एव रासायनिक विज्ञान के मौलिक नियमों के आधार पर उद्घाटित करने मे वैज्ञानिक काफी आगे बढ़े है। अस्तु, नियमवाद को आधुनिक विज्ञान का मूल स्तभ माना जा सकता है।

(II) ईश्वरवाद : कर्मवाद

अज्ञात रहस्यों को समझने के लिए दार्शनिको ने अनेक सिद्धान्त स्थापित किए। कर्म के विषय में भी अनेक सिद्धात स्थापित है। कुछ दार्शनिक केवल कर्मवादी हैं। कुछ कर्मवाद को मानते है पर ईश्वरवाद के सहचारी के रूप मे उसे स्वीकार करते है। वे केवल कर्मवाद को नही मानते।

सृष्टि है परिवर्तनात्मक

जैन दर्शन कर्मवादी दर्शन है। ईश्वर का सिद्धान्त मान्य नही है। ईश्वर के लिए तीन कार्यों की कल्पना की गई—(१) सृष्टि का कर्त्ता होना चाहिए, (२) नियता होना चाहिए, (३) अच्छे और बुरे कार्य का फल भुगताने वाला होना चाहिए। सृष्टि के कर्त्ता, सृष्टि के नियता और कर्म-फल के भोग देने वाले, नियोजन करने वाले—ईश्वर की कल्पना के पीछे ये तीन मुख्य तत्त्व काम करते हैं। जैन दर्शन ने जगत् को अनादि माना, इसलिए उसे ईश्वर की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नही हुई।

सृष्टि का नियन्ता कोई नहीं

जैन दर्शन जगत् को भी मानता है और सृष्टि को भी मानता है।

---

१. इसी पुस्तक के नवें प्रकरण में इसकी विस्तृत चर्चा की जाएगी।

जगत् अनादि है, प्रत्येक पदार्थ अनादि है। प्रत्येक पदार्थ में परिणमन होता है, जीव और पुद्गल के सयोग से वैभाविक परिवर्तन होती है। वह सृष्टि है। सृष्टि जीव और पुद्गल के द्वारा संपादित होती है। जीव और पुद्गल के अतिरिक्त किसी तीसरी सत्ता को मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

दूसरा प्रश्न है नियमन का। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि का नियंता कोई नही है। अगर कोई नियन्ता है, सर्वशक्तिमान है तो सृष्टि इस प्रकार की नही होती। इस त्रुटिपूर्ण व्यवस्था वाली सृष्टि के लिए अगर ईश्वर को नियन्ता मानें और साथ-साथ में सर्वशक्तिमान भी मानें तो दोनो मे अन्तर्विरोध जैसा उपस्थित हो जाता है। यदि सृष्टि का कर्ता सर्वशक्तिमान है तो व्यवस्था इतनी त्रुटिपूर्ण नहीं होगी। यदि वह सर्वशक्तिमान नही है तो वह सारी सृष्टि का अकेला नियमन नही कर सकता। यह नियन्ता वाली बात सगत प्रतीत नही होती।

सृष्टि का नियमन नियम के द्वारा

जैन दर्शन ने नियन्ता की आवश्यकता अनुभव नही की। उसका सिद्धान्त है नियम। सृष्टि का नियमन नियम के द्वारा होता है, नियंता के द्वारा नही होता। हमारे जगत के कुछ सार्वभौम नियम है, जो अकृत्रिम है, किसी के द्वारा बनाए हुए नहीं हैं। जीव-पुद्गल के स्वयभू नियम है और वे नियम अपना काम करते है।

एक जीव को मोक्ष जाना है तो वह अपने नियम से जाएगा। एक पुद्गल को, परमाणु को बदलना है तो वह अपने नियम से बदलेगा। एक परमाणु एक गुणा काला है और उसे अनन्त गुना काला होना है तो वह अपने नियम से होगा। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का जितना परिवर्तन है वह सारा अपने नियम से होगा। निर्धारित समय पर उसे निश्चित रूप से बदलना ही पडेगा। यह प्राकृतिक नियम है, सार्वभौम नियम है और इस नियम से सारा नियमन हो रहा है। यह सारी ओटोमेटिक व्यवस्था है, स्वयंकृत व्यवस्था है। बाहर से कृत या आरोपित व्यवस्था नही है, इसलिए नियता की आवश्यकता प्रतीत नही होती।

कर्तृत्व : भोक्तृत्व

तीसरा प्रश्न है—कर्म का फल देने वाला कोई होना चाहिए। जैसे चोरी करने वाला चोर अपने आप उसका फल नही भुगतता। कोई न्यायाधीश होता है, दंडनायक होता है, जो उसे दंडित करता है, फल देता है, वैसे ही सारे जगत को अच्छे और बुरे कर्म का फल देने वाला भी कोई होना चाहिए। इस आधार पर कर्मफल-दाता की आवश्यकता कुछ दार्शनिको ने महसूस की। किंतु जैन दर्शन ने इस आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। जैन दर्शन का

मंतव्य है—कर्म करने और उसका फल भोगने की शक्ति स्वयं जीव में निहित है। उसे बाहर कहीं से लाने की आवश्यकता नहीं है। अपना स्वयं का कर्तृत्व और अपना स्वय का भोक्तृत्व—दोनों उसमें समाहित हैं। इन तीन स्थितियों के आधार पर जैन दर्शन को ईश्वर की आवश्यकता दार्शनिक दृष्टि से महसूस नहीं हुई।

प्रयोजनवादी दृष्टि

एक संदर्भ है प्रयोजन का। प्रयोजनवादी दृष्टि से भी कुछ प्रश्न उभरते हैं—ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण क्यों किया? वह क्यों जगत के प्रपंच में आया और वह क्यों सबकी व्यवस्था और नियमन करता है। वह अच्छा करने वाले को अच्छे फल देता है और बुरा करने वाले को बुरा फल देता है। वह ऐसा क्यों करता है। उसका प्रयोजन क्या है? यह बड़ा जटिल प्रश्न है ईश्वर-वादी के सामने। प्रयोजनवादी तर्क जब सामने आता है तो उसका संतोष-जनक समाधान नहीं मिलता। यदि करुणा प्रयोजन है तो प्रश्न होगा—यह प्रयोजन कब पैदा हुआ? यदि कहा जाए—जिस दिन ईश्वर जन्मा, उसी दिन प्रयोजन पैदा हो गया तो इसका अर्थ होगा—ईश्वर और जगत् का जन्म एक साथ हुआ। यदि ईश्वर पहले था और प्रयोजन कभी बाद में हुआ तो प्रश्न आएगा—प्रयोजन बाद मे क्यो पैदा हुआ पहले क्यो नही हुआ? उसका प्रयोजन आखिर क्या था? उत्तर दिया गया—करुणा थी प्रयोजन। ईश्वर के मन मे करुणा जागी और उसने सृष्टि का निर्माण कर दिया।

एकोऽहं बहुस्याम्

यह करुणावादी प्रयोजन वाली सृष्टि नहीं है। जहा इतनी क्रूरता और इतना आतंक है वहां करुणावादी दृष्टिकोण सफल नहीं होता। करुणा की बात समझ मे नही आती। दूसरे भी जितने प्रयोजन हैं उनकी कोई संगत व्याख्या सामने नही आती। इन सारे दार्शनिक बिन्दुओ के आधार पर जैन दर्शन ने ईश्वरवाद के अस्तित्व को नकार दिया। कहा जाता है—ईश्वर को अकेला रहना अच्छा नहीं लगा इसलिए उसने सोचा—'**एकोऽहं बहु स्याम्**' मैं बहुत हो जाऊं। इसलिए वह एक से बहुत हो गया। जिस प्रकार से ईश्वर की कल्पना है, उससे यह बात भी सगत नहीं लगती।

ईश्वरवाद : धार्मिक दृष्टिकोण

हमारे सामने तीन दृष्टिकोण हैं—धार्मिक दृष्टिकोण, नैतिक दृष्टिकोण और दार्शनिक दृष्टिकोण। इन तीनों बिन्दुओं पर ईश्वरवाद की यह अव-धारणा सम्यक् नहीं उतरती।

जब प्रगति और परिवर्तन का अधिकार मनुष्य को नहीं है तो ईश्वर का अस्तित्व उसे संकट में डालने वाला है। मनुष्य न प्रगति कर सकता और

न परिवर्तन कर सकता। जैसा है वैसा ही रहे। ये दोनों जब मनुष्य के हाथ में नही है तो धार्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर का अस्तित्व उसके लिए खतरनाक बन गया। इस धारणा ने रूढ़िवाद एवं निराशावाद को जन्म दिया और इसी निराशावादी दृष्टिकोण ने मनुष्य को अकिंचित्कर बना दिया।

ईश्वरवाद : नैतिक दृष्टिकोण

नैतिक दृष्टि से विचार करें—यदि मनुष्य का संकल्प स्वतंत्र नही है तो वह अपने कृत के प्रति उत्तरदायी नही हो सकता। वही व्यक्ति कृत के प्रति उत्तरदायी हो सकता है जिसका संकल्प स्वतंत्र है। व्यक्ति का संकल्प उसे अपने कृत के प्रति उत्तरदायी बनाता है। यदि कृत स्वतंत्र नही है, ईश्वर ने जैसा कराया वैसा उसने कर लिया तो अच्छे और बुरे का उत्तरदायी क्यों बनेगा? ईश्वर ने अच्छा कराया तो अच्छा कर लिया और बुरा कराया तो बुरा कर लिया। उत्तरदायी कराने वाला है या करने वाला है?

एक यंत्र उत्तरदायी नही हो सकता। एक लौह-मानव (Robot) थोड़ी दूर चलता है और फिर गोली दागता है। प्रश्न प्रस्तुत होता है—उसका उत्तरदायी कौन है? क्या वह लौहमानव है, यन्त्र-मानव है, रोबोट है? बिल्कुल नही। उत्तरदायी है चलाने वाला। मनुष्य जिस प्रकार चलाता है, यंत्र-मानव उसी प्रकार चलता है। यदि मनुष्य वैसा ही यंत्र-मानव या लौह-मानव है तो वह अपने कृत का उत्तरदायी नही हो सकता। नैतिक दृष्टि से यह एक बड़ी समस्या पैदा हो जाती है नैतिकता की बात एक प्रकार से समाप्त हो जाती है।

कर्मवाद के तीन सिद्धांत

जैन दर्शन ने इस पर समग्रता से विचार किया। उसने पहला सूत्र दिया कर्मवाद का। हर आत्मा की स्वतंत्रता कर्मवाद का पहला आधार है। यदि व्यक्ति का संकल्प स्वतंत्र नही है तो वह अपने कृत के प्रति उत्तरदायी नही हो सकता। संकल्प करने में वह स्वतन्त्र है इसलिए कृत के प्रति उत्तरदायी है। वह अच्छा करता है तो उसका फल अच्छा होता है और बुरा करता है तो बुरा होता है। अच्छे और बुरे का जिम्मेवार वह स्वयं है। यह संकल्प की स्वतंत्रता कर्मवाद का पहला सिद्धांत है।

कर्मवाद का दूसरा सिद्धांत है—कृत का नैतिक जिम्मेवार व्यक्ति स्वयं है। वह अपने कृत के प्रति नैतिक दायित्व से अलग नही हो सकता। कोई भी काम करता है तो उसे यह उत्तरदायित्व लेना होगा कि इसके लिए मैं स्वयं जिम्मेवार हूं।

कर्मवाद का तीसरा सिद्धांत है—व्यक्ति को प्रगति और परिवर्तन

का अधिकार है। छोटे-से-छोटे प्राणी को भी ये दोनों अधिकार उपलब्ध हैं। एक एकेन्द्रिय प्राणी अपना विकास करते-करते पंचेन्द्रिय तक पहुंच जाता है, मनुष्य तक पहुंच जाता है, मुनि बन जाता है। आध्यात्मिक उत्क्रांति के पथ पर चलते-चलते वह वीतराग बन जाता है, केवली बन जाता है, मुक्त आत्मा भी बन जाता है। यह आध्यात्मिक उत्क्रांति का अधिकार प्रत्येक आत्मा को उपलब्ध है। प्रत्येक आत्मा इस उत्क्रांति के आधार पर आत्मा से परमात्मा बन सकती है।

अधिकार है परिवर्तन एवं प्रगति का

प्रश्न होता है—आज मनुष्य जैसा है, क्या वह वैसा ही रहे ? या अपने आपको बदल सके ? जैन दर्शन ने व्यक्ति को परिवर्तन का अधिकार दिया है। उसने कहा—हर आदमी बदल सकता है परिवर्तन कर सकता है। अगर परिवर्तन हो तो व्यक्ति की सारी साधना, तपस्या व्यर्थ बन जाए। इस बात में विश्वास नहीं किया जा सकता कि जो जैसा है वैसा ही रहेगा। जिसका स्वभाव जैसा है वैसा ही रहेगा। ऐसा वह मान सकता है, जिसने परिवर्तन को अस्वीकार किया है।

जैन दर्शन परिवर्तन और प्रगति को स्वीकार करता है इसलिए उसमे तपस्या और साधना का मूल्य है। यदि उन्हे अस्वीकार किया जाए तो तपस्या और साधना का मूल्य समाप्त हो जाता है। क्रोध, अहंकार, लोभ, अभिमान, माया भय, कामवासना आदि-आदि जितने मोहकर्म के विकार है उन सबको बदला जा सकता है, उनमें परिवर्तन किया जा सकता है। यह व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्रता है। इसी आधार पर साधना की पद्धति का विकास हुआ। तपस्या, ध्यान, स्वाध्याय—इनका विकास परिवर्तन के सिद्धांत के आधार पर हुआ है। यह परिवर्तन का सिद्धांत नहीं होता तो साधना और तपस्या का कोई अर्थ नही होता। ध्यान, स्वाध्याय और तपस्या—तन सबका विकास परिवर्तन के सिद्धांत के आधार पर हुआ है।

परिवर्तन का आधार

परिवर्तन का आधार है - संकल्प की स्वतंत्रता। इस स्वतंत्रता ने ऐसा मार्ग दिया है, जिसमे न रूढ़िवाद के पनपने की जरूरत है, न निराशा-वाद के पनपने की जरूरत है और न पलायन की जरूरत है।

जैन धर्म निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया है। स्वयं को बदला जा सकता है, प्रत्येक क्षण बदला जा सकता है। इसी आधार पर स्वतंत्रता का सिद्धांत सार्थक बनता है।

एकांगी धारणा

जैन दर्शन ने कर्मवाद के सिद्धांत को स्वीकार किया, किन्तु कर्मवाद

ईश्वरवाद का स्थान नहीं ले सकता। ईश्वरवादी कहते हैं—ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता, एक पत्ता भी नहीं हिलता। यदि जैन दर्शन यह मान ले कि कर्म के बिना कुछ भी नहीं होता तो ईश्वरवाद और कर्म के सिद्धांत में कोई अंतर नहीं रह पाता। कर्म स्वयं ईश्वर के स्थान पर बैठ जाता है।

जो कुछ होता है वह सब कर्म से होता है। यह बिल्कुल एकांगी धारणा है। जैन दर्शन के अनुसार यह सही नहीं है, उचित नहीं है। कर्मवाद से सब कुछ नहीं होता। कर्म का स्थान सीमित है। एक सीमित स्थान में कर्म से कुछ होता है, किन्तु सब कुछ नहीं होता।

कर्म का कर्तृत्व नहीं है

कर्म हमारी कृति है किन्तु कर्तृत्व उसका नहीं है। कर्तृत्व है आत्मा का। कृति का प्रभुत्व नहीं हो सकता। प्रभुत्व कर्तृत्व का हो सकता है। यदि व्यक्ति द्वारा किया हुआ कर्म सब कुछ बन जाए तो कर्ता गौण बन जाए। कर्ता का तो कोई अर्थ ही नहीं रहे। कर्म में कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व व्यक्ति के भीतर उसके संकल्प में है। यदि कृति और कर्ता का भेद स्पष्ट होता है तो कर्म को उतना ही मूल्य मिलेगा, जितना कि उसका मूल्य है।

मिथ्या अवधारणाएं

भगवान महावीर ने कर्म को बहुत लचीला माना है। कहा गया—**'सुचिन्ना कम्मा सुचिन्ना फला भवंति दुचिन्ना कम्मा दुचिन्ना फला भवंति।'** अच्छे काम का अच्छा फल होता है और बुरे कर्म का बुरा फल होता है—यह एक सामान्य बात है। किन्तु इसके अपवाद बहुत हैं। कृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, यह भी एक सामान्य सिद्धांत है। जब तक कर्म से सारे अपवादों को, विशेष नियमों को नहीं जाना जाता तब तक कर्म की बात पूरी समझ में नहीं आती। कर्म को सब कुछ मान लेने पर एक निराशावादी धारणा, भाग्यवादी धारणा बन जाती है और आदमी अकर्मण्य होकर बैठ जाता है। यह मिथ्या धारणा है। वह सोचता है—मैं क्या करूं ? कर्म का फल ऐसा ही था, कर्म का योग ऐसा ही था। मेरे कर्म में ऐसा ही लिखा है।

कर्मवाद में पुरुषार्थ का मूल्य

पुरुषार्थ और कर्मवाद को कभी अलग नहीं किया जा सकता। ईश्वरवादी धारणा में यदि पुरुषार्थ नहीं होता है तो आश्चर्य की बात नहीं है किन्तु यदि कर्मवादी धारणा में पुरुषार्थ नहीं होता है तो इससे बड़ा कोई

आश्चर्य नहीं। यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। पुरुषार्थ और कर्मवाद का जोड़ा है। इन्हें कभी अलग नहीं किया जा सकता किन्तु कर्मवाद को सही न समझने के कारण पुरुषार्थवादी दर्शन भी अकर्मण्य दर्शन जैसा बन जाता है।

महावीर पुरुषार्थवाद के सशक्त प्रवक्ता

भगवान महावीर ने कर्म के विषय में अनेक सिद्धांत दिए। पुरुषार्थ के द्वारा कर्म को भी बदला जा सकता है। एक व्यक्ति ने बहुत अच्छा कर्म किया, क्षयोपशम भी हुआ और पुण्य का बन्ध भी हो गया। किंतु कुछ समय बाद उसने बहुत बुरे कर्म किए और उसका परिणाम हुआ—उसने जो अच्छा किया, वह बुरे में संक्रांत हो गया। एक व्यक्ति ने बहुत बुरा किया, किंतु उसने बाद में बहुत अच्छे कार्य किए, यह सम्भव है कि उसका बुरा कर्म अच्छे में संक्रांत हो जाए। यह संक्रमण का सिद्धांत है।

यह संक्रमण का सिद्धांत है। कर्म के विषय में यह एक अपवाद है और यह पुरुषार्थ से सम्भव बना है। जैन दर्शन ने निरन्तर पुरुषार्थ पर बल दिया। भगवान महावीर ने कहा—पुरुष! तू पराक्रम कर! यह परम पुरुषार्थ की प्रेरणा भाग्यवाद को चकनाचूर कर देने वाली प्रेरणा है। भारतीय चिंतन और दर्शन में पुरुषार्थवाद पर जितना बल महावीर ने दिया, उतना किसी दूसरे ने दिया या नहीं, यह खोज का विषय है।

नियामक कौन ?

कर्मवाद और पुरुषार्थवाद—इन दोनों का अस्वीकार है ईश्वरवाद। जहां ईश्वरवाद है वहां न कर्मवाद की आवश्यकता है और न पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जब ईश्वरवाद में ईश्वर के द्वारा सही व्यवस्था नहीं बैठी तो कर्मवाद को भी बीच में लाना पड़ा। पूछा गया—अच्छा और बुरा फल आदमी कैसे भुगतता है ? उत्तर दिया गया —ईश्वर भुगताता है। पुनः प्रश्न उभरा—ईश्वर किसी को अच्छा या बुरा फल क्यों देता है ? उत्तर दिया गया—व्यक्ति जैसा कर्म करता है, ईश्वर उसको वैसा ही फल देता है।

कर्मवाद के बिना व्यवस्था संगत हो ही नहीं सकती। इसलिए ईश्वरवाद में भी कर्मवाद को मानना पड़ा। आखिर सब कुछ कर्मवाद से ही होना है। अच्छे और बुरे का नियामक कर्म है तो उसके लिए किसी ईश्वर को बीच में लाने की आवश्यकता नहीं है। कर्मवाद से जो हो जाता है उसके लिए किसी ईश्वर की और अपेक्षा करना प्रक्रिया-गौरव है। तर्कशास्त्र में कहा गया—

प्रक्रियागौरवं यत्र, तं पक्षं न सहामहे।
प्रक्रियालाघवं यत्र, तं पक्षं रोचयामहे।।

जिसमें प्रक्रिया का गौरव होता है, उस पक्ष को सहन नहीं किया जा सकता। जिसमें प्रक्रिया का लाघव होता है, वही पक्ष रुचिकर हो सकता है।

विज्ञान भी प्रक्रिया-गौरव को स्वीकार करता है। न्यूनतम नियमों से किसी प्रक्रिया की व्याख्या करना वैज्ञानिक सिद्धांत है।

वास्तविक सचाई : व्यावहारिक सचाई

'सब जीव समान हैं' यह निश्चयनय की बात है, वास्तविक सचाई है, व्यावहारिक सचाई नहीं है। व्यवहारनय की दृष्टि से सब जीव समान नहीं है। उनमे भेद है और वह भेद कर्मकृत है—कर्म के द्वारा वह भेद किया गया है। एक एकेन्द्रिय जीव है, एक पंचेन्द्रिय जीव है। एक समनस्क है, एक समनस्क है। एक बहुत विकासशील है, एक बहुत अवरुद्ध विकास वाला है। यह जो विकास का तारतम्य है, भेद है वह सारा कर्म के द्वारा होता है। प्रत्येक आत्मा की स्वभावगत समानता और कर्मकृत विविधता—निश्चय-नय और व्यवहारनय की दृष्टि से ये दोनो सचाइयां मान्य हैं। आचारांग सूत्र में कहा गया है—कोई आत्मा हीन नही है, कोई आत्मा अतिरिक्त नही है। इसका अर्थ है—वास्तविक दृष्टि में कोई आत्मा हीन नही, कोई अतिरिक्त नही। व्यवहार दृष्टि से हीन भी है और अतिरिक्त भी है। ये सारी सचाइयां कर्मवाद के सन्दर्भ में ही स्पष्ट हो पाती है। इसलिए कर्मवाद जैन दर्शन का एक प्रमुख सिद्धात बन गया। उसका सहचारी सिद्धात है पुरुषार्थवाद। कर्म-वाद और पुरुषार्थवाद के आधार पर उसने ईश्वरवाद के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया।

आधुनिक विज्ञान

आधुनिक विज्ञान मे ईश्वर-कर्तृत्ववाद के स्थान में प्रकृति के नियमों को प्रतिष्ठित किया गया है। प्रकृति के सारे रहस्यों के उद्घाटन का दावा विज्ञान नही करता। अभी आत्मा, कर्म (पुद्गल) आदि के विषय में विज्ञान का अनुसन्धान जारी है।

(III) कार्य-कारणवाद

एक कपड़ा है। प्रश्न हुआ—'कपड़ा किससे बनता है?'
उत्तर मिला—'रूई से बनता है।'
'रूई कहां से आई?'
'कपास के पौधे से।'
'कपास का पौधा किससे बना?'
'वनस्पति के जीव और पुद्गल—दोनों का योग मिला, कपास का

पौधा बन गया।'

कपड़े का कारण है रूई, रूई का कारण है कपास और कपास का कारण है जीव तथा पुद्गल का योग।

प्रश्न और आगे बढ़ा—जीव किससे बना, परमाणु किससे बना। प्रश्न रुक जाता है, थम जाता है। इसका कोई उत्तर नहीं हो सकता। जीव के बारे में कोई कारण नहीं बताया जा सकता, परमाणु के बारे में कोई कारण नहीं बताया जा सकता। कारण की खोज यहां समाप्त हो जाती है।

जीव कार्य नहीं है और उसका कोई कारण नहीं है। परमाणु कार्य नहीं है और उसका भी कोई कारण नही हैं। तर्कशास्त्र का सिद्धांत है—हर वस्तु में कार्य-कारण खोजो। वह एक स्थूल तथ्य है। व्यवहार के क्षेत्र में यह नियम लागू हो सकता है किन्तु सूक्ष्म जगत् में कार्य-कारण के सिद्धांत का कोई अर्थ नहीं है। सूक्ष्म जगत् में न कोई किसी का कारण होता है और न कोई किसी का कार्य। जीव और परमाणु का अपना अस्तित्व होता है, उनका कोई कारण नही होता। यदि परमाणु का कोई कारण माना जाए तो कारण की शृंखला अनन्त बन जायेगी। वह कहीं थमेगी ही नहीं। तर्कशास्त्र में इसे अनवस्था दोष कहा जाता है। जीव का कारण मानने पर भी कार्य-कारण की शृंखला का कहीं अन्त नहीं होगा।

प्रश्न निरपेक्ष सत्य का

सत्य के दो प्रकार हैं—सापेक्ष सत्य और निरपेक्ष सत्य। कुछ दार्शनिकों ने कहा—जैन दर्शन में जितने सत्य हैं, वे सारे सापेक्ष हैं। कोई निरपेक्ष सत्य नहीं है। ईश्वरवादी ईश्वर को निरपेक्ष सत्य मानते है किन्तु जैन दर्शन में निरपेक्ष सत्य का कोई स्थान नही है। कपड़ा सत्य है किन्तु सापेक्ष सत्य है। अभी कपड़ा है और वह दस दिन में बदल जाएगा। सब कुछ सापेक्ष।

वस्तुतः निरपेक्ष सत्य क्या है? यह एक बहुत बड़ा प्रश्न रहा है। यदि इस प्रश्न पर तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाए तो जैन दर्शन के सामने यह कोई उलझन नही है। उसमें दोनो सत्य स्वीकार्य हैं। पञ्चास्तिकाय निरपेक्ष सत्य है। वह किसी की अपेक्षा से नहीं है, किसी कारण से नही है। वह कारण और अपेक्षा से मुक्त एक अहेतुक सत्य है। उसके पीछे कोई अपेक्षा नही है, कोई हेतु नहीं है। वह अपने स्वभाव से सत्य है। अस्तित्व स्वाभाविक है, वहां कार्य-कारण का सिद्धांत समाप्त हो जाता है।

अनादि परिणमन है निरपेक्ष सत्य

जैन दर्शन का एक सिद्धांत है—पारिणामिक भाव। उसे दो भागों

में विभक्त किया गया—अनादि पारिणामिक और सादि पारिणामिक। जो मूल तत्त्व हैं, अस्तित्व हैं, वे अनादि पारिणामिक हैं। उनके परिणमन का आदि बिन्दु किसी को ज्ञात नही है। अस्तित्व का निरन्तर परिणमन होता रहता है, अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता रहता है, उसका कोई आदि बिन्दु नही खोजा जा सकता। पंचास्तिकाय, काल, लोक-अलोक ये सब अनादि पारिणामिक हैं।

दूसरा है सादि पारिणामिक। मकान बना। पहले मकान नहीं था, मकान बन गया—यह सादि परिणमन है। कपड़ा नहीं था, कपडा बन गया, यह सादि परिणमन है। मनुष्य नहीं था, मनुष्य बन गया—यह सादि परिणमन है।

निराधार भ्रम

जितने सादि परिणमन हैं, उनमें कार्य-कारण को खोजा जा सकता है। जितने अनादि परिणमन है, उनमे कार्य-कारण को खोजने की कोई अपेक्षा नहीं होती। सादि परिणमन है सादि सत्य और अनादि परिणमन है निरपेक्ष सत्य।

'जैन दर्शन में निरपेक्ष सत्य की स्वीकृति नही है' यह भ्रम निराधार है, अहेतुक है। जैन दर्शन मे निरपेक्ष सत्य का स्पष्ट उद्घोष है। जितने मूल अस्तित्व हैं, अनादि परिणमन हैं, वे सब निरपेक्ष सत्य हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल—ये सब निरपेक्ष सत्य हैं। लोक और अलोक भी निरपेक्ष सत्य हैं। इनके अतिरिक्त जितने भी सादि परिणमन हैं, वे सब सापेक्ष सत्य है। सापेक्ष सत्य में ही कार्य-कारण को खोजा जा सकता है।

कारण के तीन प्रकार

तर्कशास्त्र में तीन प्रकार के कारण माने गये हैं—उपादान कारण, निमित्त कारण और निवर्तक कारण, सहयोगी या सहकारी कारण। घड़ा बनाया जाता है, उसका उपादान कारण है मिट्टी। उसका निवर्तक कारण है कुम्हार। उसके बनाने में जिन उपकरणों का प्रयोग होता है, वे हैं निमित्त कारण। जितने सादि परिणमन हैं उनमे इन तीनो कारणों को खोजा जा सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि तीनों कारण सर्वत्र उपलब्ध हों। उपादान कारण का होना अत्यन्त अनिवार्य है। सादि परिणमन और निमित्त भी अनिवार्य है। किन्तु निवर्तक सर्वत्र हो, यह आवश्यक नही है। घड़े और मकान के निर्माण मे कर्त्ता की जरूरत होती है। आकाश में बादल बनते हैं। उनका कोई कर्त्ता नहीं है। यह स्वाभाविक परिणमन है। जहां स्वाभाविक परिणमन होता है, वहां कर्त्ता की जरूरत नहीं होती, दो कारण मिलकर कार्य

की निष्पत्ति कर देते हैं। जो कार्य स्वाभाविक नहीं होते हैं, कृत होते हैं, उनमें तीनों कारण उपलब्ध होते है।

सृष्टि के निर्माण का प्रश्न

कार्य और कारण की शृंखला पर अनेकांत दृष्टि से विचार आवश्यक है। अनेक दार्शनिक सर्वत्र कार्य-कारण की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। सृष्टि का प्रारम्भ ईश्वर से होता है। ईश्वर कर्त्ता है और सृष्टि उसका कार्य है। इससे उपादान का प्रश्न और अधिक उलझ जाता है। ईश्वरवाद और कार्य-कारणवाद का भी परस्पर एक संबंध रहा है। कार्य-कारणवाद के आधार पर ईश्वर को स्वीकार किया जाता है। एक तर्क प्रस्तुत होता है—'घड़ा एक कार्य है तो उसका कर्त्ता भी होना चाहिए। अगर सृष्टि कार्य है तो उसका कर्त्ता भी होना चाहिए। और उसका जो कर्त्ता है, वही ईश्वर है। यह तर्क भी बहुत सुलझा हुआ नही है। इस सन्दर्भ में अनेक प्रश्न उभर जाते हैं। ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया है। उसने संकल्प से किया या उपादान से? अगर उपादान मौजूद थे और सृष्टि का निर्माण किया तो परमाणुओं के संघात से किया या ऐसे सकल्प से ही कर दिया? ईश्वर ने सकल्प किया और सृष्टि बन गई। कामघट की कहानी विश्रुत है। चिन्तामणि व्यक्ति के पास है, संकल्प किया और सृष्टि तैयार हो गई, वस्तु तैयार हो गई। क्या सकल्प से सृष्टि का निर्माण हुआ या परमाणुओं के सघात से सृष्टि का निर्माण हुआ? यह दार्शनिक जगत् का बहुचर्चित प्रश्न है।

उपादान मूल कारण है

यदि परमाणु आदि की सामग्री से सृष्टि का निर्माण हुआ है तो इसका अर्थ होगा ईश्वर भी अनादि है और परमाणु आदि का जगत् भी अनादि है। इस दृष्टि से सृष्टि का निर्माण कोई विशेष बात नहीं है। जैसे एक कुम्हार घड़ा बनाता है, एक शिल्पी मूर्ति का निर्माण करता है वैसे ही किसी ने सृष्टि का निर्माण कर दिया। इसे विलक्षण घटना नही माना जा सकता।

प्रश्न है सामग्री का। सामग्री, उपादान मूल कारण है। उसे अनादि माने बिना कहीं व्यवस्था बैठती नहीं है। जैन दर्शन का यह स्पष्ट अभ्युपगम है—प्रत्येक पदार्थ अनादि है। चेतन और अचेतन—दोनों अनादि हैं।

कार्यकारण सर्वत्र मान्य नहीं

जैन दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है— जितने पदार्थ कल थे, उतने ही आज हैं, उतने ही आगे रहेंगे। एक भी परमाणु न कम होगा और

न ज्यादा होगा। जितने थे, उतने हैं और उतने ही रहेंगे। यह त्रैकालिक व्यवस्था है। न किसी को बनाने की जरूरत और न किसी के नष्ट होने की अपेक्षा। न कोई बनता है और न कोई बिगड़ता है, केवल परिवर्तन होता है, परिणमन होता है, रूपांतरण होता है।

'सब अपने स्वरूप में हैं' इसी आधार पर अनेकांत के इस सिद्धांत—नित्या-नित्यवाद का विकास हुआ। अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ नित्य है और दर्शन की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अनित्य है। जैन दर्शन के अनुसार न किसी को नित्य कहा जा सकता है और न किसी को अनित्य कहा जा सकता है। अगर परमाणु नित्य है तो आत्मा भी नित्य है। यदि परमाणु अनित्य है तो आत्मा भी अनित्य है। अगर आत्मा मरता है तो परमाणु भी मरता है और परमाणु अमर है तो आत्मा भी अमर है। आत्मा और परमाणु—दोनों अमर हैं, दोनों मरणधर्मा है। इन दोनों में परिवर्तन होता भी है, परिवर्तन नहीं भी होता। जैन दर्शन मे कार्य-कारण को सर्वत्र नियमित नहीं किया गया। प्रत्येक कार्य के पीछे कारण होना ही चाहिए, यह सिद्धात जैन दर्शन मे सम्मत नही है। जहां केवल सादि परिणमन होता है, वहां यह सिद्धांत लागू हो सकता है। अन्यत्र इसकी कोई अपेक्षा नही है।

जगत् : दार्शनिक जगत् का अहं प्रश्न

दार्शनिक जगत् का एक अहं प्रश्न है—यह जगत् क्या है? जिस जगत् मे हम जी रहे हैं, वह क्या है? इसका बहुत सीधा उत्तर है—अनादि और सादि परिणमन का योग, इसका नाम है जगत्। कुछ अनादि परिणमन है, वे सूक्ष्म है, मूल तत्त्व हैं। जो मूल तत्त्व है, सूक्ष्म है वे अदृश्य रूप मे काम आ रहे है। जीव सूक्ष्म तत्त्व है, परमाणु सूक्ष्म तत्त्व है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये अमूर्त्त है। पुद्गल मूर्त्त है।

जगत् को दो भागो मे बाटा गया—दृश्य जगत् और अदृश्य जगत्। चार तत्त्वों का जगत् अदृश्य जगत् है, काल भी अदृश्य है। केवल पुद्गल का जगत् दृश्य बनता है। किन्तु सभी पुद्गल हमारे लिए दृश्य नही बनते। दो प्रकार की परिणतियां होती है—एक सूक्ष्म परिणति और दूसरी स्थूल परिणति। जिन पुद्गलो की परिणति स्थूल बन जाती है, उन्हें आंख के द्वारा देखा जा सकता है। जिनकी परिणति सूक्ष्म रहती है, उन्हे आंख के द्वारा नही देखा जा सकता। जैसे-जैसे शक्ति का विकास होता है, अदृश्य दृश्य बनते चले जाते हैं। चर्मचक्षुओं से जिन वस्तुओं को नही देखा जा सकता, उन्हें वर्तमान मे माइक्रोस्कोप के द्वारा देखा सकता है, सूक्ष्म यान्त्रिक उपकरणों के द्वारा देखा जा सकता है। हमारी इन्द्रियो की पटुता यन्त्र के माध्यम से और अधिक बढ जाती है। एक अतिशयज्ञानी, अवधि-

ज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी सूक्ष्म पुद्गल को देख सकता है। अमूर्त्त पदार्थ को सर्वज्ञ के सिवाय कोई नहीं देख सकता। अवधि, मनःपर्यव, प्रातिभ, जातिस्मरण आदि ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति सूक्ष्म पुद्गलों को देख सकते है। जो पुद्गल चर्मचक्षु के विषय नहीं बनते, वे अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय बन जाते हैं।

दृश्य जगत् क्या है ?

सारा दृश्य जगत् दो भागों में बंट जाता है—चक्षु से देखा जाने वाला दृश्य जगत् और अतिशय ज्ञान के द्वारा देखा जाने वाला दृश्य जगत्। अदृश्य दृश्य कैसे बनता है ? सूक्ष्म स्थूल परिणति कैसे होती है ? सूक्ष्म को स्थूल कौन करता है ? ये प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन ने इन पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया है। इनमें ईश्वर-कर्तृत्व स्वीकार करने की कोई अपेक्षा नहीं है। सूक्ष्म से स्थूल बनने की प्रक्रिया जीव और पुद्गल के संयोग से स्वाभाविक रूप से स्वतः चलती है, चल रही है।

सारा दृश्य जगत् जीव-शरीर का जगत् है। एक कपड़ा वनस्पति-कायिक जीव का शरीर है। एक पत्थर पृथ्वीकायिक जीव का शरीर है। पानी, जो प्यास बुझाता है, अप्कायिक जीव का शरीर है। आग अग्नि-कायिक जीव का शरीर है। हवा चल रही है, स्पर्श के द्वारा उसका बोध होता है, वह वायुकायिक जीवों का शरीर है। मनुष्य त्रसकायिक जीवों का शरीर है। इस जगत् का प्रत्येक दृश्य पदार्थ जीव का शरीर है।

दृश्य जगत् के दो विकल्प बनते है—जीवित शरीर और जीवमुक्त शरीर। जितना दृश्य जगत् है, जो दिखाई दे रहा है, वह जीवयुक्त या जीवमुक्त शरीर है। प्रत्येक व्यक्ति जीवित शरीर को देखता है अथवा मृत शरीर को। दृश्य जगत् के ये दो ही विकल्प हैं। उसका तीसरा कोई विकल्प नहीं है। जैन दर्शन के दो प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द हैं—सचित्त और अचित्त। जिसमे जीवन विद्यमान हो, वह सचित्त शरीर है। जिसका जीव चला गया, जो मृत हो गया, वह अचित्त शरीर वाला होता है।

यह नियम अत्यन्त व्यापक है कि जो दृश्य जगत् है, स्थूल जगत् है, वह सारा का सारा जीव का शरीर है। जीव के द्वारा उसका स्थूलीकरण हुआ है।

(IV) अनेकान्तवाद

हम पर्याय को जानते है, द्रव्य को नहीं जानते। हमारा सारा दृष्टि-कोण पर्यायवाची है। हम मनुष्य को जानते हैं, आत्मा को नहीं जानते। हम पशु को जानते हैं आत्मा को नहीं जानते। हम कीड़े-मकोड़े को जानते है, आत्मा को नहीं जानते। हम पेड़-पौधों को जानते हैं, आत्मा को नहीं

जानते । पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, गाय-भैंस और आदमी मूल वस्तु नहीं हैं, मूल द्रव्य नही हैं ये सब पर्याय हैं। मूल द्रव्य सदा पर्दे के पीछे रहता है। जो सामने आता है, वह उसका एक कण या एक पर्याय होता है। हम पर्याय को देखते हैं, द्रव्य को नहीं देखते। इसीलिए हमारा आग्रह पर्याय मे आबद्ध हो जाता है।

सरल है पर्याय का दर्शन

पर्याय का दर्शन बहुत सरल है। इसीलिए पर्यायवादी दर्शन बहुत वैज्ञानिक दर्शन लगता है। पर्यायवादी दर्शन जो सामने है, उसका निरूपण करता है और जो सामने नहीं है, उसको अस्वीकार कर देता है। यह बहुत सीधा मार्ग है। जो सामने था, उसको व्याकृत कर दिया गया और जो सामने नही था उसको अव्याकृत कर दिया गया। यह पर्यायवादी दर्शन है। मनुष्य एक पर्याय है किन्तु क्या वह पर्याय ही है ? पर्यायवाद के आधार पर पहले और पीछे की बात नही सोची जा सकती, केवल वर्तमान की बात सोची जा सकती है। मनुष्य पर्याय है। उससे पहले क्या था और बाद में क्या होगा, पर्यायवाद के आधार पर इसका निर्धारण नही किया जा सकता। जो व्यक्ति अभी है, वह बाद में क्या होगा और वह पहले क्या था, यह पर्याय-वादी दृष्टिकोण मे नही सोचा जा सकता।

दो दृष्टिकोण

एक दर्शन का दृष्टिकोण है—जो दृश्य है, वह सचाई नही है। उस दर्शन का स्वर इस रूप प्रकट हुआ—**ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या**। ब्रह्म सत्य है और यह जगत् मिथ्या है। जो दिख रहा है, वह असार है, मिथ्या है। दूसरे दर्शन का दृष्टिकोण है—प्रत्येक पर्याय वर्तमान है, क्षणिक है। समाप्त होने के बाद कुछ भी नही होता। यह सिद्धांत पर्याय के आधार पर चलता है। जितने पर्याय है, वे सब मिथ्या है। एक दृष्टि से विचार करें तो पर्याय मिथ्या है, यह कहना भी असगत नही है। पर्याय को मिथ्या कहा जा सकता है। जो अभी है वह बाद मे नही भी हो सकता है। उसे मिथ्या, झूठ, माया या धोखा मान लें तो कोई अस्वाभाविक बात नही लगती।

हमारे सामने दो दृष्टिकोण है। एक दृष्टिकोण पर्याय को सत्य बतला रहा है और दूसरा दृष्टिकोण पर्याय को मिथ्या बतला रहा है। एक ओर जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य का घोष है तो दूसरी ओर जगत् सत्य और ब्रह्म अव्याकृत का उद्घोष है। ब्रह्म का कोई पता नही है, आत्मा का कोई पता नहीं है, जो दृश्य नहीं है, वह सत्य नहीं है। जो दृश्य है, वह सत्य है। पर्याय दृश्य है, द्रव्य दृश्य नही है।

ज्ञेय तत्त्व दो हैं

द्रव्य और पर्याय—इन दो आधार पर सारे विचारों का विकास

हुआ है, सारे दर्शनों का विकास हुआ है। जितने भी दर्शन हैं वे या तो द्रव्यवादी हैं या पर्यायवादी। द्रव्यवादी दर्शन द्रव्य की व्याख्या कर रहे हैं, नित्य और शाश्वत की व्याख्या कर रहे हैं। पर्यायवादी दर्शन अनित्यवादी दर्शन हैं। तीसरा कोई दर्शन नहीं है। द्रव्यवादी दर्शनों ने द्रव्य की व्याख्या की और प्रत्येक द्रव्य को कूटस्थ नित्य बताया। द्रव्य नित्य है। नित्य ही सत्य है, जो अनित्य है, वह सत्य नहीं है। एक सूत्र बन गया—शाश्वत सत्य और अशाश्वत मिथ्या। पर्यायवादी दर्शनों ने पर्याय की व्याख्या की। उनके लिए परिवर्तन सत्य है और जो नहीं बदलता है, वह असत्य होता है।

जैन आचार्यों ने इस समस्या पर विचार किया। उन्हें लगा—दोनों दृष्टियां ठीक नहीं हैं। दोनों में कमियां है। ज्ञेय पदार्थ दो हैं—द्रव्य और पर्याय। इनके सिवाय जानने का कोई विषय ही नहीं है। सारा ज्ञेय विषय इन दो भागों में ही विभक्त होता है। विषय दो हैं तो जानने की दृष्टियां भी दो ही होंगी। द्रव्य को जानने वाली दृष्टि द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय को जानने वाली दृष्टि पर्यायार्थिक नय है।

अनेकांत और सम्यक् दर्शन

प्रश्न होता है—सम्यक् दर्शन क्या है ? द्रव्य को जानने वाली दृष्टि द्रव्य में अटक जाती है तो वह मिथ्या दर्शन है और पर्याय को जानने वाली दृष्टि पर्याय मे अटक जाती है तो वह भी मिथ्या दर्शन है। द्रव्य को जानने वाली दृष्टि द्रव्य का प्रतिपादन करती है किन्तु पर्याय को अस्वीकार नही करती और पर्याय को जानने वाली दृष्टि पर्याय का प्रतिपादन करती है किन्तु द्रव्य को अस्वीकार नही करती। दोनों दृष्टियां परस्पर सापेक्ष हो जाती है। इसका नाम है सम्यक् दर्शन। निरपेक्ष दृष्टि मिथ्या दर्शन और सापेक्ष दृष्टि सम्यक् दर्शन।

अनेकात और सम्यक् दर्शन—दोनों समान अर्थ वाले बन जाते हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—दोनों दृष्टियां अलग-अलग होती हैं तो एकांतवाद होता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—दोनों दृष्टियां सापेक्ष होती हैं, संयुक्त हो जाती हैं तो अनेकांतवाद प्रस्तुत हो जाता है। दोनों दृष्टियों का अलग होना मिथ्या दर्शन है और दोनों दृष्टियों का संयुक्त होना सम्यक् दर्शन है।

अनेकांत के निष्कर्ष

जैन दर्शन ने द्रव्य और पर्याय की व्याख्या अनेकांत के आधार पर की। इसलिए जैन दर्शन न द्रव्यवादी है और न पर्यायवादी है। वह द्रव्य को भी स्वीकार करता है और पर्याय को भी स्वीकार करता है। इसी

आधार पर जैन दर्शन के सन्दर्भ में कहा गया—वह न नित्यवादी है और न अनित्यवादी है किन्तु नित्यानित्यवादी है। वह न सामान्यवादी है और न विशेषवादी है किन्तु सामान्यविशेषवादी है। न एकवादी है और न अनेकवादी है, किन्तु एकानेकवादी है। वह न अस्तिवादी है और न नास्तिवादी है, किन्तु अस्तिनास्तिवादी है। ये सारे निष्कर्ष अनेकांत के आधार पर फलित हुए हैं।

शाश्वतवाद की समस्या

मूल दृष्टियां दो है—द्रव्यनय और पर्यायनय। जितना नित्यता का अंश है, जितना शाश्वत है, उसका प्रतिपादन करने वाली दृष्टि द्रव्य दृष्टि है, द्रव्यार्थिक दृष्टि है। जितना परिवर्तन का अंश है; जितना अनित्य है, उसका प्रतिपादन करने वाली दृष्टि पर्यायार्थिक दृष्टि या पर्यायार्थिक नय है। दो ही तत्त्व प्रत्येक दर्शन के सामने हैं—नित्य और अनित्य, शाश्वत और अशाश्वत। जैन दर्शन शाश्वतवादी नहीं है। शाश्वतवादी को कुछ करने की जरूरत नहीं होती। साधना का विधान बनाने की जरूरत नहीं होती। आत्मा शाश्वत है, नित्य है, जैसा है वैसा रहेगा तो साधना की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति साधना किसलिए करे? यदि आत्मा में परिवर्तन नहीं होता है तो साधना व्यर्थ है। यदि परिवर्तन होता है तो शाश्वतता का सिद्धांत खंडित हो जाता है। दोनों ओर से विरोध प्रस्तुत हो जाता है। एकांगी दृष्टिकोण मे दोनों ओर से समस्या आती है।

तर्क जैन आचार्यों का

जैनाचार्यों ने एक तर्क प्रस्तुत किया—

नैकांतवादे सुखदुःखभोगो न पुण्य-पापे न च बंधमोक्षौ।

एकांतवाद में सुख और दुःख का भोग नहीं हो सकता, बंध और मोक्ष नहीं हो सकता, पुण्य और पाप नहीं हो सकता। अगर आत्मा बदलता नहीं है तो यह नहीं माना जा सकता कि वह पहले दुःखी था और अब सुखी बन गया। पहले दुःखी था और अब सुखी बन गया। इसका अर्थ है कि आत्मा पहले एक अवस्था मे था और अब दूसरी अवस्था में आ गया, परिवर्तन हो गया। अगर आत्मा परिवर्तित नहीं होता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि पहले दुःखी था, बाद मे सुखी बन गया। पहले सुखी और बाद में दुःखी, यह स्थिति परिवर्तनशील पदार्थ मे ही घटित हो सकती है। इसीलिए जैन दर्शन ने आत्मा को न सर्वथा शाश्वत माना और न सर्वथा अशाश्वत माना। आत्मा शाश्वत भी है और आत्मा अशाश्वत भी है। आत्मा शाश्वत है, इसलिए अनादिकाल से उसका अस्तित्व बना रहता है। आत्मा अशाश्वत है, इसलिए उसका अस्तित्व नाना पर्यायों मे परिवर्तित होता रहता

है। वह कभी सुखी बनता है और कभी दुःखी बनता है। वह कभी मनुष्य बनता है और कभी पशु बनता है।

यदि आत्मा शाश्वत ही है तो पुण्य और पाप की व्यवस्था घटित नहीं हो सकती। यदि शाश्वत ही है तो मानना होगा कि सारे संसार की हत्या करके भी आत्मा उसमें लिप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वह शाश्वत है, जैसा है, वैसा ही रहता है, उसमें एक राई का भी फर्क नहीं पड़ता। इस स्थिति मे न पुण्य की बात हो सकती है और न पाप की। व्यक्ति कुछ भी करे, न पुण्य होगा और न पाप होगा। यदि आत्मा शाश्वत है तो बंध और मोक्ष की व्यवस्था भी घटित नहीं हो सकती। प्रश्न होगा—आत्मा शाश्वत है तो बंध किसका और मोक्ष किसका? ये सारे परिवर्तनशील पदार्थों में ही घटित हो सकते हैं।

जैन दर्शन की भाषा

जैन दर्शन के अनुसार जैसी एक आत्मा है, वैसा ही एक परमाणु है। बहुत बार कहा जाता है—आत्मा अमर है, शरीर मरता है, यह जैन दर्शन की भाषा नहीं है। आत्मा अमर है, यह सर्वथा सही नही है। एक परमाणु भी अमर है। कोई फर्क नहीं है। अगर परमाणु मरता है, शरीर मरता है तो आत्मा भी मरता है। प्रश्न होता है—शरीर क्या है? शरीर मूल द्रव्य नहीं है। शरीर एक पर्याय है। मूल द्रव्य है परमाणु। शरीर नही रहा, हम कहते है—अमुक व्यक्ति मर गया। वस्तुतः नष्ट कुछ भी नही हुआ। केवल रूपान्तरण हुआ। जो परमाणु शरीर में थे, वे शरीर के रूप में समाप्त हो गए और दूसरे रूप में बदल गए। एक सार्वभौम सिद्धांत है—जितने द्रव्य इस संसार में हैं, उतने ही हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। एक भी परमाणु न अधिक होगा और न न्यून होगा। कुछ भी परिवर्तन नही होगा। परिवर्तन का सिद्धांत अपरिवर्तन के सिद्धांत से जुड़ा हुआ है। समस्या यह है—जो केवल द्रव्यार्थिक नय को मानकर चलते है, वे कभी परिवर्तन की व्याख्या नहीं कर सकते और जो केवल परिवर्तन को मानकर चलते हैं, वे मूल स्रोत की व्याख्या नहीं कर सकते।

समन्वय की मौलिक दृष्टियां

बौद्ध दर्शन पर्यायवाची दर्शन है। जब उसके सामने आत्मा आदि के प्रश्न आए तो उन्हें अव्याकृत कहकर टाल दिया गया। क्योंकि एकांतवाद के द्वारा उनकी सम्यक् व्याख्या हो नहीं सकती। जैन दर्शन ने इन दोनों दृष्टियों—द्रव्यार्थिक दृष्टि और पर्यायार्थिक दृष्टि का समन्वय किया। जैन दर्शन ने कहा—मूल तत्त्व भी है और पर्याय भी है। इसलिए उसने द्रव्य की व्याख्या भी की और पर्याय की व्याख्या भी की। उसने शाश्वत और

अशाश्वत—दोनों का समन्वय साधा। आज के विचारक और विद्वान कहते हैं—जैन दर्शन मौलिक दर्शन नहीं है। यह दूसरे दर्शनों का समुच्चय है। दूसरे दर्शनों के विचारो का एक पुलिन्दा है। यह धारणा क्यों बनी ? इसका आधार बना—जैन आचार्यों की समन्वय-दृष्टि। जैन आचार्यों ने समन्वय किया नयों के आधार पर। यह उनका समन्वयपरक दृष्टिकोण था। समन्वय का दृष्टिकोण जिन दृष्टियों से किया, वे उनकी अपनी मौलिक थी। किन्तु जब समन्वय साधा तो दूसरों को लगा—साख्य आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। नित्यवाद वेदांत का सिद्धात भी है। अनित्यवाद बौद्धो का सिद्धांत है। जैनो ने नित्यवाद साख्य और वेदात से ले लिया और अनित्यवाद—पर्यायवाद बौद्धो से ले लिया। पर यह लेने का प्रश्न नही था। यह प्रश्न था समन्वय का।

परिवर्तन : अपरिवर्तन

आचार्य सिद्धसेन ने लिखा—द्रव्यार्थिक नय बिलकुल सही है। यदि द्रव्यार्थिक नय बिलकुल सही है तो साख्य का कूटस्थ नित्य भी बिलकुल सही है। पर्यायार्थिक नय बिलकुल सही है और यदि पर्यायार्थिक नय सही है तो बौद्ध का क्षणभगुरवाद बिलकुल सही है। यदि एकांत नित्यवाद निरपेक्ष है और वह कहता है—केवल कूटस्थ नित्य ही सही है, परिवर्तन सही नही है, तो वह सम्यक् नही है। यदि एकात अनित्यवाद निरपेक्ष है और वह कहता है—केवल परिवर्तन ही सम्यक् है, अपरिवर्तन सही नही है, तो वह भी सम्यक् नही है। परिवर्तन और अपरिवर्तन—दोनों का समन्वय करो, दोनों को एक साथ जोड़ दो तो दोनों सही हो जाएगे।

वैराग्य का आधार : परिवर्तनवाद

वस्तु को देखने का यह दृष्टिकोण अनेकांत की अपनी मौलिकता है। हम द्रव्य को किस दृष्टि से देखे। एक मकान है। हम उसे किस दृष्टि से देखें। हम सोचें—मकान द्रव्य है या पर्याय। हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिए—मकान एक पर्याय है। हम जो कपड़ा पहने हुए है, वह एक पर्याय है। जो पर्याय होता है, वह परिवर्तनशील होता है। वैराग्य का विकास परिवर्तनवाद के आधार पर होता है। वैराग्य के विकास का बहुत बड़ा आधार बनता है पर्यायवाद। अभी एक कपड़ा साफ-सुथरा और बढ़िया लग रहा था किन्तु थोड़ी ही देर बाद वह मैला हो जाएगा। कुछ दिनों के बाद वह फट जाएगा और कुछ समय के बाद वह समाप्त हो जाएगा। वह क्षणभंगुर है। शरीर की भी यही अवस्था है। हर पदार्थ की यही अवस्था है। एक पदार्थ अभी बहुत अच्छा है किन्तु कुछ ही समय के बाद वह बदल जाएगा, बिगड़ जाएगा। इस परिवर्तनवाद के आधार पर वैराग्य का

विकास हुआ। शाश्वतवाद के आधार पर वैराग्य जैसी कोई चीज बनती ही नहीं है। जो शाश्वत है, जैसा है, वैसा ही रहेगा, इसमें क्या राग होगा और क्या विराग होगा ? राग और विराग—दोनों परिवर्तनवाद के आधार पर बनते हैं।

पर्याय कहां से आता है

पर्यायार्थिक नय हमारे सामने स्पष्ट है। प्रश्न उपस्थित किया गया —पर्याय कहां से आता है ?

एक मनुष्य है। प्रश्न होता है—क्या वह मनुष्य ही है। वह मनुष्य से पहले भी कुछ है, उसके बाद भी कुछ है ? इस खोज में चलें तो हम द्रव्य तक पहुंचेंगे। जो कपड़ा अभी है, क्या वह पहले भी था, बाद में भी होगा ? इस खोज में चलें तो हम परमाणु तक पहुंचेंगे। यह मूल द्रव्य की खोज है, सूक्ष्मतम तत्त्व की खोज है। पर्याय की खोज स्थूलतत्त्व की खोज है, सामने दिखने वाले पदार्थ की खोज है। हम केवल पर्याय या परिवर्तन पर अटके न रहें, मूल द्रव्य की खोज मे आगे बढ़ते चले जाएं, इसके सिवाय कोई गंतव्य नहीं है।

समाधान है अनेकान्त

जैन समाज को विरासत में जो एक महान् दर्शन मिला है, जगत् को देखने का एक सम्यक् और व्यापक दृष्टिकोण मिला है। यदि उसका सम्यक् प्रयोग किया जाए तो शायद अनेकांतवाद पूरे संसार को एक नया दृष्टिकोण और एक नया दर्शन दे सकता है। अनेकांत का यह दृष्टिकोण अनेक मिथ्या अभिनिवेशों, आग्रहों को मिटाने और एक सामंजस्यपूर्ण समाज की संरचना करने में बहुत सहयोगी बन सकता है, उपयोगी हो सकता है।

अभ्यास

१. नियमवाद से आप क्या समझते हैं ? जन्म, मृत्यु और रोग के संदर्भ मे नियमवाद की व्याख्या करें।
२. क्या अमीरी और गरीबी के लिए अपने कर्म ही जिम्मेवार हैं ? अपने उत्तर को सकारण स्पष्ट करें।
३. ईश्वरवाद और कर्मवाद में क्या अन्तर है ?
४. जगत् (सृष्टि) की उत्पत्ति को कार्य-कारणवाद के द्वारा जैन दर्शन के आधार पर समझाइए।
५. द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के आधार पर अनेकांतवाद के हार्द को स्पष्ट करें।
६. जैन दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में किए गए सत्य-मीमांसा के प्रयत्नों की तुलना करें।

६. जैन दर्शन और विज्ञान में अमूर्त अचेतन विश्व-मीमांसा

जैन दर्शन का दृष्टिकोण

द्रव्य-मीमांसा

जैन दर्शन मे 'विश्व' के लिए 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'लोक' का व्युत्पत्तिजनक अर्थ है—जो देखा जाता है, वह लोक है। यह 'लोक' की केवल स्थूल परिभाषा है। 'लोक' की व्याख्यात्मक परिभाषा करते हुए कहा गया है : "जिसमें छः प्रकार के द्रव्य है, वह लोक है।" इन छः द्रव्यों के नाम इस प्रकार हैं :

१. धर्मास्तिकाय	:	गति-सहायक द्रव्य
२. अधर्मास्तिकाय	:	स्थिति-सहायक द्रव्य
३. आकाशास्तिकाय	:	आश्रय देने वाला द्रव्य
४. काल	:	समय
५. पुद्गलास्तिकाय	:	मूर्त जड पदार्थ (Matter)
६. जीवास्तिकाय	:	चैतन्यशील आत्मा (Soul)

इन छः द्रव्यों की सह-अवस्थिति 'लोक' है। इस प्रकार की द्रव्य-मीमांसा जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। इन छः द्रव्यों मे से काल को छोड़कर शेष पाच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये है। 'अस्तिकाय' का तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी—सावयवी है। 'काल' द्रव्य के प्रदेश नही होते; अतः उसे अस्तिकाय नही कहा गया है। इस कारण से कही-कही लोक की चर्चा करते हुए लोक को 'पंचास्तिकायरूप' बताया गया है। सक्षेप में जिसको हम 'विश्व' (युनिवर्स) की संज्ञा देते है, वह 'लोक' है।

आकाश : लोक और अलोक

ऊपर बताये गये छः द्रव्यो में तीसरा द्रव्य आकाशास्तिकाय आकाश (स्पेस) का सूचक है। आकाशास्तिकाय को संक्षेप में आकाश भी कहा जा सकता है। इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "वह द्रव्य, जो अन्य सभी द्रव्यो को अवगाह अथवा आश्रय देता है, उसको 'आकाश' कहते हैं।"

आकाश वास्तविक द्रव्य है। द्रव्य की दृष्टि से आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है अर्थात् उसकी रचना में सातत्य है। क्षेत्र की दृष्टि से आकाश अनन्त और असीम माना गया है। यह सर्वव्यापी है और इनके प्रदेशों की संख्या अनन्त है। काल की दृष्टि से आकाश अनादि और अनन्त है अर्थात् शाश्वत है। स्वरूप की दृष्टि से आकाश अमूर्त है—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से रहित है अर्थात् अभौतिक है—भौतिक अथवा जड़ (मैटर) द्रव्य से भिन्न है; चैतन्य-रहित होने से अजीव है; गति रहित होने से अगतिशील है।

समस्त आकाश-द्रव्य अन्य द्रव्यों के द्वारा अवगाहित नही है; अतः एक होने पर भी, अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण वह दो भागो में विभाजित हो जाता है :

१. लोकाकाश।

२. अलोकाकाश।

आकाश का वह भाग, जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन पांच द्रव्यों द्वारा अवगाहित है, वह लोकाकाश है। शेष भाग, जहां आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं होता, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशो को संख्या असख्यात है, अलोकाकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्त है। लोकाकाश एक, अखण्ड, सान्त और ससीम है। उसकी सीमा से परे अलोकाकाश एक और अखण्ड है तथा असीम—अनन्त तक फैला हुआ है। ससीम लोक चारों ओर से अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

अर्थात् अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या अनन्त है। इस कथन से यही अर्थ निकलता है कि धर्म, अधर्म आदि पांच द्रव्यों को धारण करने वाला यह विश्व (लोकाकाश) अनन्त आकाश-समुद्र में एक द्वीप के समान है। यहां पर यह बात ध्यान मे रखनी आवश्यक है कि आकाश—लोक और अलोक—एक और अखण्ड द्रव्य है। अन्य द्रव्यो के अस्तित्व के कारण ही हम आकाश के दो विभाग करते है। अलोकाकाश का अस्तित्व तर्क के आधार पर निम्न प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है—लोकाकाश अथवा सक्रिय विश्व के अस्तित्व के विषय में कोई संदेह नहीं करता, क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षतया जाना जाता है और सबसे द्वारा ग्राह्य है। किन्तु यदि लोकाकाश का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो अलोकाकाश का अस्तित्व स्वतः प्रमाणित हो जाता है, क्योंकि तर्कशास्त्र के अनुसार जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है। उदाहरणार्थ—जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है। 'घट' शब्द विधि-वाचक है; अघट निषेधवाचक है। इसी तरह अलोकाकाश लोका-

काश का निषेध-वाचक है—विपक्ष है; अतः अलोकाकाश का अस्तित्व लोका-काश के साथ स्वीकृत हो जाता है।

धन और ऋण ईथर

छः द्रव्यों में से प्रथम दो द्रव्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को हम क्रमशः धन ईथर (पाजिटिव ईथर) और ऋण ईथर (नेगेटिव ईथर) कह सकते हैं। ये दोनों तत्त्व—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित विश्व-सिद्धांत मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धर्मास्तिकाय वह तत्त्व है, जो लोक में सभी पदार्थों की सभी प्रकार की गति मे असाधारण रूप से सहाय करता है। दूसरे शब्दों मे वह गति का असाधारण माध्यम (मीडियम) है। अधर्मास्तिकाय का लक्षण है—सब पदार्थों की स्थिति मे—अगति में असाधारण रूप से सहाय्य करना। केवल 'ईथर' शब्द 'गति के माध्यम' के लिए प्रयुक्त होता है। गति और स्थिति को यदि हम अभिसमया-नुसार 'धन' और 'ऋण' मान ले, तो धर्मास्तिकाय को धन ईथर और अधर्मा-स्तिकाय को ऋण ईथर की संज्ञा दी जा सकती है।

ये दोनों ईथर द्रव्य की दृष्टि से एक, अखण्ड और स्वतन्त्र वास्तविक द्रव्य है। क्षेत्र की दृष्टि से ये केवल लोकाकाश में व्याप्त हैं, अलोकाकाश मे दोनों का ही अस्तित्व नही माना गया है; अतः जितनी लोकाकाश के प्रदेशों की सख्या है, उतनी ही इनके प्रदेशों की संख्या है—अर्थात् 'असंख्यात' हैं। काल की दृष्टि से ये अनादि और अनन्त है अर्थात् शाश्वत है। स्वरूप की दृष्टि से ये अभौतिक है, अमूर्त है, अगतिशील हैं; चैतन्य-रहित है।

आकाश द्रव्य का अस्तित्व अधिकांश दर्शन और विज्ञान निर्विवाद रूप से स्वीकार करते है; जबकि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व केवल जैन दर्शन ही स्वीकार करता है। जैन आगमों में इनके लिए तर्क पर आधारित प्रमाण दिए गए हैं। कार्य-कारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए दो प्रकार के कारण आवश्यक है—उपादान और निमित्त। उपादान कारण वह है, जो स्वय कार्यरूप मे परिणत हो जाए। निमित्त कारण वह है, जो कार्य के निष्पन्न होने में सहायक हो। यदि किसी पदार्थ की गति होती है, तो उसमें उपादान कारण तो वह पदार्थ स्वय है। किंतु निमित्त कारण क्या है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए हमें कोई ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है, जिसकी सहायता पदार्थ की गति मे अनिवार्य हो। यदि हवा आदि को निमित्त कारण माना जाए, तो यह एक नया प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि उनकी (हवा आदि की) गति मे कौनसा निमित्त कारण है? यदि इसी प्रकार किसी अन्य द्रव्य को निमित्त माना जाए, तो ऐसे कारणों की परम्परा चलती ही जाती है और 'अनवस्था दोष' (Regresus ad infinitum) की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए ऐसे पदार्थ की आवश्यकता हो जाती है,

जो स्वयं गतिमान् न हो।

यदि पृथ्वी, जल आदि स्थिर द्रव्यों को निमित्त कारण के रूप में माना जाता है, तो भी यह युक्त नहीं होता है, क्योंकि ये पदार्थ समस्त लोकव्यापी नहीं हैं। यह आवश्यक है कि गति-माध्यम के रूप में जिस पदार्थ को माना जाता है, वह सर्वव्यापी हो। इस प्रकार किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना करनी पड़ती है, जो—

१. स्वयं गतिशून्य हो;

२ समस्त लोक में व्याप्त हो;

३. दूसरे पदार्थों की गति में सहायक हो सके।

ऐसा द्रव्य धर्मास्तिकाय ही है। यहां यदि धर्मास्तिकाय का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करके आकाश द्रव्य को ही इन लक्षणों से युक्त माना जाए, तो भी एक बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। क्योंकि यदि आकाश द्रव्य ही पदार्थों की गति में सहायक हो, तो आकाश असीम और अन्नत होने के कारण गतिमान् पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश में शक्य हो जाती है—उनकी गति अबाधित हो जाती है। परिणामस्वरूप अनन्त आत्माएं और अनन्त जड़ पदार्थ अनन्त आकाश मे निरंकुशतया गति करने लग जाते हैं और उनका परस्पर संयोग होना और व्यवस्थित, सांत और निर्वासित विश्व के रूप में लोकाकाश का होना, असम्भव हो जाता है। किन्तु इस विश्व का रूप व्यवस्थित है, विश्व एक क्रमबद्ध संसार (Cosmos) के रूप में दिखाई देता है, न कि अव्यवस्थित ढेर (Chaos) की तरह। ये तथ्य हमे इस निर्णय पर ले जाते है कि विश्व की व्यवस्था का आधार किसी स्वतन्त्र नियम पर है। परिणामस्वरूप हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि पदार्थों की गति-अगति में सहायक आकाश नही, अपितु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक स्वतंत्र द्रव्य हैं।

जिस प्रकार गति-स्थिति के निमित्त के रूप में धर्म और अधर्म द्रव्यों की उपधारणा (पोस्च्युलेशन) आवश्यक है, उसी प्रकार लोक-अलोक के विभाजन मे भी इनको माने बिना तर्क-सम्मत समाधान नही मिलता। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है; 'लोक सीमित है और उससे आगे अलोक-आकाश असीम है। इसलिए पदार्थों की और प्राणियों की व्यवस्थित रूपरेखा को बनाए रखने के लिए आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व होना चाहिए—यदि गति और अगति का माध्यम आकाश ही है, तो फिर अलोक-आकाश का अस्तित्व ही नहीं रहेगा और लोक-व्यवस्था का भी लोप हो जाएगा।' लोक और अलोक का विभाजन एक शाश्वत तथ्य है; अतः इसके विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होने चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वत आकाश का विभाजन नहीं हो सकता; अतः ऊपर बताये गए छः द्रव्यों में से ही विभाजक तत्त्व हो सकते

हैं। यदि हम आकाश को ही विभाजक मानें, तो यह उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि आकाश स्वयं विभज्यमान है, अतः वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता। यदि काल को विभाजक तत्त्व माना जाए तो भी तर्क-संगत नहीं होता, क्योंकि काल वस्तुतः (निश्चय दृष्टि से) तो जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र मे ही विद्यमान है, जबकि नैश्चयिक काल लोक और अलोक दोनों में है। जीव और पुद्‌गल गतिशील द्रव्य हैं; अतः ये विभाजक तत्त्व के योग्य नहीं हैं। इस प्रकार छः द्रव्यों में से केवल दो द्रव्य शेष रह जाते है, जो लोक-अलोक का विभाजन कर सकें। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मा-तिकाय—ये दो द्रव्य ही आकाश का विभाजन करते हैं। जहां-जहां ये दो विद्यमान हैं, वहां-वहां जीव और पुद्‌गल गति करते हैं और स्थिर रहते हैं। जहां इनका अस्तित्व नहीं है, वहां किसी भी द्रव्य की गति और स्थिति सम्भव नहीं है। इस प्रकार लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन हो जाता है। इसलिए कहा गया है—"धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो, तो उनके विभाग का आधार ही क्या बने ?"

इस प्रकार धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय गति-स्थिति-निमित्तक और लोक-अलोक-विभाजक द्रव्यो के रूप में स्वीकार किए गए है। उक्त समग्र विवेचन को संक्षिप्त मे इस प्रकार कहा जा सकता है: धर्मास्तिकाय (धन ईथर), अधर्मास्तिकाय (ऋण ईथर), आकाश, काल, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छः द्रव्यों से बना हुआ यह लोक परिमित है। इस लोक से परे आकाश-द्रव्य का अनन्त समुद्र है, जिसमें ईथरों के अभाव के कारण कोई भी जड़ पदार्थ या जीव गति करने में या ठहरने मे समर्थ नही है।

काल द्रव्य

छः द्रव्यो में 'काल-द्रव्य' एक ऐसा तत्त्व रहा है, जिसके स्वरूप के विषय में सभी जैनाचार्य एकमत नहीं रहे हैं, जबकि आकाश, धर्म और अधर्म—इन तीन द्रव्यों के स्वरूप के विषय में विभिन्न जैनाचार्य प्रायः एक-मत है। 'काल' शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं, किन्तु जैन दर्शन की द्रव्य-मीमांसा में प्रयुक्त 'काल' शब्द का पर्यायवाची 'समय' है। वैसे 'समय' का पारिभाषिक अर्थ जैन दर्शन के अनुसार 'काल का अविभाज्य अंश' है। किन्तु सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त 'समय' शब्द 'काल' का ही सूचक है। जहा द्रव्यों की गणना आई है, वहां काल को भी गिना गया है। जहां अस्तिकायों का वर्णन है, वहां काल को नहीं गिना गया। श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा इस विषय में तो एकमत हैं ही कि 'काल' अस्तिकाय नही है। 'अस्तिकाय' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है; "जीव, पुद्‌गल धर्म, अधर्म तथा

आकाश—ये पांचों द्रव्य विद्यमान हैं। इसलिए इनको 'अस्ति' (है) ऐसा कहा गया है और ये 'काय' के समान बहु प्रदेशों को धारण करते हैं, इसलिए इनको 'काय' कहते हैं। 'अस्ति' तथा 'काय' दोनों को मिलाने से 'अस्तिकाय' होता है।" अर्थात् ये पांच द्रव्य केवल अस्तित्ववान ही नहीं हैं या केवल प्रदेश-समूह ही नहीं है; किन्तु दोनों ही हैं; अतः 'अस्तिकाय' संज्ञा से बताए गए हैं। इनके प्रदेशों की विद्यमानता के कारण ये तिर्यक्-प्रचय-स्कन्ध[1] के रूप में हैं और विस्तार इनका सहज गुण हो जाता है। धर्म, अधर्म आकाश और जीव के स्कन्धों के परमाणु जितने काल्पनिक विभाग किए जाएं, तो आकाश के अनन्त और शेष तीनों के असंख्य होते हैं। ये विभाग 'प्रदेश' कहलाते है। इस प्रकार आकाश अनन्त प्रदेशात्मक और धर्म, अधर्म और एक जीव असंख्यात प्रदेशात्मक है। पुद्गल के परमाणु जब जुड़ते हैं, तब स्कन्धों का निर्माण होता है। दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी पुद्गल स्कन्ध बनता है यावत् अनन्त परमाणुओं के जुड़ने से अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध बनता है। इस प्रकार 'काल' को छोड कर शेष पांचों ही द्रव्यों के 'प्रदेश' होते हैं। केवल काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व में होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है—नष्ट हो चुका है और अनागत (भविष्य) समय अनुत्पन्न है। वर्तमान समय 'एक' होता है, इसलिए इसका तिर्यक्-प्रचय नहीं होता, अर्थात् काल 'अस्तिकाय' नहीं है।

काल की वास्तविकता के विषय मे जैनाचार्यों में परस्पर मतभेद रहा है। श्वेताम्बर-परम्परा में आचार्यों ने काल के दो भेद कर दिए है: व्यावहारिक काल और नैश्चयिक काल। नैश्चयिक काल अन्य द्रव्यों के परिवर्तन का हेतु है। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों में प्रत्येक समय में जो परिणमन होता रहता है—पर्याय बदलती रहती है, वह नैश्चयिक काल के निमित्त से है। दूसरे शब्दों में, नैश्चयिक काल को जीव और अजीव की पर्याय कहा गया है।

जो जिस द्रव्य की पर्याय है, वह उस द्रव्य के अन्तर्गत ही है; अतः जीव की पर्याय जीव है और अजीव की पर्याय अजीव। इस प्रकार नैश्चयिक काल जीव भी है और अजीव भी है। काल का निरूपण जब निश्चय नय की दृष्टि से होता है, तब वह 'नैश्चयिक काल' कहलाता है; अतः वास्तविक काल 'नैश्चयिक काल' ही माना गया है। दूसरी ओर काल का जब व्यवहार नय की दृष्टि से निरूपण होता है, तब वह 'व्यावहारिक काल' कहलाता है। व्यावहारिक काल को 'द्रव्य' कहा गया है। काल को व्यवहार-दृष्टि से

---

१. तीनों विमिति में विस्तार होने से 'तिर्यक्-प्रचय' कहलाता है। केवल एक ही वैमितिक विस्तार 'ऊर्ध्व-प्रचय' कहलाता है।

'द्रव्य' मानने का कारण यही है कि काल के कुछ एक उपकार अथवा लक्षण व्यवहार में अत्यन्त उपयोगी हैं और जो 'उपकारक' होता है, उसको द्रव्य कहा जा सकता है। जिन उपकारों के कारण काल 'द्रव्य' की कोटि में गिना जाता है, वे मुख्यतया पांच है : वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व।

'वर्तना' का अर्थ है—वर्तमान रहना—किसी भी पदार्थ के 'वर्तमान रहने' का अर्थ यही है कि उसका अस्तित्व कुछ 'अवधि' तक होता है। यह 'अवधि' शब्द काल का ही सूचक है। यद्यपि 'काल' किसी भी द्रव्य को अस्तित्व की अवस्थिति प्रदान नही करता, फिर भी जिस अवधि तक पदार्थ रहता है, वह काल के उन सब क्षणों की सूचक है, जिसमे पदार्थ का अस्तित्व बना रहता है, 'वर्तना' की तरह 'परिणमन' को भी 'काल' के बिना नहीं समझाया जा सकता। जब किसी पदार्थ मे परिणमन होता है, तब स्वाभाविक रूप से उस परिवर्तन की कालावधि का सूचन हमे होता है। 'क्रिया' में गति आदि का समावेश होता है। 'गति' का अर्थ है—आकाश प्रदेशों में क्रमशः स्थान-परिवर्तन करना। अतः किसी भी पदार्थ की गति में स्थान-परिवर्तन का विचार उसमें लगने वाले काल के साथ किया जाता है। इसी प्रकार, अन्य क्रियाओं मे भी समय का व्यय होता है। परत्व और अपरत्व अर्थात् 'पहले होना' और 'बाद में होना' अथवा 'पुराना' और 'नया'; ये विचार भी काल के बिना नही समझाये जा सकते। इस प्रकार व्यवहार में वर्तना आदि को समझने के लिए 'काल' को 'द्रव्य' माना गया है।

व्यावहारिक काल 'गणनात्मक' है। काल के सूक्ष्मतम अश समय से लेकर पुद्‌गल-परावर्तन तक के अनेक मान व्यावहारिक काल के ही भेद है। इनमें घड़ी, मुहूर्त्त, अहोरात्र, मास, वर्ष आदि (अथवा सैकिण्ड, मिनिट, घण्टा आदि) के भेद भी समाविष्ट है। सूर्य-चन्द्र की गति के आधार से इनका माप किया जा सकता है। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार विश्व के सब स्थानों में सूर्य-चन्द्र की गति नहीं होती है। एक मर्यादित क्षेत्र को छोड़कर शेष स्थानों में जहा ये आकाशीय पिण्ड अवस्थित हैं, वहां दिन, रात्रि आदि काल-मान नहीं होते। इसलिए यह माना गया है कि व्यावहारिक काल केवल 'समय-क्षेत्र' तक सीमित है।

इस समग्र विवेचन का सारांश यही है कि काल स्वयं में कोई स्वतन्त्र 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' नहीं है, किन्तु 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताओं' का ही एक अंग—पर्याय है।

कुछ एक अन्य आचार्यों की मान्यता के अनुसार नैश्चयिक काल

वास्तविक द्रव्य है, जबकि व्यावहारिक काल नैश्चयिक काल की पर्याय-रूप है।

दिगम्बर परम्परा में 'काल' के विषय में जो प्रतिपादन किया गया है, वह उक्त मन्तव्य से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। दिगम्बर आचार्यों ने यद्यपि काल के दो भेद—नैश्चयिक और व्यावहारिक काल स्वीकार किए हैं, फिर भी इनकी परिभाषाएं भिन्न प्रकार से की हैं। सुप्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती (ई० १०वीं शताब्दी) काल के विषय में लिखते हैं: "जो द्रव्यों के परिवर्तन-रूप, परिणाम-रूप देखा जाता है, वह तो व्यावहारिक काल है और 'वर्तना लक्षण' का धारक जो काल है, वह नैश्चयिक काल है। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश मे रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं, वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं।" नैश्चयिक काल, जो कि कालाणुओं के रूप मे है, वास्तविक द्रव्य है और सख्या की अपेक्षा से—असंख्यात है, क्योंकि लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश है और प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। ये कालाणु एक-दूसरे से स्वतन्त्र है; इसीलिए काल द्रव्य अस्तिकाय नही बनता। कालाणु-रूप नैश्चयिक काल 'वर्तना' लक्षण के द्वारा जाना जाता है। प्रत्येक द्रव्य के समय-समय मे होने वाले परिणमनों मे उपादान कारण तो वे स्वय ही होते है। किन्तु उन परिणमनों में निमित्त रूप से सहायक कालाणु होते हैं और उनकी इस सहकारिता को 'वर्तना' कहते हैं। कुछ एक आचार्यों के अनुसार द्रव्यों मे होने वाले पर्याय-रूप परिवर्तनों में भी प्रति समय जो द्रव्य के ध्रौव्य की अनुभूति होती है, वह वर्तना है। इस वर्तना लक्षण का धारक जो कालाणु द्रव्य है, वह नैश्चयिक काल है। तात्पर्य यही है कि कालाणु के निमित्त से द्रव्यों मे परिवर्तन (पर्याय) होता है और साथ-साथ उनके अस्तित्व की भी ध्रुवता बनी रहती है। कालाणु स्वय भी उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य-रूप त्रिपुटी से युक्त माना गया है। वर्तमान 'समय' की उत्पत्ति होती है, अतीत समय का विनाश और इन दोनों के आधारभूत कालाणु ध्रुव रह जाते है। इस प्रकार जो द्रव्य की परिभाषा है, वह कालाणु के लिए लागू होती है और परिणामरूप कालाणु वास्तविक द्रव्य माना गया है।

द्रव्यों में नवीन और प्राचीन आदि पर्यायों का समय, घड़ी, मुहूर्त्त आदि रूप स्थिति को 'व्यावहारिक काल' की संज्ञा दी गई है। अर्थात् द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो समय, घटिका आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति ही 'व्यवहार काल' संज्ञा की धारक होती है, किन्तु जो द्रव्य की पर्याय है, वह 'व्यवहार काल' नही है। यह व्यावहारिक काल परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि लक्षणों से जाना जाता है; व्यावहारिक काल आदि

और अन्त सहित होता है, जबकि नैश्चयिक काल (कालाणु) शाश्वत है—आदि-अन्त रहित है। व्यावहारिक काल स्वयं द्रव्य नहीं है।

इस प्रकार नैश्चयिक काल (जो स्वतन्त्र द्रव्य है) के निमित्त से अन्य द्रव्यों में पर्यायरूप परिवर्तन होता है और इन पर्यायों की स्थिति से 'व्यावहारिक काल' जाना जाता है।

अस्तु, श्वेताम्बर-परम्परा में नैश्चयिक काल को केवल जीव और अजीव की पर्याय रूप माना गया है। दिगम्बर-परम्परा में नैश्चयिक काल को वस्तु-सापेक्ष स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया गया है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण : आपेक्षिकता के सिद्धान्त से पूर्व

आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) से पूर्व वैज्ञानिक जगत् में 'आकाश और काल' सम्बन्धी एक सर्वमान्य सिद्धांत था, जो कि सर आइज़क न्यूटन (ई० १६४२-१७२७) द्वारा सर्वप्रथम दिया गया था। दार्शनिक गेसेण्डी के आकाश सम्बन्धी विचारों से प्रभावित होकर न्यूटन ने इस सिद्धान्त की स्थापना की थी। अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक **'प्रिंसिपिया'** (Principia) में 'आकाश' और 'काल' का विवेचन करते हुए न्यूटन ने लिखा है : "निरपेक्ष आकाश, अपने स्वभाव और बाह्य किसी वस्तु की अपेक्षा बिना, सदा एक-सा और स्थिर रहता है" और काल के सम्बन्ध मे, "निरपेक्ष, वास्तविक और गणितिक काल अपने आप और स्वभावतः किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा बिना सदा समान रूप से बहता है।" न्यूटन की इन व्याख्याओं से स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन ने आकाश और काल को स्वतत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविक तत्त्व माना है। इनका अस्तित्व न तो ज्ञाता पर निर्भर है और न अन्य भौतिक पदार्थों पर, जिनको वे आश्रय देते हैं अथवा सम्बन्धित करते है।

"सभी वस्तुए आकाश मे स्थान की अपेक्षा से रही हुई हैं।" न्यूटन के इस कथन का तात्पर्य यही है कि आकाश एक अगतिशील (स्थिर) आधार के रूप में है तथा उसमें पृथ्वी और अन्य आकाशीय पिण्ड रहे हुए है। यह (आकाश) असीम विस्तार वाला है। चाहे वह किसी द्रष्टा (अथवा ज्ञाता) के द्वारा देखा जाय (अथवा अनुभव किया जाय) या नहीं और चाहे वह कोई पदार्थ द्वारा अवगाहित हो अथवा नहीं, इनकी अपेक्षा बिना स्कतंत्र रूप से अस्तित्व में है और सदा से अस्तित्व में था। जो कुछ भी विश्व में हो रहा है, वह आकाश में हो रहा है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ आकाश में ही कहीं-न-कही रहा हुआ है और उसमे ही वह अपना स्थान परिवर्तन कर सकता है। न्यूटन के अनुसार आकाश की रचना में सातत्य है; अर्थात् आकाश 'एक और अखण्ड' तत्त्व है। सर्वत्र एकरूप है, अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थों द्वारा अव-

गाहित होने पर भी उनके गुणों में परिवर्तन नहीं आता है।

प्राचीन यूनानी गणितज्ञ युक्लिड के द्वारा भूमिति के जिन नियमों का आविष्कार किया गया था, वे नियम न्यूटन के आकाश में लागू होते हैं। न्यूटन की यह धारणा थी कि आकाश समतल (flat) है। अतः युक्लिडीय भूमिति के नियम इसमें कार्यक्षम होते हैं। आकाश मे चलने वाली प्रकाश की किरणें सीधी रेखा में चलती हैं और एक दूसरे के समान्तर होने के कारण ये परस्पर में कभी नहीं मिल सकतीं। इस प्रकार के प्रकाशिकी सम्बन्धी नियम भी युक्लिडीय भूमिति के नियमों के आधार पर बनाये गए। इसके अतिरिक्त यांत्रिकी (Mechanics) के क्षेत्र में जहां पदार्थों की गति का प्रश्न आया, तो न्यूटन ने गति को निरपेक्ष बनाने के लिए स्थिर आकाश को संदर्भ के ढांचे (frame of reference) के रूप मे काम में लिया। किसी भी पदार्थ की गति होती है, तब वह दूसरे पदार्थों की अपेक्षा में मानी जाती है। अब यदि कोई ऐसा पदार्थ न हो, जो कि स्वयं स्थिर हो, तो पदार्थों की गति सदा सापेक्ष बन जाती है। उदाहरणार्थ, पानी मे जहाज चल रहा है; तो स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि जहाज की गति पानी की अपेक्षा से होती है; किन्तु पृथ्वी की गति के कारण पानी भी स्थिर नहीं माना जा सकता। इस प्रकार जहाज भी चल रहा है और पानी भी। इससे आगे पृथ्वी की गति भी सूर्य की अपेक्षा से है; किन्तु सूर्य स्वय ही गतिमान् है और अपने समस्त सौर मण्डल के साथ अन्तरिक्ष में घूम रहा है। इस प्रकार, स्थिर पदार्थ के अभाव मे किसको गति की अपेक्षा का केन्द्र बनाया जाए? यह प्रश्न जब न्यूटन के सामने आया, तो सापेक्ष गति और निरपेक्ष गति के बीच भेद करने के लिए पहले तो उसने बताया कि यह सम्भव हो सकता है कि गतिशील नक्षत्र-मण्डल से बहुत दूर अन्तरिक्ष में कोई ऐसा पदार्थ विद्यमान हो सकता है, जो कि निरपेक्षतया स्थिर हो और उसके संदर्भ में निरपेक्ष गति को समझाया जाय। किन्तु साथ ही उसने यह स्वीकार किया कि ऐसे कोई पदार्थ का ज्ञान हम निरीक्षण द्वारा तो करने मे कैसे समर्थ हो सकते हैं; अतः सबसे सरल हल यही है कि आकाश को ही स्थिर मानकर 'संदर्भ का ढांचा' बनाया जाय।

'काल' के विषय में भी न्यूटन के सिद्धान्त को वैज्ञानिक जगत् में मान्यता मिल गई। अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तों की अपेक्षा में न्यूटन के काल-सम्बन्धी निरूपण में यह विशेषता थी कि इसमें काल एक स्वतन्त्र तत्त्व माना गया था। निरपेक्ष काल के निरूपण से न्यूटन ने आकाश और काल को एक दूसरे से स्वतन्त्र रखा है; अतः पदार्थों की गति से 'काल' के प्रवाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। काल का प्रवाह तो अपने आप में सदा बिना किसी परिवर्तन के एक रूप से अनन्त भूत से अनन्त भविष्य तक चलता रहता है, यह न्यूटन का मन्तव्य था।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त का अविष्कार

न्यूटन के 'निरपेक्ष आकाश' के सिद्धान्त से भौतिक विज्ञान में उपस्थित होने वाली समस्याओं का हल निकालने का प्रयत्न अठाहरवीं और उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिकों द्वारा किया गया। इन समस्याओं में 'प्रकाश-तरंगों' के प्रसार की समस्या मुख्य थी। प्रकाश तरंग के रूप में प्रसारित होता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त था, किन्तु इसका प्रसार शून्य आकाश में किस माध्यम से होता है—यह प्रश्न उपस्थित होने पर वैज्ञानिकों को किसी ऐसे माध्यम की कल्पना करनी पड़ी, जो कि प्रकाश-तरंगों के प्रसार मे सहायक हो। इस माध्यम को 'ईथर' कहा गया और माना गया कि ईथर एक ऐसा भौतिक तत्त्व है, जो कि समग्र आकाश में व्याप्त है और जो प्रकाश-तरंगों के प्रसार में उसी तरह सहायक होता है जिस तरह समुद्र की तरंगों के प्रसार मे पानी होता है, अथवा ध्वनि के तरंगो के प्रसार में हवा होती है।

इस प्रकार के ईथर-तत्त्व की कल्पना के बाद यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि जब गतिशील पदार्थ गति करते है, तब ईथर, जो कि सर्वत्र व्याप्त है, की क्या स्थिति होती है? यदि वह भी पदार्थ की गति से प्रभावित होता है, तो उसमें से गुजरने वाली प्रकाश-तरंगो पर भी उसका प्रभाव होना चाहिए। इस बात की सत्यता को परखने के लिए अनेक प्रकार के प्रयोग किए गये, जिसमे माइकलसन (Michelson) और मोर्ले (Morley) द्वारा किया गया प्रयोग (१८८१ ई०) उल्लेखनीय है। इस प्रयोग मे गतिमान् पृथ्वी के ईथर मे गुजरने से, ईथर पर क्या प्रभाव होता है, इसका प्रकाश-किरणो के द्वारा परीक्षण किया गया।

यदि आकाशीय पिण्ड ईथर के अनन्त समुद्र मे सचमुच ही तैर रहे हैं, तो उनकी गति का वेग जानना सहज है। जैसे—एक वेगवाली नदी मे एक नौका को एक किनारे से दूसरे किनारे तक ले जाने में जितना समय लगता है, उससे अधिक समय उस नौका को नदी के प्रवाह की दिशा मे ले जाकर वापस लाने मे लगेगा, भले ही दोनों बार समान दूरी तय की जाती हो। इस प्रकार यदि पृथ्वी ईथर में वस्तुतः घूमती है, तो प्रकाश की एक किरण पृथ्वी की गति की दिशा में चलती हुई दर्पण तक पहुंच कर वापस लौटने में अधिक समय लेगी, अपेक्षाकृत उसके कि किरण पृथ्वी-गति की दिशा के साथ लम्बकोण करके चलेगी। यदि वस्तुतः ईथर-तत्त्व पृथ्वी की गति से प्रभावित होता है (अर्थात् पृथ्वी की गति से ईथर का प्रवाह भी गति करने लगता है), तो प्रकाश की गति पर ईथर का प्रभाव होना जरूरी है और यह यन्त्रों द्वारा नापा जा सकता है। ईथर का अस्तित्व प्रायोगिक आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। माइकलसन और मोर्ले के प्रयोगों से प्रकाश की गति पर पड़ने वाला ईथर का प्रभाव किसी भी रूप मे सामने न आया। यह प्रयोग इसके

बाद भी अनेक बार दुहराया गया। किन्तु परिणाम शून्य रहा। इसके परिणाम-स्वरूप ईथर के अस्तित्व के विषय में दो विकल्प रह गये :

१. ईथर तत्त्व है और इस पर पृथ्वी की गति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् पृथ्वी स्थिर है।

२. ईथर नाम का कोई तत्त्व नहीं है।

प्रथम विकल्प को स्वीकार करने का अर्थ होता है—पृथ्वी की गति को अस्वीकार करना, जो वैज्ञानिकों के लिए असम्भव-सी बात थी। फिर भी दूसरी ओर ईथर को नहीं मानने से प्रकाश की तरंग-रूप में प्रसरण-क्रिया को नहीं समझाया जा सकता।

इस प्रकार, जब कोई समाधान नहीं निकल रहा था, तब ई० १९०५ में यूरोप में एक छब्बीस वर्षीय नवयुवक वैज्ञानिक ने इसका सर्वग्राही समाधान दिया। वह था, अल्बर्ट आईन्स्टीन। आईन्स्टीन ने 'आपेक्षिकता का सिद्धांत' (Theory of Relativity) नामक एक निबन्ध लिखा, जिसमें लोरेन्ट्ज द्वारा दिए गए गणितिक समीकरणों के आधार पर नए तथ्यों की स्थापना की गई। सर्वप्रथम आईन्स्टीन ने 'ईथर' की कल्पना को तिलांजलि दी। 'आकाश' को एक निरपेक्ष गतिशून्य तत्त्व न मानकर आईन्स्टीन ने बताया कि 'किसी भी प्रकार के प्रयोग से यह जानना अशक्य है कि अमुक पदार्थ की गति निरपेक्षतया क्या है ?' इससे यह निष्कर्ष निकला कि विश्व में कोई भी पदार्थ निरपेक्षतया स्थिर नहीं रह सकता। पदार्थों की गति और स्थिति आपेक्षिक है। इसको 'विशिष्ट आपेक्षिकता का सिद्धांत (Special Theory of Relativity) कहते हैं।

उक्त सिद्धांत के स्थापन में आईन्स्टीन ने इस परिकल्पना का आधार लिया कि प्रकाश की गति सदा अचल रहती है। इसको आईन्स्टीन ने व्यापक रूप दिया और बताया कि "एक रूप से गति करने वाले निकायों में प्रकृति के सभी नियम समान रूप से लागू होते हैं।" इसके परिणामस्वरूप किसी पदार्थ की निरपेक्ष गति क्या है—यह प्रकाश की गति की सहायता से अथवा अन्य किसी भी तरीकों से जानना अशक्य हो जाता है। दूसरी ओर प्रकाश की गति को सदा एकरूप और अचल मानने से 'ईथर' का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है; क्योंकि यदि ईथर अस्तित्व में होता, तो उसकी गति का प्रभाव अवश्य प्रकाश की गति पर पड़ना चाहिए था।

दूसरा तथ्य जो सामने आया, वह यह था कि प्रकाश की गति का वेग उत्कृष्टतम वेग है। विश्व में इससे अधिक वेग किसी भी पदार्थ का होना संभव नहीं है। प्रकाश का वेग जैसा कि पहले बताया गया था, एक निश्चित और परिमित 'अचर' है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी पदार्थ की स्थिति के निरीक्षण में लगने वाला काल चाहे कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो,

एक सीमा से कम नहीं हो सकता।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त के बाद : आकाश और काल

आईन्स्टीन के 'आपेक्षिकता के सिद्धांत' ने भौतिक विज्ञान में अनेक बृहत् परिवर्तन ला दिए। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन 'आकाश' और 'काल' की धारणा सम्बन्धी थे। सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक मिन्काउस्की (Minkowski) ने 'आपेक्षिकता के सिद्धात' का गाणितिक प्रतिपादन जिस रूप में किया, उससे यह तथ्य निकला कि विश्व 'आकाश-काल की एक सम्मिलित चतुर्वैमितिक सततता' (Four-dimensional continum of space and time) के रूप में है। अधिकांश रूप मे गणित के साथ सम्बन्धित होने से तथ्य के यद्यपि व्यावहारिक भाषा में समझाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उदाहरणों के द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

यह एक सामान्य तथ्य है कि कोई भी पदार्थ जब आकाश में स्थान रखता है, तो आकाश की तीनो ही विमितियो मे अपनी लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई (अथवा गहराई) के कारण फैल जाता है। अब यदि पदार्थ स्थानान्तर करता है (अथवा गति करता है), तो दूसरे स्थान मे जाने के लिए उसे कुछ समय लगता है। इस प्रकार पदार्थ की गति के निरूपण मे हमे दोनो बातों का ज्ञान आवश्यक होता है—स्थान का और समय का। अतः समय (अथवा काल) चतुर्थ विमिति के रूप मे हो जाता है। अब आपेक्षिकता के सिद्धात के अनुसार आकाश की तीन विमितिया और काल की एक विमिति मिलकर एक चतुर्वैमितिक अखण्डता का निर्माण करती है और हमारे वास्तविक जगत् में होने वाली सभी घटनाए इस चतुर्वैमितिक सततता की विविध अवस्थाओं के रूप में सामने आती है।

आकाश और काल एक दूसरे के साथ किस प्रकार जुड़े हुए है, इसको सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक हाइज़नबर्ग ने बहुत सरल शब्दो मे समझाया है : "जब हम भूत शब्द का प्रयोग करते है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसमे घटित सभी घटनाओ का ज्ञान करने के लिए हम समर्थ है, वे घटनाएं घट चुकी है। इसी प्रकार से जब हम 'भविष्य' का प्रयोग करते है, तो अर्थ होता है कि वे सभी घटनाएं, जो अब तक घटित नही हुई है, 'भविष्य' की हैं, जिनको हम प्रभावित करने मे समर्थ है·······इन परिभाषाओं का हमारे दैनन्दिन के शब्द-व्यवहार से सीधा सम्बन्ध है। अतः इस अर्थ मे यदि हम इन शब्दों ('भूत' और 'भविष्य') का उपयोग करते है, तो बहुत सारे प्रयोगो के परिणामस्वरूप यह बताया जा सकता है कि 'भविष्य' और 'भूत' की घटनाएं द्रष्टा की गतिमान् अवस्था अथवा अन्य गुण-धर्मो से बिलकुल ही निरपेक्ष

हैं।..... ...यह बात न्यूटन की यान्त्रिकी (Mechanics) में तथा आईन्स्टीन के 'आपेक्षिकता के सिद्धांत' मे भी सत्य मानी जाती है। किन्तु दोनों में यह फर्क रह जाता है : पुरानी मान्यता में हम यह मान लेते हैं कि 'भविष्य' और 'भूत' के बीच में एक अतिसूक्ष्म (अनन्ततया सूक्ष्म) कालान्तर है, जिसको हम वर्तमान क्षण कहते हैं। परन्तु आपेक्षिकता के सिद्धांत में यह बात नहीं है। यहां पर भविष्य और भूत के बीच जो कालान्तर है, वह परिमित है और उसका दैर्घ्य द्रष्टा के स्थान पर आधार रखता है।" इस कथन को इस उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे—अ स्थान पर द्रष्टा है और ब स्थान पर घटना घटती है। द्रष्टा जिस क्षण में घटना को देखता है, वस्तुतः वह घटना उस क्षण मे नहीं होती है, क्योंकि ब और अ के बीच जो दूरी है, उस दूरी को पार करने के लिए प्रकाश को परिमित समय लगेगा। इस प्रकार जिसको हम 'वर्तमान' कहते है, वह केवल अतिसूक्ष्म एक क्षण ही नहीं है, किन्तु वह सारा काल वर्तमान मे गिना जाता है, जो घटना के होने और द्रष्टा के देखने के बीच गुजरता है और इस काल का दैर्घ्य स्पष्टतया द्रष्टा और घटना-स्थल के बीच की दूरी पर आधारित है। यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अ और ब के बीच की दूरी कितनी भी छोटी क्यों न हो, प्रकाश का वेग (जो कि उत्कृष्टतम वेग है) परिमित होने से उस दूरी को तय करने मे सुनिश्चित किन्तु परिमित समय ही लगेगा।

एक व्यावहारिक उदाहरण से उक्त मन्तव्य का महत्त्व समझा जा सकता है। ऊपर दिए गए उदाहरण में ब को पृथ्वी से ५० प्रकाश-वर्ष[1] दूर का तारा मान लिया जाए और अ को पृथ्वी पर स्थित, दूर-वीक्षणयन्त्र द्वारा निरीक्षण करता हुआ द्रष्टा माना जाए। मान लो कि ब पर कोई विस्फोट होता हुआ द्रष्टा को दिखाई दिया। साधारण भाषा मे हम कहेंगे कि मनुष्य की देखने की घटना और तारा पर विस्फोट की घटना एक ही क्षण में होती है। अर्थात् ये दोनों घटनाएं 'युगपत्' (simultaneous) है। किन्तु वस्तुतः क्या ये घटनाएं युगपत् हैं? नहीं। क्योंकि तारा पृथ्वी से ५० प्रकाश-वर्ष दूर है अर्थात् प्रकाश को तारा और पृथ्वी की बीच की दूरी तय करने में ५० वर्ष लगते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो विस्फोट 'अब' देखा गया, वह वस्तुत. ५० वर्ष पहले हो चुका था। इस प्रकार 'युगपत्' शब्द निरपेक्ष नही रह पाया

१. प्रकाश की गति एक सैकिण्ड मे लगभग १,८६,००० माईल है; इस गति से चलने वाली प्रकाश-किरण जितना अन्तर एक वर्ष में काटती है, उसको १ प्रकाश-वर्ष कहते हैं। प्रकाश-वर्ष—५.८८×१०^{१२} माईल लगभग होते हैं।

है, किंतु दो घटनाओं के बीच की दूरी पर आधारित हो जाता है। दूसरे शब्दों में आकाश और काल एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और विश्व मे होने वाली घटनाओं पर दोनो का सम्मिलित प्रभाव होता है।

आईन्स्टीन के विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धांत से जो अनेक नए तथ्य वैज्ञानिकों के सामने आए, उनमें से दो-तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धातों का उल्लेख संक्षेप में यहां पर किया जा रहा है। यद्यपि ये आकाश और काल सम्बन्धी प्रस्तुत चर्चा से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते हैं, फिर भी इनका महत्त्व भौतिक विज्ञान मे अत्यधिक है।

फिट्जजेराल्ड और लोरेन्टज द्वारा दिये गये सिद्धांतो के अनुसार गति का वस्तु की लम्बाई पर प्रभाव पड़ता है। आईन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धांत मे यह बताया गया कि गतिमान् निकाय (System) मे गति की दिशा मे रही हुई आकाशीय विमिति मे संकोच होता है, साथ ही साथ समय की विमिति में भी संकोच होता है। दूसरे शब्दों मे इस तथ्य को इस प्रकार कहा जा सकता है : गतिमान् निकाय में रही हुई नापने वाली छड़ की लम्बाई में हानि होती है और निकाय में स्थित घड़ी धीमे चलती है। इन परिवर्तनो का आधार गतिमान् निकाय का वेग है। वेग के अनुपात मे ये परिवर्तन होते हैं। ज्यों-ज्यों वेग बढ़ता है, त्यों-त्यों घडी की चाल अधिक शिथिल होती जाती है। यहा तक कि यदि वेग प्रकाश के वेग के समान हो जाए (यह केवल कल्पना की जा रही है), तो घडी ठप्प हो जाएगी। इसी प्रकार नापने वाली छड़ की लम्बाई भी घटती-घटती, अन्तिम दशा मे 'शून्य' हो जाएगी अर्थात् छड़ की लम्बाई रहेगी ही नही। इसलिए प्रकाश के वेग को पाना अशक्य है, यह मन्तव्य सिद्ध हो जाता है।

आईन्स्टीन ने बताया कि प्रत्येक वस्तु का जड़त्व उसकी संहति पर आधारित है। इस जड़त्व के कारण आकाश मे एक 'गुरुत्व-क्षेत्र' (Gravitational Field) की उत्पत्ति होती है। यह क्षेत्र पदार्थ की गति के क्षेत्र को निर्धारित करता है। इस प्रकार के क्षेत्र की भूमिति का निर्धारण पदार्थ की 'संहति' और 'वेग' से होता है, जिसको आईन्स्टीन ने 'गाणितिक समीकरण' द्वारा व्यक्त किया है। प्रत्येक पदार्थ अपने आस-पास के आकाश में जिस गुरुत्व-क्षेत्र की उत्पत्ति करता है, वह 'वक्र' है। यथार्थ शब्दावली में— 'पदार्थ की संहति आकाश-काल की चतुर्वेमितिक सततता में वक्रता लाती है।' पदार्थ की गति उस दिशा मे होती है, जिस दिशा मे आकाश वक्र बनता है। इसको स्पष्ट करने के लिए यह उदाहरण दिया जा सकता है—जैसे एक नतोदर कमरे के बीच हम एक तकिया रख दे और फिर वहां बैठकर चार गोलियो को कमरे की जमीन पर चार दिशाओ मे फेंके। यह स्वाभाविक है कि उस कमरे की नतोदरता के कारण चारों गोलियां उस तकिए से आकर

टकराएंगी। अब, यदि किसी व्यक्ति को कमरे की नतोदरता का पता न हो, तो वह मानेगा कि तकिए में कोई आकर्षण-बल है। किन्तु यह भ्रम होगा। वस्तुत: तो गोलियों का तकिए से टकराने का कारण कमरे की नतोदरता है। ऐसे ही सेव को नीचे गिरते देख न्यूटन ने पृथ्वी के आकर्षण-बल को उसका कारण माना था। किन्तु आईन्स्टीन ने बताया कि 'आकाश की वक्रता' ही इसका सही कारण है। क्योंकि, सेव 'आकाश' में जो वक्रता उत्पन्न करता है, उससे मानो आकाश नतोदर बन जाता है और सेव उस दिशा में गिरता है, जिस दिशा में आकाश की नतोदरता अत्यधिक होती है।

'आपेक्षिकता के सिद्धांत' में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहां न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धांतों में आकाश, काल और भौतिक पदार्थ, सभी एक दूसरे से स्वतंत्र थे, वहां आईन्स्टीन के सिद्धांत मे ये तीनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हो गए हैं। विश्व 'आकाश-काल की संयुक्त चतुर्वैमितिक सततता' बन गया है और उसके गुण-धर्म उसमें समाहित भौतिक पदार्थों पर आधारित हो गए है। भौतिक-पदार्थों की गति एवं स्थिति का सीधा प्रभाव आकाश-काल की सततता पर पड़ता है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त का दार्शनिक पक्ष

आपेक्षिकता के सिद्धान्त मे 'आकाश और काल' के सम्बन्ध मे जो विचार दिये गए हैं, उसके दार्शनिक पक्ष के विषय मे वैज्ञानिकों के अभिमतो का अब हम अवलोकन करें। आकाश, काल और आकाश-काल की चतुर्वैमितिक सततता की वास्तविकता कहां तक वस्तु-सापेक्ष है और कहां तक ज्ञाता-सापेक्ष, इसके विषय मे सभी वैज्ञानिक एकमत नहीं है।

डा० अल्बर्ट आइन्स्टीन के अभिमतानुसार "जिस प्रकार रंग, आकार अथवा परिमाण हमारी चेतना से उत्पन्न विचार हैं, उसी प्रकार आकाश और काल भी हमारी आन्तरिक कल्पना के ही रूप है। जिन वस्तुओं को हम आकाश में देखते है, उनके 'क्रम' के अतिरिक्त आकाश की कोई वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता नही है। इसी प्रकार जिन घटनाओ के द्वारा हम काल को मापते हैं, उन घटनाओं के 'क्रम' के अतिरिक्त काल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।" 'आकाश' और 'काल' का स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व न होने पर भी, 'आकाश-काल की संयुक्त चतुर्वैमितिक सततता' वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतीक है, ऐसा माना गया है। जब इस सततता का 'आकाश' और 'काल' के रूप में पृथक्करण किया जाता है, तब ये भेद ज्ञाता-सापेक्ष होते हैं, किन्तु जब वे चतुर्वैमितिक सततता के रूप में जुड़ते हैं, तब उसके द्वारा हमें वस्तु-सापेक्ष विश्व का ज्ञान होता है। इस तथ्य का स्पष्ट निरूपण सर जेम्स जीन्स के शब्दों में मिलता है। "हम समग्र प्रकृति को इस ढांचे

(चतुर्वैमितिक सततता) में व्यक्त कर सकते हैं, इसलिए यह वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती है। किन्तु 'आकाश' और 'काल' में इसका विभागीकरण वस्तु-सापेक्ष नहीं है—वह तो केवल ज्ञाता-सापेक्ष ही है। ......आपेक्षिकता के सिद्धांत का मूल तत्त्व यही है कि सततता के आकाश और काल के विभागीकरण के विषय में प्रकृति कुछ नही जानती।" इन वैज्ञानिकों के अभिमत में 'आकाश' एक 'संदर्भ का ढांचा' है। जिस प्रकार विषुवद् वृत्त (Equator), ग्रीनिच याम्योत्तर (Greenwich meridian), उत्तरीध्रुव (North pole) आदि काल्पनिक हैं; उसी प्रकार 'आकाश' और 'काल' भी काल्पनिक हैं।

कुछ एक वैज्ञानिक इस निरूपण को स्वीकार नही करते। यद्यपि 'आकाश और काल की संयुक्त चतुर्वैमितिक सततता' के भौतिक पहलू के विषय मे वे भिन्न मत नही रखते, फिर भी इन तत्त्वों का—आकाश और काल का केवल ज्ञाता-सापेक्ष अस्तित्व ही है, यह अभिप्राय उनको मान्य नही है। हंस राइशनबाख ने अपनी पुस्तक (**आकाश और काल का दर्शन**) मे 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के भौतिक पक्ष की चर्चा के साथ-साथ दार्शनिक पक्ष की चर्चा भी की है। इसमे राइशनबाख ने आकाश और काल का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व गणित और तर्क-शास्त्र के आधार से सिद्ध किया है। उनके अभिमतानुसार गाणितिक आकाश के विविध भेद हो सकते है। इनमे से किसी एक को प्रेक्षण और प्रयोग के आधार पर वास्तविक आकाश माना जा सकता है। इस वास्तविक आकाश का 'वस्तु-सापेक्ष' अस्तित्व है। वे लिखते है—"अभिसमयवादियो (conventionalists) के अनुसार वास्तविक आकाश की भूमिति के विषय में वस्तु-सापेक्ष निरूपण करना अशक्य है और इस विषय में तो हम ज्ञाता-सापेक्षात्मक और मनमाना निरूपण कर सकते है। 'वास्तविक आकाश की भूमिति का विचार ही निरर्थक है।'—यह गलत धारणा है। यद्यपि भूमिति सम्बन्धी निरूपण कुछ एक मनमानी व्याख्याओं पर आधारित है, फिर भी यह निरूपण स्वय मे मनमाना नही बन जाता। एक बार व्याख्याओं का निश्चय हम करलें; बाद मे वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता ही भूमिति के वास्तविक रूप को प्रकट करती है।" इसकी स्पष्टता के लिए उन्होंने एक सरल उदाहरण दिया है। जैसे—उष्णतामान के मापने में सेंटीग्रेड, फारनहाइट आदि विविध प्रकार के मानदण्ड काम मे आते हैं। हम अपने अभिसमय के अनुसार कोई एक मानदण्ड को अंकित कर उष्णता-मापक से वस्तु की उष्णता मापते है। जो अंक उष्णता को सूचित करता है, वह यद्यपि मानदण्ड के बदलने पर बदल सकता है, फिर भी उसकी 'यथार्थता' मे परिवर्तन नहीं होता। एक वस्तु का उष्णतामान चाहे १५° सें० कहें अथवा ५६° फा० कहे, इसका आधार यद्यपि हमारे मानदण्ड की पसंदगी पर

है, फिर भी वस्तु का उष्णतामान स्वयं में हमारी पसंदगी पर नहीं है; वह तो वस्तु-सापेक्ष ही है।

काल के सम्बन्ध में प्रचलित गलत धाराणाओं का भी राइशनबाख ने खण्डन किया है : "काल को चतुर्थ विमिति के रूप में मानने से, बहुत लोगों की यह मान्यना बनी है कि काल भी आकाश की ही एक 'विमिति' है। किन्तु यह गलत है। चतुर्विमिति में आकाश और काल को जोड़ने का अर्थ मात्र यही है कि किसी भी घटना (Event) का निर्देश हम चार निर्देशांकों द्वारा कर सकते हैं—आकाश के तीन निर्देशांक और काल का चौथा निर्देशांक।···जिस प्रकार तीन मूल रंगों—लाल, हरा और नीले—के द्वारा हम किसी भी वस्तु के रंग का निर्णय कर सकते हैं कि अमुक वस्तु में इन तीन की कितनी-कितनी मात्राएं है; किन्तु ऐसा करने से वस्तु का रंग बदल नहीं जाता···· (उस प्रकार) काल का चतुर्थ विमिति के रूप मे निरूपण करने से काल के विषय में हमारे विचार मे कोई परिवर्तन नही आता है।" उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि चतुर्वैमितिक गाणितिक रूप को मानते हुए भी यह मानना आवश्यक नही है कि आकाश और काल के बीच कोई अन्तर ही नहीं है। आपेक्षिकता के सिद्धान्त से काल के जिन गुण-धर्मों का ज्ञान हमे होता है, चतुर्थ विमिति के रूप में काल के प्रतिपादन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है। मिन्काउस्की के गाणितिक प्रतिपादन का यह अर्थ करना कि आकाश और काल का केवल सम्मिलित रूप ही वास्तविक है, राइशनबाख के अनुसार गलत है।

आकाश की विमितियों के विषय में वैज्ञानिकों और गणितज्ञों ने यह कल्पना भी की है कि इसकी विमितियों की संख्या चाहे जितनी हो सकती है किन्तु राइशनबाख ने माना है कि वस्तु-सापेक्ष दृष्टि से तो आकाश की केवल तीन विमितिया है। बहु-वैमितिक आकाश गाणितिक हो सकता है, परन्तु वास्तविक आकाश केवल त्रिवैमितिक है। 'वास्तविक आकाश की तीन विमितियां है' यह निरूपण उतना ही वस्तु-सापेक्षात्मक है जितना कि यह निरूपण कि 'भौतिक पदार्थ की तीन अवस्थाएं—ठोस, तरल और वायु—होती है; यह वस्तु-सापेक्ष विश्व के मूलभूत तथ्य का एक वर्णन है।"

राईशनबाख ने आपेक्षिकता के सिद्धांत को मान्य रखते हुए यह निरूपण किया है कि 'आकाश' और 'काल' का वस्तु-सापेक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व है। अपनी पुस्तक 'आकाश और काल का दर्शन' के अन्त में 'आकाश और काल की वास्तविकता' शीर्षक के अन्तर्गत समग्र वैज्ञानिक व गाणितिक विवेचन के निष्कर्ष में वे लिखते है : "अतः हम निम्न कथन को आकाश और काल सम्बन्धी सबसे अधिक सामान्य विधान के रूप में लिख सकते है : 'सर्वत्र और सदा आकाश-काल की निर्देश-निकाय का अस्तित्व है।' यह निष्कर्ष आकाश और काल के बीच की भेदरेखा को अच्छी तरह प्रमाणित करता है।" वस्तु

सापेक्षता और ज्ञाता-सापेक्षता के बीच क्या अन्तर है तथा इसका आकाश और काल के साथ किस रूप में सम्बन्ध होता है, इसके विस्तृत विवेचन के बाद अन्तिम निष्कर्ष के रूप में उन्होंने लिखा है : "इस समग्र चिन्तन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह है कि आकाश के गुण-धर्म वस्तु-सापेक्ष हैं। जिन ज्ञान-मैमांसिक विश्लेषणों (epistemological analyses) द्वारा हमने बहुत सारी समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया, उनका यह अकाट्य अभिमत है कि 'आकाश' और 'काल' वास्तविक हैं।....दार्शनिकों ने अब तक आकाश और काल के केवल आदर्शवादी प्रतिपादन को ही ज्ञान-मैमांसिक विश्लेषण मे शक्य माना है। किन्तु यह इसलिए हुआ है कि उन्होंने आकाश की गाणितिक और वास्तविक समस्याओं के द्विपक्षीय स्वरूप की उपेक्षा की है। गाणितिक आकाश काल्पनिक रचना है; अतः आदर्श है। भौतिक विज्ञान का कार्य है—इन गाणितिक रचनाओं मे से किसी एक को वास्तविकता के साथ जोड़ने का। इस कार्य की निष्पत्ति मे भौतिक विज्ञान वास्तविकता के विषय में निरूपणात्मक कथनों का उच्चारण करता है और हमारा लक्ष्य है, इन कथनों के वस्तु-सापेक्ष मूल तत्त्व को, वर्णन की अनिश्चितता के कारण घुसे हुए ज्ञाता-सापेक्ष बाह्य तत्त्व से विमुक्त करने का।" राइखनबाख के इस समग्र विवेचन का सा॰ाश यही है कि वे 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' को स्वीकार करते है, फिर भी 'आकाश' और 'काल की वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के निरूपण को इस सिद्धान्त का फलित प्रतिपादित करते हैं।

आकाश और काल की वास्तविकता के पक्ष मे जिन वैज्ञानिकों का अभिमत है, उनमें प्रो० हेनॢी मार्गेनौ का नाम भी उल्लेखनीय है। प्रो० मार्गेनौ के अनुसार : कोई भी पदार्थ सापेक्ष होने से, अवास्तविक नही बन जाता। 'निरपेक्ष आकाश' की मान्यता को यद्यपि आपेक्षिकता का सिद्धांत स्वीकार नही करता, फिर भी उससे 'आकाश' की वास्तविकता का अस्वीकार नही होता है। आकाश भी एक 'कन्स्ट्रक्ट्स' माना गया है, जो प्रमाणित है और इसलिए वास्तविक भी है। मार्गेनौ मानते है कि 'आकाश' के भौमितिक गुण-धर्मों का वास्तविक जगत् के पदार्थ कहां तक अनुकरण करते है, इसमें संदिग्धता तो हो सकती है, परन्तु 'आकाश' की वास्तविकता तो असन्दिग्ध है। उदाहरणार्थ कोई भी 'वास्तविक पदार्थ' पूर्ण रूप में सरल रेखात्मक हो, ऐसा अनुभव में न भी आता हो, फिर भी वास्तविक सरल रेखा आकाश के दो बिन्दुओं के बीच अस्तित्व रखती है और आकाश वास्तविक बिन्दुओं का बना हुआ है।

'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के दार्शनिक पक्ष की इस चर्चा के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि आकाश और काल के स्वरूप के विषय में

आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के आधार पर अब तक सर्वमान्य निरूपण नहीं हो का है। आकाश और काल वस्तु-सापेक्ष हैं अथवा ज्ञाता-सापेक्ष, यह दुविधा ब तक भी वैज्ञानिकों के सामने खड़ी है।

उपसंहार

'आकाश' और 'काल' का स्वरूप भी रहस्यमय बना हुआ है। कुछ एक 'रिक्त आकाश' का प्रतिपादन करते हैं, तो अन्य 'अवगाहित आकाश' ा; कई 'निरपेक्ष आकाश' का निरूपण करते हैं, तो कई 'सापेक्ष आकाश' का; आकाश को 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप में स्वीकार करने वाले भी हैं और 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप में करने वाले भी हैं। दूसरी ओर 'काल' के विषय में भी इस प्रकार की विभिन्न विचार-धाराएं है।

न्यूटन का अभिमत था—निरपेक्ष आकाश और काल पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं। इस अभिमत के सहारे वैज्ञानिकों ने भौतिक ईथर की कल्पना की और 'आपेक्षिकता के सिद्धात' ने भौतिक ईथर को तिलाजलि देकर सापेक्ष आकाश-काल की स्थापना की। 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' से वैज्ञानिक जगत् मे नई क्रान्ति आई। 'आकाश' और 'काल' की सयुक्त चतुर्वैमितिक सततता, प्रकाश की सीमित गति के कारण आकाश और काल की परस्परबद्धता, गति का 'आकाश' और 'काल' पर प्रभाव आदि विषय विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के परिणाम है। भौतिक-पदार्थ की संहति से होने वाली आकाश की वक्रता, आकाश के युक्लिडियेतर मौमितिक गुण-धर्म, गुरुत्व और जड़त्व की समानता आदि विषय 'सामान्य आपेक्षिकता के सिद्धान्त' के परिणाम है। फिर भी 'आकाश' और 'काल' का स्वरूप चिन्तन का विषय बना हुआ है।

न्यूटन और जैन दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

न्यूटन द्वारा किया गया आकाश का निरूपण जैन दर्शन के आकाशास्तिकाय के साथ अत्यधिक सदृशता रखता है। दोनों विचारधाराओं में आकाश को एक स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उसको अगतिशील, एक, अखण्ड और शून्यता की क्षमता वाला स्वीकार किया गया है; फिर भी इनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर रह जाता है। न्यूटनीय भौतिक विज्ञान ने आकाश के साथ भौतिक ईथर का अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ कर गति की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया, जब कि जैन दर्शन अभौतिक ईथर (धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य) के सिद्धान्त से गति-स्थिति की समस्या का हल प्रस्तुत करता है। यही कारण था कि न्यूटन के सिद्धांतों ने नहीं सुलझने वाली एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी, जिसके फलस्वरूप

आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने न्यूटन के भौतिक ईथर को तिलांजलि दे दी। जहां तक न्यूटन के आकाश की वास्तविकता-सम्बन्धी निरूपण का प्रश्न है, उसकी तर्कसम्मतता अब भी अविच्छिन्न ही है। पश्चिम के सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल ने इसको स्वीकार करते हुए लिखा है : "न्यूटन का निरपेक्ष आकाश का सिद्धान्त उस दुविधा को दूर करता है, जो 'शून्य' और 'वास्तविकता' के सम्बन्ध से उपस्थित होती है। तर्कशास्त्र के आधार पर इस सिद्धान्त का खण्डन नही किया जा सकता। इस सिद्धान्त की अस्वीकृति का मुख्य कारण यही है कि 'निरपेक्ष आकाश' को जानना कतई सम्भव नही है, इसीलिए प्रायोगिक विज्ञान मे उसकी धारणा कोई अनिवार्य परिकल्पना नही बन सकती। इससे भी अधिक व्यावहारिक कारण यह है कि भौतिक विज्ञान की गाडी इसके बिना भी चल सकती है।" इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन का 'निरपेक्ष आकाश' अथवा जैन दर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धान्त तर्क की दृष्टि से अकाट्य है। 'निरपेक्ष आकाश' के अस्तित्व पर 'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' की चर्चा यथास्थान आगे की जायेगी।

न्यूटन ने काल की जो परिभाषा दी है, उससे यह लगता है कि उन्होने काल को वास्तविक तत्त्व या द्रव्य के रूप मे न मान कर वास्तविक तथ्य के रूप में प्रतिपादित किया है। जैन दर्शन (श्वेताम्बर-परम्परा) भी काल को वास्तविक तत्त्व के रूप मे स्वीकार नहीं करता। न्यूटन ने निरपेक्ष गाणितिक काल का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है; जैन दर्शन के निरपेक्ष कालमान—'समय' आदि उसी प्रकार के सिद्धान्त के द्योतक हैं। इस प्रकार काल के विषय मे भी दोनों सिद्धान्तों में बहुत साम्य है, फिर भी न्यूटन के सिद्धांत ने प्रकाश-गति की सीमितता को अस्वीकार करने के कारण आकाश और काल के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार ही नही किया है, जबकि जैन दर्शन मे प्रकाश-गति की सीमितता से होने वाले आकाश और काल के पारस्परिक सम्बन्ध का विरोध नही है।

इस प्रकार प्राग्-आइन्स्टीनीय विज्ञान के क्षेत्र की आकाश-काल-सम्बन्धी धारणाएं जैन दर्शन की विचारधारा के साथ दार्शनिक (तत्त्व-मैमांसिक) अपेक्षा से अधिक सदृश्य रखती है।

आपेक्षिकता का सिद्धान्त और जैन दर्शन

आइन्स्टीन द्वारा दिए गए आपेक्षिकता के सिद्धान्त के पश्चात् विज्ञान के क्षेत्र में जो नई क्रान्ति आई, उसका आकाश-काल की धारणाओं पर भी गहरा प्रभाव पडा। इस सिद्धान्त के आविष्कार, इसके भौतिक विज्ञान के विविध पहलुओं पर पड़े हुए प्रभाव तथा इसके दार्शनिक पक्ष की चर्चा भी हम कर चुके है। जैन दर्शन के माध्यम से इसकी तुलनात्मक समीक्षा यहां की जा रही है।

आकाश और काल के विषय में आपेक्षिकता के सिद्धान्त के दो पहलू हो जाते हैं ।

१. आकाश और काल की सापेक्षता ।

२. आकाश और काल की वास्तविकता ।

आइन्स्टीन द्वारा प्रदत्त मूल आपेक्षिकता के सिद्धान्त में कहा गया है : "किसी भी प्रकार के प्रयोग के द्वारा किसी भी गतिमान निकाय की निरपेक्ष गति का पता नहीं लगाया जा सकता ।" इस सिद्धांत के आधार पर सामान्यतया यह तात्पर्य निकाला जाता है कि निरपेक्ष आकाश का कोई अस्तित्व ही नहीं है । यदि यही तात्पर्य सही हो, तो जैन दर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धान्त आपेक्षिकता के सिद्धान्त के साथ मेल नहीं खाता । किन्तु उक्त तात्पर्य निर्विवादतया मान्य नहीं है । सर्वप्रथम तो यह जानना आवश्यक है कि आपेक्षिकता के सिद्धांत मे कथित अशक्यता ज्ञाता-सापेक्ष असमर्थता के कारण है अथवा वस्तु-सापेक्ष असम्भवता के कारण है । यदि ज्ञाता-सापेक्ष असमर्थता के परिणाम रूप ही हम किसी भी गतिमान निकाय की निरपेक्ष गति को जानने मे असमर्थ रहते हैं, तो निरपेक्ष गति के वास्तविक अस्तित्व का अन्त नहीं आ जाता । जैन दर्शन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि उक्त अशक्यता ज्ञाता-सापेक्ष असमर्थता के कारण ही है, न कि वस्तु-सापेक्ष असम्भवता के कारण । राइशनबाख ने इस प्रकार के विपर्यय को स्पष्ट उदाहरण के द्वारा समझाया है : "अवश्य ऐसे बहुत सारे प्रसंग होते हैं, जहां भौतिक विज्ञान परिमाणों को निकालने मे समर्थ नहीं होता । इसका अर्थ क्या यह होता है कि जिस राशि का हम परिमाण निकालना चाहते हैं, उसका अस्तित्व ही नहीं है ? उदाहरणार्थ, हवा के एक घन सेण्टीमीटर में रहे हुए अणुगुच्छे (मोलिक्यूल) की संख्या का सही-सही निश्चय करना अशक्य है । निश्चितता की अत्यधिक मात्रा के साथ हम कह सकते है कि एक-एक अणुगुच्छ को गिनने मे हम असफल ही रहेंगे, तो फिर क्या हम यह परिणाम निकाल ले कि इस संख्या का अस्तित्व ही नहीं है ? प्रत्युत हमे यही कहना होगा कि ऐसा पूर्णांक होना ही चाहिए, जो इस राशि का बिलकुल सही द्योतक हो । आपेक्षिकता के सिद्धात की भूल इसी तथ्य में निहित है कि उसमें जानने की अशक्यता को वास्तविक असम्भवता के साथ उलझा दिया गया है ।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि निरपेक्ष आकाश का कोई अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा फलित आपेक्षिकता के सिद्धांत के आधार पर निकालना अयथार्थ होगा ।

विश्व के प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक हाइज़नबर्ग ने इसी उलझन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है:—"ईथर नामक परिकल्पित द्रव्य, जो १९ वीं शताब्दी में मैक्सवेल के सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, अब

आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा नामशेष कर दिया गया है। इसी बात को कभी-कभी इस प्रकार भी कहा जाता है कि 'निरपेक्ष आकाश का सिद्धान्त' खण्डित हो चुका है। किन्तु ऐसे कथन को बहुत सावधानी के साथ स्वीकार करना चाहिए।" यद्यपि हाइजनबर्ग ने यह तो स्वीकार नहीं किया है कि आकाश नामक कोई स्वतन्त्र अगतिशील वास्तविकता का अस्तित्व है, फिर भी उन्होंने यह तो माना ही है कि भौतिक ईथर के नामशेष हो जाने से 'आकाश' नामशेष नहीं हो गया है। अन्यत्र उन्होंने एक तर्क आपेक्षिकता के सिद्धांत के आलोचकों के नाम पर उपस्थित किया है, जिसको यद्यपि वे स्वीकार नहीं करते हैं, फिर भी यह तो मानते है कि इस तर्क को प्रायोगिक आधार पर गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि इसमे ऐसी कोई धारणा नहीं की गई, जो विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त से भिन्न हो। इसको प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं: "आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है—'निरपेक्ष आकाश और निरपेक्ष काल का नास्तित्व विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है। (उस सिद्धांत ने तो) यही बताया गया है कि किसी भी सामान्य प्रयोग में वास्तविक आकाश और वास्तविक काल प्रत्यक्षतः भाग नहीं लेते, किन्तु यदि प्राकृतिक नियमों के इस पहलू को ध्यान मे ले लिया जाये तथा गतिमान निर्देश-निकायों के लिए सही प्रतीत्यमान काल (मानो) का व्यवहार किया जाये, तो निरपेक्ष आकाश की धारणा के विरोध मे कोई तर्क नहीं रह जाता। ऐसा भी सम्भवतः माना जा सकता है कि हमारी आकाशगगा का गुरुत्व-केन्द्र (सेंटर ऑफ ग्रेविटी) निरपेक्ष आकाश मे (कम से कम लगभग) स्थिर है।' इससे आगे आपेक्षिकता के सिद्धांत के आलोचक यह भी कह सकते है—'हम आशा कर सकते हैं कि भविष्य के नाप-तौल निरपेक्ष आकाश की स्पष्ट परिभाषा देने में हमें समर्थ बना देंगे।' और इस प्रकार हम आपेक्षिकता के सिद्धान्त का खण्डन कर सकेंगे।" इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आधार पर निरपेक्ष आकाश के अस्तित्व को स्वीकार न करना गलत सिद्ध हो सकता है।

प्रो० मार्गेनो भी इस बात को स्वीकार तो करते ही है कि निरपेक्ष आकाश एक सम्भवित कन्स्ट्रक्ट्स है : "निरपेक्ष आकाश को स्वीकार करने वाला अपनी विचारधारा को इस सरल तथ्य पर आधारित करता है कि त्रिवैमितिक आकाश की कल्पना वह तभी कर सकता है, जबकि वह आकाश पदार्थशून्य हो। इस प्रकार का आकाश एक सम्भवित कन्स्ट्रक्ट्स है और वह प्राथमिक प्रश्न के ढाचे मे ही निरपेक्ष है।" इससे आगे उन्होंने यही बताया है कि इस प्रकार का आकाश उपयोगी न होने से वैज्ञानिक इसको स्वीकार नहीं करते, फिर भी इतना तो स्पष्ट रूप से स्वीकार्य हो ही जाता है कि

निरपेक्ष आकाश का अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ है ।

निरपेक्ष आकाश को जिस प्रकार से जैन दर्शन ने स्वीकार किया है, उसका खण्डन तो आपेक्षिकता के सिद्धांत द्वारा किया ही नहीं जा सकता । हां, यह अवश्य मानना पडता है कि भौतिक विज्ञान के प्रायोगिक क्षेत्र मे इस प्रकार के निष्क्रिय तत्त्व की कोई आवश्यकता प्रतीत न होने से उसके अस्तित्व को मानना भी आवश्यक न समझा जाये ।

आपेक्षिकता के सिद्धांत का दूसरा पहलू है— आकाश और काल की वास्तविकता । हम देख चुके है कि वैज्ञानिक इस विषय में एकमत नहीं हैं । आइन्स्टीन आदि जहां आकाश और काल को चेतन (ज्ञाता) द्वारा कल्पित तत्त्व ही मानते है, वहा राइशनबाख आदि उसकी वास्तविकता को स्वीकार करते हैं । इस समस्या का हल प्राप्त करने के लिए हमें पहले कुछ धारणाओं का स्पष्टीकरण करना पड़ेगा । वैज्ञानिक शब्दावलि में आकाश, काल, आकाश-काल की चतुर्वेमितिक सततता गुरुत्व-क्षेत्र या आव्यूहीय क्षेत्र (मेट्रिकल फील्ड) तथा ईथर; इन शब्दों के द्वारा किन-किन तथ्यों का निरूपण हुआ है और जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों (आकाशास्तिकाय, काल, धर्म, अधर्म, द्रव्य) से ये कहां तक सम्बन्धित होते हैं ? ये दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । 'आकाश' शब्द का प्रयोग आइन्स्टीन आदि केवल 'पदार्थ-क्रम' के अर्थ मे करते है, जबकि राइशनबाख आदि पदार्थ-क्रम के अतिरिक्त आकाश को एक स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप मे देखते हैं । जैन दर्शन मे भी आकाशास्तिकाय को आश्रय देने वाला वास्तविक द्रव्य कहा है । यह धारणा आइन्स्टीन की आकाश की धारणा से नितात भिन्न है । यदि आइन्स्टीन की आकाश की धारणा को स्वीकार किया जाता है, तो उससे पदार्थों के आश्रय की समस्या नही सुलझती । अत: जहां हम तर्कशास्त्रीय भूमिका को लेते है, वहा आइन्स्टीन की 'आकाश' सम्बन्धी धारणा से काम नहीं चल सकता ।

इसके अतिरिक्त भी आइंस्टीन की दी हुई परिभाषा पर्याप्त नही है । जैसा कि स्पष्ट हो चुका है, सामान्य आपेक्षिकता के सिद्धांत मे आकाश और गुरुत्व-क्षेत्र या आव्यूहीय क्षेत्र को एक बना दिया गया है, जहा आकाश केवल पदार्थों का क्रम न रह कर वक्रता को धारण करने वाला कोई तत्त्व या क्षेत्र का रूप ले लेता है । अब 'यह क्षेत्र क्या स्वन्तत्र वास्तविकता है ?'—इस प्रश्न का उत्तर यदि निषेध मे नही है तो यह क्षेत्र भी सम्भवतः वास्तविक 'आकाश' से अधिक भिन्न नही रह जाता । सामान्यतया यही माना जाता है कि वक्रता या क्षेत्र की उत्पत्ति पदार्थों की सहति से उत्पन्न होती है । जहां पर भी सहति वाला पदार्थ होता है, वह अपने आस-पास इस क्षेत्र को वैसे ही उत्पन्न कर देता है, जैसे चुम्बक के आस-पास चुम्बकीय क्षेत्र हो जाता है अथवा विद्युत् प्रवाह के आस-पास विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है ।

तब यही कहा जा सकता है कि क्षेत्र कोई स्वतन्त्र वास्तविकता नहीं है। किंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। पदार्थों के अभाव में भी सूक्ष्म मात्रा में वक्रता या क्षेत्र का अस्तित्व बना रहता है। एडिंग्टन ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है : 'उस प्रदेश मे जहां किसी भी प्रकार के ज्ञात भौतिक पदार्थ या विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र का अभाव है, वहां पर भी एक निश्चित अल्प मात्रा मे प्राकृतिक वक्रता होती है, जिसे सुख्यात रूप से विश्व-सम्बन्धी अचल कहा जाता है। इस वक्रता का उत्तरदायी उस प्रदेश को रोकने वाला कोई तत्त्व है, जिसे चाहे हम आकाश कहें क्षेत्र कहें या ईथर[1] कहे।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह निश्चित है कि भौतिक पदार्थ के अभाव मे भी कोई ऐसा तत्त्व रह जाता है, जिसे हमें स्वतन्त्र वास्तविकता का ही रूप मान लेना पड़ेगा। जैन दर्शन का 'आकाशास्तिकाय' तो सम्भवतः इसमे भी भिन्न रह जायेगा। हा, जिस रूप मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय की कल्पना की गई है, उससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि वे इस प्राकृतिक वक्रता के लिए उत्तरदायी हो। उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आकाशास्तिकाय नामक तत्त्व की जो धारणा जैन दर्शन मे है, उसकी पूर्ति वैज्ञानिकों की आकाश, क्षेत्र या ईथर-सम्बन्धी धारणा नही कर सकती।

अब 'चतुर्वेमितिक आकाश-काल की सततता' की धारणा को ले। इसके विषय मे आइन्स्टीन के विचारों को समझना कठिन है। जैसे कि पहले बताया जा चुका है, वे इसे वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे मानते हैं। विश्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर वे यही देते है कि विश्व चतुर्वेमितिक आकाश-काल की सततता है। विश्व पदार्थों से नही, घटनाओं से बना हुआ है और ये घटनाएं इस चतुर्वेमितिक आकाश-काल की सततता की ही विविध अवस्थाए हैं। इस प्रकार का विवेचन अत्यन्त ही उलझनपूर्ण लगता है। एक ओर तो यह माना जाता है कि पदार्थ अपनी संहति के कारण चतुर्वेमितिक सततता मे वक्रता उत्पन्न कर देता है—"जिस प्रकार सागर मे तैरती मछली अपने आस-पास के पानी को आंदोलित कर देती है, उसी तरह एक तारा, पुच्छलतारा या ज्योतिर्माला उस आकाश-काल की सततता मे जिसमें होकर वे गति करते है, परिवर्तन ला देते है।" दूसरी ओर उन पदार्थों को ही उस सततता की अवस्था का रूप माना जाता है। इस प्रकार

१. एडिंग्टन ने 'ईथर' सम्बन्धी एक नया सिद्धान्त उपस्थित किया है। उनके अभिमत मे आपेक्षिकता के सिद्धांत ने भौतिक ईथर का अस्तित्व मिटा दिया है, किन्तु तब भी अभौतिक ईथर का अस्तित्व तो सम्भव हो सकता है। एडिंग्टन ने आकाश और ईथर में अविच्छिन्न सम्बन्ध की कल्पना की है और माना है कि आकाश, ईथर और क्षेत्र तीनों ही एक हैं। देखें, न्यू पाथवेज इन साईन्स, पृ० ३८-४१।

चतुर्वैमितिक सततता का तत्त्व-मैमांसिक दृष्टि से अस्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। यह स्पष्ट अभिमत है कि आकाश-काल की चतुर्वैमितिक सततता से यह तात्पर्य निकालना कि काल आकाश की ही विमिति है, गलत होगा। जैन दर्शन का प्रतिपादन इस विषय में स्पष्ट है। पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल को भिन्न मानकर चलने पर आपेक्षिकता के सिद्धान्त के साथ कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। पुद्गलास्तिकाय के संहति, गति आदि गुणों का आकाशास्तिकाय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैन दर्शन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पौद्गलिक प्रभावों से उत्पन्न होने वाले गुरुत्व-क्षेत्र आदि भी पौद्गलिक होने चाहिए। अतः उसमे होने वाले परिवर्तन पुद्गल से ही सम्बन्धित है; इसका आकाश के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

बर्ट्रेण्ड रसल द्वारा प्रतिपादित आकाश-सम्बन्धी सिद्धान्त वैज्ञानिकों की उलझन को और स्पष्ट कर देता है। एक तात्त्विक विवेचन के निष्कर्ष रूप में उन्होंने लिखा है—"इस तरह दो प्रकार के आकाश हो जाते हैं—एक तो ज्ञाता-सापेक्ष आकाश और दूसरा वस्तु-सापेक्ष आकाश। एक हमारे अनुभव द्वारा ज्ञात और दूसरा केवल अनुमानित या प्रकल्पित। किन्तु इस अपेक्षा से आकाश और विषय-ग्रहण के अन्य पहलुओं—जैसे रंग, शब्द आदि में कोई फर्क नहीं है। सब के सब अपने ज्ञाता-सापेक्ष रूप मे कार्यकारणवाद के द्वारा प्रकल्पित होते है। वर्ण, शब्द और गन्ध के हमारे ज्ञान मे आकाश के हमारे ज्ञान को किसी भी कारण से भिन्न नही माना जा सकता।" रसल द्वारा प्रतिपादित इन दो प्रकार के आकाशों का अनुभव ग्राह्य (पर्सेप्चुअल) आकाश और धारणात्मक (कन्सेप्चुअल) आकाश कहा जाता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय को रसल के शब्दों मे 'धारणात्मक आकाश' कहा जाता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय को रसल के शब्दों मे 'धारणात्मक आकाश' कहा जा सकता है, जबकि वैज्ञानिकों का सम्बन्ध केवल अनुभव-ग्राह्य आकाश के साथ रहता है, किन्तु धारणात्मक आकाश का अस्तित्व स्वीकार किये बिना आश्रय-आश्रित सम्बन्ध की पहेली सुलझ नही सकती।

इस प्रकार उक्त विवेचन के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय का सिद्धांत न केवल आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा अखण्डित है, अपितु तर्क-सम्मत भी है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम है—आकाश-काल की विमितियों मे संकुचन। लोरेन्ट्ज़ द्वारा दिये गये समीकरणों से पता चल जाता है कि किसी भी पदार्थ की गति के साथ आकाश-काल की विमितियां संकुचित होती हैं। गतिमान पदार्थ की लम्बाई गति की दिशा में

संकुचित हो जाती है—इसी को आकाशीय विमिति में संकुचन माना गया है। अब यदि इस संकुचन को वास्तविक आकाश का ही संकुचन मान लिया जाये, तो यह गलत होगा। क्योंकि यह संकुचन भौतिक पदार्थ की ही एक अवस्था-परिवर्तन के फलस्वरूप है, न कि अभौतिक आकाश, जिसमे वह पदार्थ आश्रित है, के सकुचन के कारण।

काल-विमिति का संकुचन कुछ दुरूहता उत्पन्न कर देता है, इसको समझने के लिए एक सरल उदाहरण लिया जाये। एक तारा पृथ्वी से ४० प्रकाश वर्ष दूर है। अब यदि एक राकेट २४०००० किलोमीटर प्रति सैकिण्ड की गति से वहा जाता है, तो उसे वहा पहुंचने मे कितना समय लगेगा? आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार इसके दो उत्तर है :

पृथ्वी-स्थित मनुष्य की अपेक्षा से तो तारे पर पहुंचने में—

$$\frac{३००००० \times ४०}{२४००००} = ५० \text{ वर्ष}$$

लगेंगे। (क्योंकि प्रकाश की गति ३००००० कि० मी० प्रति सैकिण्ड है।) किन्तु जो मनुष्य उस राकेट मे बैठे हुए है, उनके लिए फिट्जगेराल्ड के संकुचन नियमो के अनुसार काल-विमिति मे सकुचन हो जायेगा। यह सकुचन १०:६ के अनुपात मे होगा अर्थात् राकेट में बैठे हुए मनुष्य के लिए तारे तक पहुचने मे $\frac{५० \times ६}{१०}$ = ३० वर्ष लगेंगे।

उक्त उदाहरण से काल की विमिति के संकुचन को समझा जा सकता है, किन्तु इसके दार्शनिक पक्ष मे उलझन पैदा हो जाती है। मनुष्य की प्राकृतिक प्रक्रियाए (जिसमे उसकी आयु भी है) क्या इस सकुचन से प्रभावित होती है। अर्थात् गति के प्रभाव से काल का जो सकुचन हुआ है, उसके अनुसार ही क्या मनुष्य की प्राकृतिक प्रक्रियाए कार्य करती रहेगी? इस प्रश्न के उत्तर में सम्भवत. वैज्ञानिक एकमत नही है। प्रो० मार्गेनौ इस विषय मे यही अभिमत प्रकट करते है कि ये सभी सकुचन किसी भी अर्थ मे वास्तविक ही है।[1] जबकि एडिंग्टन के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'क्या आकाश-काल के सकुचन वास्तविक है?' तब इसके उत्तर मे उन्होने कहा था—"हम बहुधा 'सत्य' और 'वास्तविक सत्य' के बीच भेद करते है। उसी के आधार पर गतिमान निकाय का संकुचन भी 'सत्य' कहा जा सकता है, पर 'वास्तविक सत्य' नही कहा जा सकता।"

'आपेक्षिकता के सिद्धांत' मे आकाश और काल की परस्पर-सापेक्षता का जो निरूपण किया गया है, वह निर्विवाद है। इसका आधार प्रकाश-गति की सीमितता है। यह एक तथ्य है कि हमारी इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त

१. देखें, दी नेचर ऑफ फिजिकल रियलिटी, पृ० १४९।

होता है, वह इस गति से तेज चलने वाले किसी भी साधन की सहायता से नहीं हो सकता; अतः घटना और द्रष्टा की (आकाशीय) दूरी के ऊपर युगपत्ता की परिभाषा आधारित हो जाती है। अतः 'किसी भी घटना के पूर्ण विवेचन में आकाश और काल दोनों जुड़े हुए रहते है, यह सिद्धांत निर्विवाद रूप से मान्य हो जाता है, किन्तु प्रकाश-गति की सीमितता का क्षेत्र कहां तक है ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त की सत्यता की कसौटी सम्भवतः तब हो सकेगी, जब स्थूल विश्व (मेक्रोकोस्मोम) के नियमों की समीचीनता सूक्ष्म विश्व (माइक्रोकोस्मोस) में भी यथावत् सिद्ध हो जायेगी। अब तक सूक्ष्म विश्व विषयक विज्ञान की ज्ञानराशि अत्यधिक अल्प है, ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक नियमों की सत्यता के विषय मे अन्तिम रूप से कुछ भी कहना संभव नही माना जा सकता।

उपसंहार

समग्र विवेचन के निष्कर्ष मे यही कहा जा सकता है कि प्रथम तो आपेक्षिकता का सिद्धान्त आकाश और काल-सम्बन्धी जिन धारणाओं को उपस्थित करता है, उनकी सत्यता असदिग्ध नही है और दूसरा इसका दार्शनिक प्रतिपादन सर्वसम्मत नही है। कुछ वैज्ञानिकों के द्वारा किया गया प्रतिपादन सम्भवतः ईश्वरवादी दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित है तथा स्पष्ट और तर्कसंगत भी नहीं है। आकाश-काल और विश्व की गति-स्थिति-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने वाले जैन दर्शन के सिद्धान्त वस्तुतः ही आज के वैज्ञानिकों के सामने एक सम्यक् दार्शनिक प्रणाली उपस्थित करते है। यह सही अर्थ में अस्तित्व का दर्शन है। जैन दर्शन में निरूपित सिद्धान्त का स्रोत तर्क नहीं अपितु अन्त:-अनुभूति या विशिष्ट आत्म-ज्ञान है, जिसमें तत्त्व से प्रत्यक्ष सम्पर्क बनता है। तर्क तो इन सिद्धान्तो की एक कसौटी मात्र बन सकती है। 'वास्तविकता' के पीछे रहे 'क्यों' को हम सम्भवतः न तो तर्क के सहारे जान सकते हैं और न भौतिक साधन-प्रसाधन तथा ऐन्द्रिय ज्ञान की सहायता से जान सकते हैं। प्रो० मार्गेनौ ने वास्तविकता के स्वरूप नामक पुस्तक के अन्तिम पृष्ठों मे लिखा है—"यह निश्चित है कि वास्तविकता का कोई भी कारण (भौतिक अर्थ में) हो नही सकता।.........ऐसे बिन्दु पर जाते ही वैज्ञानिक छुट्टी ले लेता है और अस्तित्व का दार्शनिक सूत्रधार बन जाता है।"

अभ्यास

१. जैन दर्शन की द्रव्य-मीमांसा में वर्णित गति-माध्यम एवं स्थिति-

माध्यम के स्वरूप को विस्तार से बताते हुए उनकी वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा करें।

२. जैन दर्शन के आकाश द्रव्य को समझाइए। उसकी तार्किक आधारों पर मीमांसा करें।

३. जैन दर्शन में काल को क्या माना गया है ? इस विषय में क्या मतभेद है ? एतद्विषयक वैज्ञानिक अवधारणा के साथ जैन दर्शन की तुलना करे।

४. आइंस्टीन से पूर्व विज्ञान के क्षेत्र में आकाश और काल की क्या अवधारणाए थी ?

५. आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा आकाश और काल के स्वरूप को किस रूप में प्रस्तुत किया गया है ?

६. आपेक्षिकता के सिद्धान्त के दार्शनिक प्रतिपादन की विस्तृत चर्चा करें।

७. जैन दर्शन एवं आपेक्षिकता के सिद्धान्त की आकाश सम्बन्धी अवधारणाओं की तुलना करे।

७. विश्व का परिमाण और आयु

जैन दर्शन का दृष्टिकोण

विश्व का आकार क्या है ?

अनन्त-असीम आकाश के बहुमध्यभाग में स्थित सान्त-ससीम 'लोक' का निश्चित आकार माना गया है। जो धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का आकार है, वही लोक का आकार बन जाता है। दूसरे शब्दों में जिस आकार से धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाश में स्थित हैं, उसी आकार से 'लोक' स्थित है।

सुप्रतिष्ठक आकार का अर्थ है—त्रिशरावसम्पुटाकार। एक शिकोरा (शराव) उल्टा, उस पर एक शिकोरा सीधा, फिर उस पर एक उल्टा रखने से जो आकार बनता है, उसे त्रिशरावसम्पुटाकार कहते है। इस प्रकार से बने आकार में नीचे चौड़ाई अधिक और मध्य मे कम होती है। पुनः ऊपर चौड़ाई अधिक होती है और अन्त में पुनः कम हो जाती है। अन्यत्र समग्र लोक का आकार पुरुष-संस्थान भी बतलाया गया है। दोनों हाथ कटि तट पर रख कर जैसे कोई पुरुष वैशाख संस्थान की तरह (पैर चौड़े रखकर) खड़ा हो, वैसा ही सर्वथा यह लोक है। इस प्रकार विविध उपमाओ के द्वारा लोक का आकार स्पष्ट किया गया है। लोक के 'आयतन' का विवेचन गणितिक होने से लोक का आकार कहां किस प्रकार है, इसकी स्पष्ट कल्पना गणितिक विवेचन के द्वारा हो सकती है।

विश्व कितना बड़ा है ?

लोकाकाश सान्त और ससीम है; अतः उसका निश्चित 'आयतन' माना गया है। इसके गणितीय विवेचन के अतिरिक्त इसको भी उपमा के द्वारा समझाया गया है। "यह लोक कितना बडा है ?" गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम ! यह लोक बहुत बड़ा है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व और अधो दिशाओं मे असंख्यात योजन का लम्बा-चौड़ा कहा गया है।"

गणितीय विवेचन

लोक के आकार और आयतन के विषय में जैन साहित्य में विस्तृत गणितिक विवेचन मिलता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर-परंपरा

में यह विवेचन भिन्न-भिन्न रूप में मिलता है।

दिगम्बर-परम्परा

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार लोक का गाणितिक-विवेचन निम्नोक्त है।

"लोक के तीन परिमाणों में से (ऊंचाई, लंबाई, चौडाई) प्रथम परिमाण अर्थात् ऊंचाई १४ रज्जु[1] है। दूसरा परिमाण (अर्थात् चौड़ाई) सर्वत्र ७ रज्जु है। तीसरा परिमाण (अर्थात् लम्बाई) सारे लोक में समान नहीं है। लोक के विभिन्न स्थानों पर लोक की लम्बाई भिन्न-भिन्न है। उसको समझने के लिए लोक के (ऊंचाई के प्रमाण से) दो विभागों की कल्पना करनी चाहिए। अर्थात् लोक के दो भाग करने चाहिए, जिसमे से प्रत्येक भाग की ऊंचाई ७ रज्जु हो। इन दो भागों मे से, प्रथम अधस्तन भाग (अधोलोक) नीचे (आधार पर) ७ रज्जु लम्बा है और ऊपर क्रमशः घटता-घटता १ रज्जु। इस प्रकार अधोलोक का आकार समलम्बचतुर्भुजाधार सम-पार्श्व के सदृश होता है, जिसकी ऊंचाई ७ रज्जु, चौडाई सर्वत्र ७ रज्जु और लम्बाई नीचे आधार पर ७ रज्जु और ऊपर १ रज्जु है।

अधोलोक का घनफल १९६ घन रज्जु है।

ऊर्ध्वलोक की ऊंचाई ७ रज्जु है, चौडाई सर्वत्र ७ रज्जु है और लम्बाई नीचे १ रज्जु, बीच मे ५ रज्जु और ऊपर १ रज्जु है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक दो समान समलम्ब चतुर्भुजाधार समपार्श्व का बना हुआ है।

ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घन रज्जु है। अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के घनफलों को मिलाने पर समग्र लोक का घनफल निकलता है;

समग्रलोक का घनफल=१९६+१४७

=३४३ घन रज्जु

श्वेताम्बर-परम्परा

श्वेताम्बर-परम्परा के आगम-साहित्य मे यद्यपि लोक आयाम, विष्कम्भ आदि के विषय मे विस्तृत गाणितिक विवेचन उपलब्ध नही है, फिर भी उत्तरवर्ती-ग्रन्थों मे जो विवेचन किया गया है, उसके आधार पर यहां लोक का गणितीय विवेचन किया जा रहा है। इन ग्रन्थों के अनुसार लोक की ऊंचाई १४ रज्जु है। दूसरा परिमाण (चौडाई) और तीसरा परिमाण (लम्बाई) विभिन्न ऊंचाइयों पर भिन्न-भिन्न है और समान ऊंचाई पर समान है।

लोक-प्रकाशकार विनयविजय गणी ने लिखा है: "इस घनीकृत लोक के तीन सौ तैंतालीस घन-रज्जु तत्त्वज्ञों द्वारा माने गए है।"

---

१. रज्जु जैन-खगोल-शास्त्र का नाप है, जिसके विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन आगे किया गया है।

दो परम्पराओं का मतभेद और उसकी समीक्षा

उपरोक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बर-परम्परा, लोक के कुल आयतन के विषय में एकमत हैं ही कि लोक का आयतन ३४३ घन रज्जु है। दोनों परम्पराओं में मुख्य मतभेद रह जाता है—लोक के आकार के विषय में। लोक की ऊंचाई १४ रज्जु है, यह भी दोनों परम्पराओं को मान्य है। लोक की दो विमितियां (लम्बाई और चौड़ाई) लोक के अधस्तन अन्त पर सात रज्जु हैं, यह भी दोनों परम्पराएं मानती है। अधस्तन अन्त से ७ रज्जु ऊपर लोक की एक विमिति १ रज्जु, अधस्तन अन्त के १०½ रज्जु ऊपर लोक की एक विमति ५ रज्जु और ऊर्ध्वान्ति मे (अधस्तन अन्त से १४ रज्जु ऊपर) लोक की एक विमिति १ रज्जु है; यह भी दोनों परम्पराओं को मान्य है। जहां दिगम्बर-परम्परा लोक के उत्तर-दक्षिण बाहुल्य को सर्वत्र ७ रज्जु और लोक के समग्र आकार को 'आयत-चतुरस्राकृति' वाला मानती है, वहां श्वेताम्बर-परम्परा सर्वत्र समान बाहुल्य को स्वीकार नहीं करती है।

लोक के उत्तर-दक्षिण बाहुल्य की सर्वत्र सात रज्जु की स्थापना आचार्य वीरसेन की ही मौलिक देन है। इसी मान्यता को अधिक पुष्ट प्रमाण मिले है और अधिकांश विद्वानों ने इसको स्वीकार किया है। इससे यह कहा जा सकता है कि धवलाकार वीरसेनाचार्य से पूर्व दिगम्बर-परम्परा मे लोक के आकार के विषय मे गणित की दृष्टि से कोई सुस्पष्ट मान्यता नही थी। उस समय सम्भवतः श्वेताम्बर आचार्यों में मृदंगाकार लोक की कल्पना प्रचलित थी, उसका उल्लेख धवला में किया गया है। किन्तु उस मान्यता में गणितीय दृष्टि से यह त्रुटि थी कि लोक का समग्र घनफल ३४३ घन रज्जु से बहुत कम था। वीरसेनाचार्य ने गणितीय आधारों पर मृदंगाकार लोक का घनफल निकाल कर दिखा दिया कि यह मान्यता ३४३ घन रज्जु की मान्यता के साथ सगत नही हो सकती है। तदुपरान्त उन्होने दो प्राचीन गाथाओं के आधार पर यह बताया कि लोक का घनफल अधोलोक में १९६ घनरज्जु और ऊर्ध्वलोक में १४७ घनरज्जु होना चाहिए। उन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा खोज निकाला कि ऐसा फलित तभी हो सकता है, जबकि लोक की एक विमिति को सर्वत्र सात रज्जु मान लिया जाये। इस परिकल्पना के आधार पर उन्होंने लोक की जो आकृति बनाई, उसमें लोक का समग्र घनफल ३४३ घनरज्जु, अधोलोक का १९६ घनरज्जु और ऊर्ध्व-लोक का १४७ घनरज्जु हुआ। इस आकृति मे मूल मान्यताएं जैसे कि समग्र ऊंचाई १४ रज्जु, अधोलोकान्त में बाहुल्य सात रज्जु, लोक-मध्य में १ रज्जु, ऊर्ध्वलोक के मध्य में ५ रज्जु और ऊर्ध्वलोक के अन्त में १ रज्जु भी सुरक्षित रह गई। इस प्रकार वीरसेन द्वारा प्रतिपादित लोकाकृति दिगम्बर-परम्परा

में सर्वमान्य हो गई।

श्वेताम्बर परम्परा में लोक के विषय मे मूल मान्यताओं में उपरोक्त मान्यताओं के अतिरिक्त इन मान्यताओं का भी समावेश होता है :

१. लोक का आयाम-विष्कम्भ (लम्बाई-चौडाई) समान ऊंचाई पर समान होना चाहिए।

२. लोक की लम्बाई-चौडाई मे उत्सेध की अपेक्षा क्रमिक वृद्धि-हानि होनी चाहिए।

इन मान्यताओं को यदि स्वीकार किया जाये, तो 'उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु बाहुल्य' की कल्पना संगत नहीं होती है। इसलिए श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्यों ने 'उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु' वाली मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। दूसरी ओर ३४३ घन रज्जु वाली मान्यता को वे स्वीकार करते है।

लोक का कुल आयतन ३४३ घन रज्जु है, जिसमे अधोलोक का घनफल १९६ घन रज्जु और ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घनरज्जु है।

धवलाकार आचार्य वीरसेन ने लोक के सम्पूर्ण घनफल को ३४३ घन रज्जु तथा अधोलोक के घनफल को १९६ घन रज्जु और ऊर्ध्वलोक के घनफल को १४७ घन रज्जु सिद्ध करने के लिए लोक के उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात रज्जु मोटाई की कल्पना की है, क्योंकि उनके मतानुसार लोक को अन्य प्रकार से मानने पर उक्त घनफल सम्भव नही है।

आधुनिक गणित-पद्धतियों के प्रकाश में

यदि आधुनिक गणितीय पद्धतियो के प्रकाश मे उक्त समस्या का अध्ययन किया जाये, तो ऐसा समाधान निकल सकता है, जो उल्लिखित मूल मान्यताओं के साथ सगत हो और उसमे गणितीय विधियों की पूर्णता भी सुरक्षित रहे। इस प्रकार का प्रयत्न करने पर[1] यह निष्कर्ष निकलता है कि लोक का ३४३ घन रज्जु आयतन श्वेताम्बर-परम्परा के द्वारा प्रतिपादित मूल मान्यताओं पर निकाला जा सकता है।

इस प्रकार के प्रयत्न के फलस्वरूप हम लोकाकृति के जिस निर्णय पर पहुचते है, उसकी ये विशेषताएं उल्लेखनीय हैं :

इस नवीन आकृति में सर्वत्र सात रज्जु बाहुल्य माने बिना भी समग्र लोक का घनफल ३४३ घन रज्जु, ऊर्ध्वलोक का १४७ घन रज्जु और अधोलोक का १९६ घन रज्जु सम्भव हो जाता है।

---

१. आधुनिक 'समाकलन-गणित' मे ठोस आकृतियों के आयतन निकालने की विधि के आधार पर लोकाकृति का आयतन निकालने पर ३४३ घन रज्जु का आयतन हो सकता है।

इस नवीन आकार में चारो ओर से लोक का आकार समान दिखाई देता है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण विस्तार सात रज्जु, एक रज्जु, पांच रज्जु और एक रज्जु है। नवीन आकृति पूर्णरूप से सममित (Symmetrical) है।

रज्जु का अंकीकरण

रज्जु जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जैन दर्शन में जहां लोक के सम्बन्ध से दूरी का विवेचन हुआ है, वहां अधिकांशतया 'रज्जु' शब्द का उपयोग हुआ है। 'रज्जु' को हम जैन ज्योति-मौतिकी (astrophysics) का क्षेत्र-मान कह सकते है। व्यावहारिक भाषा मे एक रज्जु का मान असंख्यात योजन बताया गया है। कुछ विद्वानो ने रज्जु को अंको के द्वारा व्यक्त करने का—अंकीकरण करने का प्रयत्न किया है। 'रज्जु' का मान निम्नोक्त परिभाषा में दिया गया है :

"२,०५७,१५२ योजन प्रतिक्षण की गति से निरन्तर चलने वाला देव छः महीने मे जितनी दूरी तय करता है, उसे एक रज्जु कहा जाता है।"

इस आधार पर १ रज्जु = $१०^{१९६}$ माईल होता है।

गणितीय विवेचन का उपसंहार इन दो तथ्यो मे आ जाता है—

(१) विश्व त्रिशरावसम्पुटाकार से स्थित है।

(२) विश्व का घनफल $१०^{१९६}$ घन माईल से भी अधिक है।

विश्व : काल की दृष्टि से

विश्व की अनादि-अनन्तता

जैन दर्शन के अनुसार विश्व शाश्वत है। यह तथ्य जैन आगमों मे अनेक स्थलो मे अनेक प्रकार से समझाया गया है। लोक और अलोक—"ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेगे; अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी है। इनमें पौर्वापर्य (पहले-पीछे का) क्रम नहीं है।"

समग्र विश्व पांच अस्तिकायों का समूह है। ये पांचों अस्तिकाय ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य हैं। इसलिए समग्र विश्व स्वतः ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है। दूसरे शब्दों मे, यह विश्व भूतकाल में विद्यमान था, वर्तमान काल मे विद्यमान है और भविष्य में विद्यमान रहेगा। वह न तो कभी बनाया गया

और न कभी विनाश को प्राप्त होगा। काल की दृष्टि से यह आदि-रहित और अन्त-रहित है।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। किसी भी विचार के विषय में वह एकान्तता को स्वीकार नही करता। इसलिए 'विश्व' को जहां एक और शाश्वत मान लिया गया, वहां दूसरी और परिवर्तनशील भी। पूर्व विवेचित 'परिणामी-नित्यत्ववाद' इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि प्रत्येक पदार्थ 'उत्पत्ति और नाश' रूप परिवर्तन के होते हुए भी अपना अस्तित्व रख लेता है। दूसरे शब्दों मे विश्व के समस्त पदार्थ—जीव और अजीव—उत्पत्ति, नाश और ध्रुवता की त्रिपुटी से युक्त हो जाते हैं। इस प्रकार विश्व शाश्वत भी है, अशाश्वत भी।

विश्व छः द्रव्यों का समूह मात्र है, अतः विश्व की 'शाश्वतता-अशाश्वतता' को समझने के लिए छः द्रव्यों की शाश्वतता-अशाश्वतता का विश्लेषण आवश्यक होगा। छहों ही द्रव्य कब, कैसे और किससे अस्तित्व में आए? इन प्रश्नो का समाधान 'अनादि' अस्तित्व के स्वीकार करने से ही हो सकता है। अर्थात् जो द्रव्यो के अस्तित्व को 'सादि' स्वीकार करते हैं, उनके लिए ये समस्याएं बनी रहती है। किन्तु जो द्रव्यों के अस्तित्व को 'अनादि' मानते है, उनके लिए ये प्रश्न उठते ही नही। द्रव्यों के अस्तित्व को 'सादि' मानने पर असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। यह कार्यकारणवाद के साथ संगत नही हो सकता। क्योकि उपादान कारण यदि असत् होता है, तो कार्य सत् नही हो सकता। इसलिए उपादान की मर्यादा को स्वीकार करने वाले असत् से सत् की उत्पत्ति नही मान सकते, नियामकता की दृष्टि से ऐसा होना भी नही चाहिए। अन्यथा समझ से परे की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अतः छः द्रव्यों का अस्तित्व अनादि सिद्ध हो जाता है। परिणामी-नित्यत्ववाद इन द्रव्यों के अस्तित्व को अनन्त सिद्ध कर देता है। इस प्रकार षड् द्रव्य अस्तित्व की दृष्टि से 'अनादि-अनन्त' सिद्ध हो जाने पर विश्व की शाश्वतता प्रमाणित हो जाती है।

षड् द्रव्यो मे होने वाले 'परिणमन' विश्व को 'अशाश्वत' भी बना देते है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल; इन चार द्रव्यो में स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। इस परिणमन के कारण ही शाश्वत काल तक ये पदार्थ अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं।

दृश्य विश्व की समस्त लीलाएं पुद्गलास्तिकाय (पुद्गल) और जीवास्तिकाय (आत्मा) के परिणमनो के कारण होती रहती हैं।

काल-चक्रीय विश्व-सिद्धांत

विश्व की शाश्वतता-अशाश्वतता का अब तक का विवेचन समग्र विश्व की दृष्टि से किया गया। विश्व के मध्य भाग में स्थित 'तिर्यग् लोक'

के विशेष स्थानों के लिए 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल-चक्र' के सिद्धान्त को जैन दर्शन स्वीकार करता है । समग्र लोक की ऊंचाई १४ रज्जु है, अधोलोक की ७ रज्जु से कुछ अधिक है और ऊर्ध्व लोक की ७ रज्जु से कुछ कम । इन दोनों के बीच में तिर्यग्-लोक है । तिर्यग्-लोक के मध्य मे 'समय-क्षेत्र है । समय-क्षेत्र में ही सूर्य-चन्द्रकृत व्यावहारिक काल होता है । समय-प्रवाह के साथ प्रकृति की कुछ प्रक्रियाओ में परिवर्तन भी होता रहता है । इन परिवर्तनों को समझाने के लिए 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल-चक्र' का सिद्धान्त है ।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का अर्थ है—ह्रास और विकास का एक सुदीर्घ काल-चक्र । एक काल-चक्र २० कोटाकोटि अद्धा-सागरोपम काल में पूरा होता है । इतना काल व्यतीत होने मे असंख्य वर्ष[1] बीत जाते है । प्रत्येक काल-चक्र मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के चक्रार्ध होते है । उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध मे समय क्षेत्र की प्रकृतिजन्य सभी प्रक्रियाए क्रमशः निर्माण और विकास की ओर बढती है और अन्त में प्रगति की चरम सीमा को प्राप्त होती है । इसके बाद अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध के प्रारम्भ होने पर वे प्रक्रियाएं पुन ध्वंस और ह्रास की ओर चलती है और अन्त मे वे विनाश की चरम मर्यादा तक पहुचती है । दूसरे शब्दो मे उत्सर्पिणी के काल-चक्रार्ध मे प्रकृति की चाबी भरी जाती है और चरम अवस्था के बाद पुनः उसका खाली होना प्रारम्भ होता है । अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध के अत तक प्रकृति की चाबी की रिक्तता उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करती है । अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की परिभाषा करते हुए कहा गया है, "जिस काल-चक्रार्ध मे सभी शुभ भाव क्रमशः क्षीण होते है और अशुभ भाव क्रमशः वृद्धिगत होते है, वह 'अवसर्पिणी' है । जिस काल-चक्रार्ध मे सभी शुभ भाव क्रमशः वृद्धि को प्राप्त करते है और अशुभ भाव क्रमशः क्षीण होते है, वह उत्सर्पिणी है ।" अवसर्पिणी काल मे पुद्गलों मे (परमाणु तथा परमाणु-समूहो मे) स्पर्श, रस गन्ध, वर्ण आदि की अपेक्षा से अनन्त गुण की हानि होती है । उत्सर्पिणी काल मे इससे विपरीत होता है । उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी और

---

१. दिगम्बर परम्परा में एक काल-चक्र के वर्षो की संख्या का नाम 'कल्प' भी मिलता है । अर्ध-महाकल्प के ४१३,४५२,६३०,३०२,२०३,१७७,७४९,५१२,१९२ $\times$ $१०^{५०}$ वर्ष होने है । अर्थात् महाकल्प के ८.२६ $\times$ $१०^{७६}$ वर्ष होते हैं । किन्तु यह सख्या असंख्य वर्षों की अपेक्षा मे अत्यन्त छोटी है । वस्तुतः तो दिगम्बर परम्परा के अनुसार उत्कृष्ट संख्यात वर्ष का मान 'अचलात्म' है । अचलात्म के $८४^{३१}$ $\times$ $१०^{९०}$ वर्ष होते हैं । जो कि, ४.५ $\times$ $१०^{१४९}$ लगभग होते हैं ।

अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी, इस प्रकार काल-चक्र चलता रहता है। अनादि भूत में अनन्त काल-चक्र व्यतीत हो गये और अनन्त भविष्य में अनन्त काल-चक्र व्यतीत होंगे।

प्रत्येक काल चक्रार्ध के छः खण्ड होते है, जिनको 'आरा' कहते है।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में उत्तरोत्तर हानि और वृद्धि का विस्तृत वर्णन जैन आगमो मे मिलता है। यहा पर केवल तीन प्रक्रियाओं के विषय में हानि-वृद्धि की चर्चा की जाती है।

अवसर्पिणी काल मे समय बीतने के साथ-साथ मनुष्यों का आयुष्य, ऊचाई और पृष्ठ-करंडक (पृष्ठ-अस्थि) की संख्या मे हानि होती रहती है। निम्न कोष्ठक के द्वारा उन हानियों का प्रमाण स्पष्ट हो जाएगा।

प्रत्येक आरे के प्रारम्भ में आयुष्य आदि का मान :

आरा-क्रमांक	आयुष्य	ऊंचाई	पृष्ठ-अस्थि-संख्या
१	३ पल्योपम[1]	६००० धनुष्य	२५६
२	२ "	४००० "	१२८
३	१ "	२००० "	६४
४	१ क्रोड पूर्व	[1]५०० "	४८
५	१३० वर्ष	७ हाथ	२४
६	२० वर्ष	[1]१ हाथ	१२

उत्सर्पिणी काल में आयु, ऊंचाई पृष्ठ-अस्थि-सख्या आदि मे क्रमशः वृद्धि होती है।

वर्तमान युग

वर्तमान मे जो आरा चल रहा है, वह अवसर्पिणी काल का पाचवां आरा है। इस आरे का प्रारम्भ श्रमण महावीर के निर्वाण के ३ वर्ष ८½ मास पश्चात् हुआ था। भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ मे हुआ था, अतः ई० पू० ५२४ मे पांचवें आरे का आरम्भ होता है। यह आरा २१००० वर्ष का है।

छट्ठे आरे के प्रारम्भ मे होने वाली स्थिति का वर्णन विस्तृत रूप से जैन साहित्य में मिलता है। 'उस समय दुःख से लोगों में हाहाकार होगा। अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला, मलिन, धूलि-युक्त पवन चलेगा। वह दुःसह व भय उत्पन्न करने वाला होगा। वर्तुलाकार वायु चलेगी, जिससे धूलि आदि

१. पल्योपम के असख्यात वर्ष होते है।

एकत्रित होगी। पुनः-पुनः धूलि उड़ने से दशो दिशाएं रज.सहित हो जाएंगी। धूलि से मलिन अंधकार समूह के हो जाने से प्रकाश का आविर्भाव बहुत कठिनता से होगा। समय की रूक्षता से चन्द्रमा अधिक शीत होगा और सूर्य भी अधिक तपेगा। उस क्षेत्र में बार-बार बहुत अरस-विरस मेघ, क्षार मेघ, विद्युन्मेघ, अमनोज्ञ मेघ, प्रचण्ड वायु वाले मेघ बरसेंगे।""""उस समय भूमि अग्निभूत, मुर्मुरभूत भस्मभूत हो जाएगी। पृथ्वी पर चलने वाले जीवों को बहुत कष्ट होगा। उस क्षेत्र के मनुष्य विकृत वर्ण, गन्ध' रस, स्पर्श वाले होंगे तथा वे ऊट की तरह वक्र चाल चलने वाले, शरीर के विषम संधि-बन्ध को धारण करने वाले, ऊची-नीची विषम पसलियों तथा हड्डियो वाले और कुरूप होगे। उत्कृष्ट १ हाथ की अवगाहना (ऊंचाई) और २० वर्ष की आयु होगी। बडी-बडी नदियो का विस्तार रथ के मार्ग जितना होगा। नदियों मे पानी बहुत थोडा रहेगा। मनुष्य भी केवल बीज रूप ही बचेगे। वे उन नदियों के किनारे बिलो में रहेंगे। सूर्योदय से १ मुहूर्त पहले और सूर्यास्त से १ मुहूर्त पश्चात् बिलों से बाहर निकलेंगे और मत्स्य आदि को उष्ण रेतो मे पकाकर खायेंगे।"""" 'इस प्रकार छट्ठे आरे का प्रारम्भ होकर २१००० वर्ष तक यह स्थिति उत्तरोत्तर विषम बनती रहेगी।" छट्ठे आरे का अन्त होने पर अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध समाप्त हो जाएगा। उस समय ह्रास अपनी चरम सीमा पर पहुंचेगा। इसके बाद पुनः उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध प्रारम्भ होगा। "जिसमे प्रकृति का वातावरण पुनः सुधरने लगेगा। शुद्ध हवाएं चलेंगी, स्निग्ध मेघ बरसेंगे और अनुकूल तापमान होगा। सृष्टि बढ़ेगी, गांव और नगरों का पुनः निर्माण होगा।" यह क्रमिक विकास उत्सर्पिणी के अन्त मे निर्माण के चरम शिखर पर पहुचेगा। "इस प्रकार एक काल-चक्र सम्पन्न होता है। प्रकृति के इतिहास मे होने वाले इस अध्याय-परिवर्तन को लोक प्रलय और सृष्टि कहते है। जैन विचारधारा के अनुसार प्रलय का अर्थ 'आत्यन्तिक नाश' नही; वह ध्वस (ह्रास) की अन्तिम मर्यादा है।"

उपसंहार

प्रस्तुत विषय के उपसहार मे यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन के अनुसार :

१. विश्व अस्तित्व की अपेक्षा से अनादि और अनन्त है।
२. इस शाश्वत विश्व मे प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश रूप अनन्त परिणमन होते रहते है।
३. विश्व के विशेष क्षेत्रो (समय-क्षेत्र) में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-चक्र का प्रवर्तन होता रहता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण : विश्व का परिमाण

आइन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धांत से पहले वैज्ञानिकों में विश्व के परिमाण के बारे में दो विचारधाराएं थी :

१. विश्व स्वयं ही अनन्त है।

२. विश्व अनन्त आकाश समुद्र में जड़ आदि पदार्थों के समूहरूप एक द्वीप समान है।

प्रथम विचारधारा के पीछे यह तर्क था कि यदि विश्व को सान्त (ससीम) मान लिया जाए, तो यह प्रश्न सहसा खड़ा हो जाता है कि विश्व की सीमा से परे क्या है ? इस विकट प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाने के कारण वैज्ञानिकों ने यह मान लिया कि विश्व अनन्त (असीम) है।

दूसरी विचारधारा के पीछे न्यूटन के 'गुरुत्वाकर्षण के नियम' का आधार था। यदि हम विश्व को अनन्त मान लें, (और क्योंकि अनन्त विश्व में स्थित सभी पदार्थों की संहति (Mass) समानतया विभाजित होनी चाहिए), तो गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार अनन्त विश्व में व्याप्त सभी पदार्थों का संगठित 'गुरुत्वाकर्षण बल' सब पदार्थों के अनन्त तक व्याप्त होने के कारण, अनन्त हो जाएगा; और विश्व का समस्त आकाश अनन्त प्रकाश से चमक उठेगा। किन्तु वास्तव मे यह स्थिति नही है। इसलिए 'अनन्त विश्व' की कल्पना भी सत्य नही है। अतः 'विश्व अनन्त आकाश के अन्दर एक द्वीप के समान है' यह विचारधारा कुछ एक वैज्ञानिकों ने मान्य रखी।

'विश्व एक द्वीप' की कल्पना भी आशंकाओं से मुक्त नही थी। 'तारापुञ्ज या आकाशगंगाओ की गति के नियम' (Dynamic Laws of the Motion of Galaxies) इन आशंकाओं को उत्पन्न करते हैं। अनन्त आकाश की तुलना में ससीम विश्व मे स्थित द्रव्य-राशि इतनी कम है कि आकाश-गंगाओं की गति के नियमों के कारण वह राशि बादल के बिन्दुओं की तरह अनन्त आकाश मे बिलीन हो जाती और समग्र विश्व रिक्त हो जाता। किन्तु स्थिति यह नही है। अतः इस कल्पना को सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण आवश्यक थे।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा समाधान

आइन्स्टीन के अनुसार विश्व के आकार-प्रकार की जो कल्पना हम युक्लिडीय (Euclidean) भूमिति के आधार पर करते है, वह ठीक नही है। गुरुत्व-क्षेत्र (Gravitational Field) मे चलने वाली प्रकाश की किरणें सीधी रेखा में नही चलती हैं, किन्तु वक्र रेखा या वर्तुलाकार मे चलती हैं—इस बात से यह सिद्ध हो जाता है कि युक्लिडीय भूमिति के नियम गुरुत्व-क्षेत्र में लागू नही होते।

विश्व मे समाहित तारा, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, आकाशगंगा आदि समस्त पदार्थों के गुरुत्व के कारण उनकी संहति (Mass) और गति (Velocity) के अनुपात मे सारा विश्वाकाश वक्रता धारण करता है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने आस-पास के आकाश को वक्र बनाता है। सामान्य आपेक्षिकता के सिद्धातानुसार उस वक्रता के परिमाण का आधार पदार्थ-स्थित संहृति पर रहता है। जितनी सहृति अधिक होगी, उतनी ही वक्रता भी बढ़ेगी। दूसरे शब्दों में प्रत्येक पदार्थ अपनी सहृति के अनुसार विश्वाकाश की वक्रता में योग देता है। अत. सारे विश्व का आकार विश्व-स्थित सभी द्रव्यों की सामूहिक द्रव्य-राशि पर आधारित है।

इस प्रकार 'सामान्य आपेक्षिकता का सिद्धान्त' विश्व अर्थात् 'आकाशकाल की चतुर्वैमितिक सततता' की भूमिति और विश्व-स्थित संहृति के बीच सीधा सम्बन्ध दर्शाता है। 'विश्व कितना बड़ा है?' इस प्रश्न का उत्तर हम तभी दे सकते है, जब हमे विश्व की भूमिति का सही ज्ञान हो। किन्तु यदि हम विश्व-स्थित 'सहृति' का सही-सही पता लगा सके, तो आइन्स्टीन के समीकरण हमे विश्व की भूमिति का ज्ञान कराते है। आइन्स्टीन ने कल्पना की कि विश्व-स्थित भौतिक पदार्थों की सहृति-राशि सीमित है। अत आइन्स्टीन का विश्वाकाश, जो गाणितिक सज्ञा 'आव्यूह' (Matrix) द्वारा दर्शाया जाता है, युक्लिडियेतर और सान्त (finite) बन जाता है।

पदार्थों की सामूहिक द्रव्य-राशि के कारण सारा विश्व उस प्रकार से वक्र बना है कि समग्र विश्व-आकाश एक 'बद्ध वक्राकार' धारण करता है। अतः विश्वाकाश ससीम बन जाता है। फिर भी बद्धाकार होने के कारण यदि प्रकाश की एक किरण एक स्थान से चलेगी, तो सारे विश्व की परिक्रमा कर, फिर मूल स्थान पर आ जाएगी। इस प्रकार आइन्स्टीन का विश्व अनन्त नही है और युक्लिडीय भूमिति के नियमो से भी बाधित नही है।

गणित की भाषा मे विश्व चतुर्वैमितिक (Four-dimensional) सततता है, जो कि गोले (Sphere) की त्वचा (Surface) के समान है। आपेक्षिकता के सिद्धांत के द्वारा विश्व का जो नया दर्शन मिला, उसे समझाने के लिए सर जेम्स जीन्स ने साबुन के बुलबुले का उदाहरण दिया है :

"साबुन के बुलबुले की कल्पना कीजिए, जिसकी त्वचा के ऊपरी भाग मे नाना प्रकार की रेखाएं आदि हो। विश्व उस बुलबुले का भीतरी भाग नही, परन्तु उसकी बाह्य त्वचा के स्थान मे है। दोनों मे केवल यही अन्तर है कि साबुन का बुलबुला दो ही विमिति वाला है, जबकि विश्व-आकाश का गोला चार विमिति वाला—तीन विमितियां आकाश की और एक काल की; विश्व जिस पदार्थ का बना है, वह रिक्त आकाश है, जो कि

रिक्त काल के ऊपर लपेटा हुआ है।" यह मन्तव्य सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों के शब्दों मे अधिक स्पष्ट होगा। जैसे प्रो० सर ए० एस० एडिंग्टन लिखते हैं :[1] 'प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क मे यह प्रश्न उत्पन्न होता होगा कि 'क्या आकाश का अन्त है ?' यदि है, तो उससे आगे क्या है ? यदि नही है, तो 'आकाश के बाद आकाश.........' यह कल्पना भी अचिन्त्य है। आपेक्षिकता के सिद्धात से पहले जो रूढ़ विचार प्रचलित था, उसके अनुसार आकाश (विश्व) अनन्त था। यद्यपि अनन्त आकाश की कल्पना अचिन्त्य है, फिर भी भौतिक विज्ञान-जगत् मे इसी कल्पना को स्वीकार कर हमे सतोष मान लेना पड़ा। यद्यपि यह कल्पना चित्त को अशान्त करने वाली थी, फिर भी अतार्किक नही थी। अब आइन्स्टीन का सिद्धात हमे इस दुविधा से बाहर ले जाता है। 'आकाश सान्त भी है, अनन्त भी' अथवा 'सान्त, किन्तु असीम'—ये शब्द प्रायः आकाश के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं।"

वैज्ञानिक वरनर हाइजनबर्ग विश्व की सान्तता-अनन्तता का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते है : "विश्व द्वारा अवगाहित आकाश सान्त हो, ऐसी सम्भावना है। इसका अर्थ यह नही होता कि कोई एक स्थान पर विश्व का अन्त आ जाता है। उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि विश्व मे किसी एक ही दिशा मे गति करने वाला पदार्थ अन्ततः उसी स्थान पर पहुंच जाता है, जहा से वह चलना प्रारम्भ हुआ था। चतुर्वैमितिक विश्व की यह स्थिति द्विवैमितिक पृथ्वी-तल (surface) के सदृश होती है, जहां एक स्थान से पूर्व की दिशा मे निरन्तर चलने वाला व्यक्ति, उसी स्थान पर पश्चिम की ओर से पुनः पहुच जाता है।"

आपेक्षिकता के सिद्धात के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो० एन० आर० सेन, आइन्स्टीन के विचारो को उद्धृत करते हुए लिखते है : "आइन्स्टीन के सापेक्षवाद-सिद्धांत से जो एक बात हमें मिलती है, वह यह है कि चतुर्वैमितिक विश्व आकाशीय विमितियों मे सांत है और काल की विमिति मे अनन्त है। विश्व का आकार बेलनाकार (Cylinderical) है, जिसकी बाह्य सतह उस दिशा में तो सीमित है, जिसमे रेखाओं के द्वारा बेलनाकार की उत्पत्ति हुई है। यह सीमित विमिति विश्व-बेलन की तीन आकाशीय विमितियों को सूचित करती है। किन्तु बेलन अन्य दो विमितियों मे तो अनन्त है। उसी

१. सर ए० एस० एडिंग्टन ने इसके आधार पर यह पता लगाया है कि यदि विश्व-स्थित धनाणुओं (Protons) और ऋणाणुओं (Electrons) की संख्याए समान हों, तो यह संख्या १.१९×१०^{७९} है।

(देखें, दी न्यू पाथवेज इन साईन्स, पृ० २२१; **दी एक्सपाण्डिग यूनिवर्स, पृ० ६८)**

तरह विश्व भी काल-विमिति में अनन्त है अर्थात् काल की दृष्टि से वह अनंत भूत से अनन्त भविष्य तक रहता है ।"

वैज्ञानिकों के उपरोक्त विचारो से विश्व का आकार और परिमाण, बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है । फिर भी आधुनिक विज्ञान के बहुत सारे सिद्धांतों की तरह आइन्स्टीन का ससीम विश्व उतना ही दृष्टिगम्य हो सकता है, जितना कि अणु मे स्थित ऋणाणु (Electron) या प्रकाशाणु (Photon) दृष्टिगम्य है । परन्तु गणित के आधार पर विश्व का यथार्थ परिमाण निश्चिततापूर्वक निकाला जा सकता है । यदि हम मान लेते है कि हमारी आकाशगंगा के समीपवर्ती आकाश में स्थित जड़ पदार्थ का औसत घनत्व सारे विश्व मे स्थित जड़ पदार्थ के औसत घनत्व के समान है तो आइन्स्टीन के समीकरण से विश्व की वक्रता-त्रिज्या निकाली जा सकती है । माउण्ट विलसन बेधशाला के प्रसिद्ध खगोलवेत्ता एड्वीन हबल (Edwin Hubble) ने प्रयोगों के द्वारा इकाई घनफल आकाश मे स्थित औसत सहति-राशि की सख्या निकाली है । उस सख्या[1] का आइन्स्टीन के क्षेत्र-समीकरण मे उपयोग करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्व की वक्रता-त्रिज्या (radius of curvature) ३५,०००,०००,००० प्रकाश-वर्ष है अर्थात् २.१×१०^{२३} माईल है । दूसरे शब्दों मे एक प्रकाश की किरण जिसकी गति प्रति सैकिण्ड लगभग १,८६,००० माईल की है, अगर विश्व की परिक्रमा करने निकले, तो उसे एक चक्कर लगाने मे २० अरब से भी अधिक वर्ष लग जाएगे । आइन्स्टीन के उक्त निर्णय के बाद, जब विश्व-विस्तार का सिद्धांत आया, तब उसके आधार पर विश्व की वक्रता-त्रिज्या फिर निकाली गई । यह करीब ५० करोड़ प्रकाश-वर्ष है ।

आइन्स्टीन की कल्पना ससीम विश्व की है, किन्तु कुछ एक वैज्ञानिक असीम विश्व का प्रतिपादन भी करते हैं । डॉ० फ्रेड होयल के विश्व-सिद्धांत में 'अनन्त विश्व' का प्रतिपादन हुआ है । इसके अतिरिक्त सोवियत वैज्ञानिक भी असीम विश्व का प्रतिपादन करते हैं । सुप्रसिद्ध सोवियत लेखक ब० मेजेन्तसेव ने '**विश्व और परमाणु**' नामक अपनी पुस्तक मे लिखा है : "अगर हम यह विचार स्वीकार करें कि विश्व-आकाश की कहीं सीमा है, तो तुरन्त यह प्रश्न उठता है—इस सीमा के पार क्या है ? विश्वाकाश मे ब्रह्माण्ड की कोई सीमा नही हो सकती । महाजागतिक द्वीपपुंज पर नक्षत्र-जगत् की गठन क्या है, हम अभी नही जानते, लेकिन चाहे ये असंख्य 'द्वीप'

---

१. हबल द्वारा दी गई औसत् घनत्व-राशि इस प्रकार है :
·०००००००००००००००००००००००००००००१ ग्राम प्रति घन सेण्टीमीटर (देखें, **दी यूनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० १०५ ।**)

मंदाकिनियां (आकाशगंगाएं) हो या ब्रह्माण्ड अनेक विशाल 'महाजागतिक द्वीप-समूहों'—मेटागैलिक्टकों (बाह्य मंदाकिनियों) से बना हो, हर सूरत मे हमारे चारों तरफ की दुनिया असीम है।"

फिर भी विश्व सात है, या अनन्त ? इस प्रश्न का पूर्ण रूप से समाधान नही हो पाया है; क्योंकि विश्व की वक्रता गाणितिक रूप में ऋण (negative) अथवा धन (positive)—दोनो मे से एक हो सकती है और इसके अनुसार ही विश्व अनन्त या सांत हो जाता है। विश्व-सम्बन्धी मूलभूत समीकरणों (equations) को हल करने पर विश्व सांत और बद्ध (closed) न होकर, अनन्त और खुला (open) पाया जाता है। जबकि हबल के द्वारा की गई तारापुञ्जों के तेज की गणना हमे बद्ध एवं बहुत ही छोटे (सांत) विश्व, जिसकी त्रिज्या केवल थोड़े करोड़ प्रकाश-वर्ष ही है, की कल्पना पर पहुंचाती है।

विश्व का परिमाण स्थिर या बढ़ता हुआ ?

आइन्स्टीन के उपरोक्त विश्व-परिमाण के निश्चय के अनन्तर एक ऐसी प्रक्रिया वैज्ञानिको के सामने आई, जिससे विश्व के परिमाण और आकार के विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना उनके लिए सम्भव नही रहा। यह प्रक्रिया दूरवीक्षण यन्त्र (telescope) के द्वारा वैज्ञानिकों के सामने आई। दूरवीक्षण यन्त्र से जब विश्व के अति दूर भागों मे स्थित आकाश-गंगाओ (galaxies) की गति का अध्ययन किया गया, तब पता चला कि ये आकाश-गंगाए एक दूसरे से दूर जा रही हैं—अर्थात् ऐसा लगा कि विश्व बड़ा होता जा रहा है। जिस प्रकार गुब्बारे मे (baloon) हवा भरने से वह फूलता है—विस्तृत होता है, उसी प्रकार विश्व भी विस्तृत हो रहा है। इस प्रकार की प्रक्रिया से वैज्ञानिकों मे दो मत हो गए।

जो प्रक्रिया वस्तुत देखी गई थी, वह यह थी कि जब दूर-स्थित आकाश-गंगाओ का वर्णपट-मापकयन्त्र (spectrometer) द्वारा अध्ययन किया गया, तब उनके वर्णपट (spectrum) मे लाल रेखा (red line) मे परिवर्तन दिखाई दिया। लाल रेखा के परिवर्तन से अनुमान किया गया कि दूरस्थ आकाशगङ्गाए एक दूसरे से दूर जा रही है अर्थात् विश्व विस्मृत हो रहा है।

विश्व-विस्तार के सिद्धांत मे संदिग्धता का स्पष्ट उदाहरण विख्यात ब्रिटिश वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के शब्दो मे मिलता है : "किन्तु तारापुञ्जो की इन गतिओ के विषय में संदिग्धता को पूर्ण अवकाश रह जाता है कि ये वास्तविक हैं या नही ? इनका प्रतिपादन कोई भी प्रत्यक्ष माप की प्रक्रिया पर आधारित नहीं है।" आगे चलकर वे स्पष्ट करते है : "दूरस्थित

निहारिकाएं अपने से दूर जा रही हैं, इस मान्यता का केवल यही कारण है कि उनका जो प्रकाश हमे दिखाई देता है, वह सामान्यत: जितना होना चाहिए उससे अधिक लाल है। किन्तु गति के अतिरिक्त अन्य प्रक्रियाएं भी प्रकाश को अधिक लाल बना सकती हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य का प्रकाश केवल सूर्य के भार के कारण लाल बन जाता है; उससे कही और अधिक लाल वह सूर्य के वातावरण के दबाव के कारण बनता है, जैसे कि हम सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय देखते है। अन्य प्रकार के ताराओं का प्रकाश भी कोई रहस्यमय प्रकार से लाल बनता है, जिस रहस्य का उद्घाटन हम अब तक नही कर सके हैं। इसलिए दूरस्थ निहारिकाएं आकाश मे स्थिर होने पर भी, उनका प्रकाश अधिक लाल होगा और इस रक्तीकरण के आधार पर 'वे निहारिकाएं हम से दूर जा रही है,' इस प्रकार की धारणा के प्रलोभन मे हम आ जाते है।"

इस चर्चा का उपसंहार करते हुए हम यह कह सकते है कि विश्व परिमाण की स्थिरता के बारे मे वैज्ञानिकों मे दो मत है --

१. विश्व का परिमाण स्थिर है।

२. विश्व का परिमाण विस्तृत हो रहा है।

'विश्व की आयु' के विषय मे जो सिद्धांत प्रस्तुत हुए है वे भी इन दो विचारधाराओं पर आधारित है।

विश्व की आयु क्या है ?

सादि और सान्त विश्व के सिद्धांत

"विश्व की आयु क्या है ?" इस प्रश्न के दो अर्थ होते है—वर्तमान मे विश्व की आयु क्या है अर्थात् जब मे विश्व की आदि हुई है, तब मे आज तक कितना काल बीत चुका ? दूसरा अर्थ है "विश्व की सम्पूर्ण आयु क्या है ? अर्थात जब मे विश्व का प्रारम्भ हुआ तब से लेकर जब तक उसका अंत होगा, तब तक कितना काल बीतेगा ?

"विश्व की आयु क्या है ?" इस प्रश्न का विज्ञान मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भी वैज्ञानिकों के दो मत रहे है—

१. विश्व भूतकाल मे किसी एक निश्चित समय पर अस्तित्व मे आया और भविष्य में किसी एक निश्चित समय पर वह अस्तित्व-विहीन भी हो जाएगा।

२. विश्व काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है।

प्रथम मान्यता का आधार मुख्यत. तो 'विश्व-विस्तार' का सिद्धात है। प्रयोगों के द्वारा दूरस्थ आकाशगंगाओं के बढ़ने की गति का माप निकाला गया और जाना गया कि जिस वेग से आकाशगङ्गाएं अंतरिक्ष मे बढ़ रही हैं,

वह अत्यधिक तीव्र है। अपनी पृथ्वी के समीप रही हुई आकाशगंगाएं एक सैकिंड में करीब १०० मील दूर निकल जाती है, जबकि जो आकाश-गंगाएं २½ करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर है, वे लगभग २४,००० मील प्रति सैकिंड की गति से दूर हो रही है। प्रयोगों के आधार पर एड्वीन हबल (Ebwin Hubble) ने एक नियम इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत किया है। इस नियम के अनुसार ६० लाख प्रकाश-वर्ष की मर्यादा मे स्थित आकाशगंगाओ के लिए, गति का आधार उनकी पृथ्वी से दूरी है। इसका अर्थ यह होता है कि ज्यों-ज्यों आकाशगंगाएं पृथ्वी से दूर जाती हैं, त्यों-त्यो उनकी गति बढती जाती है। इस नियम के आधार पर यदि आकाशगङ्गाओं की भूतकालीन गति का अध्ययन किया जाए, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि इस विश्व में करीब २०० करोड वर्ष पूर्व सभी आकाशगङ्गाएं एक ही स्थान मे थी। यद्यपि इस निर्णय की कल्पना का आधार यह है कि आकाशगङ्गाओं की गति जैसी वर्तमान मे है, वैसी ही सदा थी। इस निर्णय के बाद किये गए प्रयोगो के आधार पर यह संख्या १००० करोड़ वर्ष हो जाती है।

विश्व-विस्तार के आधार पर विश्व की आदि को समझाने के लिए कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयत्न किया है, जिनमे से एबे लेमैत्रे (Abbe Lemaitre) और डॉ० ज्योर्ज गेमो (George Gamow) 'विश्व की आदि है', इस सिद्धांत को स्वीकार करते है।

बेल्जियम के सुप्रसिद्ध विश्व-विज्ञानवेत्ता एबे लेमैत्रे के विचारानुसार यह विश्व प्रारम्भिक स्थिति मे एक अद्भुत अणु के रूप मे था। जब उस अणु का विस्फोट हुआ, तब से उसका विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। आज तक वह इतने विशाल रूप को पा चुका है तथा और भी विस्तृत हो रहा है।

इसी से सादृश्य रखने वाला एक और सिद्धात वाशिंग्टन विश्व-विद्यालय के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर ज्योर्ज गेमो ने प्रस्तुत किया है। इस सिद्धात के अनुसार आज से करीब ५० करोड़ वर्ष पूर्व, इस विश्व का आदि रूप समप्रकार की किरणों का गोला था, जिसका तापमान इतना अधिक था कि जिसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। वर्तमान में किसी भी आकाशीय ताराओं के अन्तरतम गर्भ में भी वह तापमान विद्यमान नही है। वह १५० करोड़ डिग्री से भी अधिक था। विश्व की इस प्रारम्भावस्था मे न तो कोई पदार्थ (Element) था, न कोई लघुतम द्रव्यकण (Molecule) ही और न कोई अणु (Atom) भी। केवल स्वैरविहारी न्यूट्रोन[1] इधर-उधर घूम रहे थे। जब यह गोला विस्तृत होना शुरू हुआ, तब

१. आधुनिक अणु-विज्ञान के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के अणु में केन्द्र होता है, जिसे नाभि (Nucleus) कहते हैं। उसके चारों ओर उससे भी सूक्ष्म

इसका तापमान क्रमशः घटने लगा। पांच मिनट के अस्तित्व में वह तापमान घटकर करीब १० करोड़ डिग्री हो गया। तब इधर-उधर घूमने वाले न्यूट्रोनों की गति थोड़ी मन्द हुई; वे एक-दूसरे से मिलने लगे व परस्पर जुड़ने लगे; क्रम से काल बीतने पर लघुतम द्रव्यकण और पदार्थ बनने लगे। इस प्रकार वर्तमान सभी पदार्थ विश्व के उषाकाल के थोड़े-से क्षणों में बने थे और आज ५० करोड़ वर्ष से विस्तारमान विश्व में अपना कार्य कर रहे है।

केम्ब्रिज रेडियो-ज्योतिर्विज्ञान के प्रोफेसर मार्टीन रीले और उनके अन्य पांच साथियो द्वारा रखे गए विश्व-सिद्धांत के अभिमतानुसार 'विश्व का एक निश्चित आरंभ है' इस तथ्य की पुष्टि हुई है। इस सिद्धांत के परिणामस्वरूप निम्न चार तथ्य सामने आये हैं।

१. विश्व का विस्तार हो रहा है।

२ विश्व में स्थित सारा द्रव्य, जिसका हमारी पृथ्वी केवल एक अंश मात्र है, तेज गति से दूर हटता जा रहा है। इस प्रकार मध्य मे केवल एक छिद्र हो गया है।

३. विश्व का अंत कभी-न-कभी होगा।

उक्त सिद्धात 'मुलार्ड रेडियो-ऑबजरवेटरी' में रेडियो-दूरवीक्षण यंत्र के द्वारा किए गए निरीक्षणों पर आधारित है। इस यंत्र के द्वारा वैज्ञानिक ८,०००,०००,००० प्रकाश वर्ष दूरी तक के आकाश का तथा ८,०००,०००,००० वर्ष तक भूतकाल का अध्ययन कर पाए हैं।

यह सिद्धान्त लेमैत्रे के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है। इसके अनुसार सहस्रों वर्षों पूर्व सारा विश्व अत्यधिक सूक्ष्म आयतन (वौल्यूम) में समाहित था। सहसा इसका विस्फोट हुआ और तबसे विश्व-स्थित आकाश-गङ्गाए एक-दूसरे से दूर होनी शुरू हुई है।

इस सिद्धांत के आविष्कर्ताओं ने विश्व की आदि के विषय में निश्चित काल बताया है, जिसके अनुसार दस अरब वर्ष पूर्व विश्व का प्रारभ

ऋण-आवेशित कण, जिन्हें इलेक्ट्रोन कहते हैं, बहुत तेज गति से चक्कर काटते रहते हैं। सूक्ष्म धन-आवेशित कण, जिन्हें प्रोटोन कहते हैं और सूक्ष्म आवेश-रहित कण, जिन्हें न्यूट्रोन कहते हैं, नाभि में स्थिर रूप से रहते हैं। इलेक्ट्रोन का भार समग्र अणु के भार के सहस्रांश से भी कम होता है। नाभिक कणों में ही अणु का अधिकांश भार स्थित होता है। इस प्रकार प्रोटोन और न्यूट्रोन अधिक भारवान् होते है, जब कि इलेक्ट्रोन अल्प भारवान्। इलेक्ट्रोन ऋण-आवेशित, प्रोटोन धन-आवेशित और न्यूट्रोन आवेश-रहित होते हैं। (देखें, ८ वां प्रकरण)।

माना गया है। किन्तु 'विश्व के अंत' के विषय में इन्होंने कोई निश्चित काल नही बताया है। फिर भी उनकी यह मान्यता तो है ही कि विश्व अनन्त काल तक नही रहेगा।

थोडे ही वर्षो पूर्व जो 'स्थायी-अवस्थावान्-विश्व' का सिद्धांत कैम्ब्रिज के ही सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० फ्रेड होयल द्वारा प्रस्तुत हुआ था, उसका कड़ा विरोध प्रो० मार्टीन रीले ने अपने सिद्धान्त मे किया है।

विश्व का अन्त भी आएगा, इस सिद्धात की आधारशिला उष्णता-गति-विज्ञान (thermodynamics) का दूसरा नियम है। इस नियम के अनुसार प्रकृति की सभी मूलभूत प्रक्रियाएं अप्रतिगामी है अर्थात् परिवर्तन की दिशा एक है। इसी विज्ञान के अनुसार विश्व-स्थित जड़-द्रव्यों की राशि मे भी परिवर्तन हो रहा है और यह परिवर्तन ह्रास की दिशा मे है। प्रकृति की सभी प्रक्रियाएं बता रही है कि विश्व की जड़-राशि (शक्तिरूप एवं द्रव्यरूप) शून्य आकाश मे विलीन हो रही है। इस प्रकार सारा विश्व मानो मृत्यु की ओर दौड़ रहा है। इस अवस्था को वैज्ञानिक परिभाषा मे 'उत्कृष्ट ताप-अनुपात अत्रोपी' (Maximum Entropy) की अवस्था कहते है।' "आज से अरबो वर्ष पश्चात जब यह अवस्था आएगी, तब विश्व की सभी प्रवृत्तियां स्थगित हो जाएंगी। सारे विश्व का उष्णतामान एक ही हो जाएगा।... तब न तो प्रकाश रहेगा, न जीवन और न उष्मा। केवल नैरन्तरिक और अटल स्थिरता या जड़ता ही रहेगी। काल स्वयं समाप्ति को प्राप्त होगा।...इस भवितव्यता से बचने का कोई दूसरा उपाय नही है।........सब कुछ, जो प्रकृति मे देखा जाता है, उससे इसी सिद्धात की पुष्टि होती है कि विश्व निश्चित रूप से अंतिम अधकार और विनाश की ओर आगे बढ़ रहा है।"

इस प्रकार विश्व की आदि को स्वीकृत करने वाले सिद्धांतो में भी विश्व की आदि कब हुई, इसके निर्णय मे ऐक्य नही है।

अनादि और अनन्त विश्व के सिद्धांत

जो सिद्धात हमे शाश्वत अर्थात् अनादि और अनन्त विश्व की बात सुझाते है, उनमे पांच महत्त्वपूर्ण प्रकार हैं----

१. स्वतः सचालित कम्पनशील (self-pulsating) विश्व।
२. अतिपरवलीय (hyperbolic) विश्व।
३. चक्रीय (cyclic) विश्व।
४. स्थायी-अवस्थावान् (steady-state) विश्व।
५. आइन्स्टीन का विश्व।

स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व और अतिपरवलीय विश्व—स्वतः

संचालित कम्पनशील विश्व का सिद्धांत और अतिपरवलीय विश्व का सिद्धांत विस्तारमान विश्व के सिद्धात पर आधारित है। इस कल्पना के अनुसार विश्व का विस्तार जब एक उत्कृष्ट स्थिति तक पहुंचता है, तब वह फिर सिकुड़ना शुरू होता है। सिकुड़ते हुए विश्व में रहे हुए द्रव्य जब उत्कृष्ट घनता को प्राप्त होते है, तब वह पुनः विस्तृत होना आरम्भ हो जाता है; और इस प्रकार अनन्त काल तक यह क्रम चलता रहता है। अर्थात् सिकुड़ने और विस्तृत होने का यह 'कम्पन' अनन्त काल तक चलता रहता है।

इस प्रकार के सिद्धांत का प्रतिपादन 'केलिफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी' के प्रोफेसर डॉ० आर० सी० टोलमेन (R. C. Tolman) द्वारा स्वतन्त्र रूप से अन्य आधारो पर भी किया गया है।[1] डॉ० टोलमेन का सिद्धात 'उष्णता-गति-विज्ञान' के दूसरे नियम पर आधारित 'विश्व का अन्त है', इस सिद्धांत के विरुद्ध निरूपण करता है। डॉ० टोलमेन ने यह बताया है कि कुछ निश्चित परिस्थितियों मे विश्व के विस्तार और संकोच की क्रिया प्रतिगामी हो सकती है अर्थात् 'विश्व की प्रक्रियाएं एक ही दिशा में हो रही है, यह मान्यता गलत हो सकती है। डॉ० टोलमेन ने साथ में यह परिकल्पना भी की है कि यह सम्भव है कि विश्व मे कहीं नई जड-राशि उत्पन्न हो रही हो। इस परिकल्पना के आधार पर उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि वर्तमान मे जो विश्व का विस्तार हो रहा है, कुछ काल पश्चात् विश्व पुनः सिकुड़ना आरम्भ हो जाएगा और इस प्रकार विस्तार-संकोच के चक्र शाश्वत काल के लिए चलते रहेंगे।

दूसरे प्रकार का विश्व अतिपरवलीय है; अर्थात् आज से अनन्त काल पूर्व विश्व अत्यन्त विस्तृतावस्था मे था, जब कि उसमें रहे हुए जड़ द्रव्यों की घनता बहुत ही कम थी। उसके बाद वह सिकुडना शुरू हुआ और तब तक सिकुड़ता रहा, जब तक उत्कृष्ट घनता को प्राप्त न हुआ। उसके बाद वह पुनः विस्तार की ओर अग्रसर होना आरम्भ हुआ है और अनन्त काल तक इसी तरह विस्तृत होता रहेगा।

चक्रीय विश्व—स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व के सिद्धांत का प्रतिपादन दूसरे आधार पर भी स्वतंत्रतया किया जा सकता है। इसका आधार है—आइन्स्टीन का 'द्रव्य और शक्ति की तुल्यता का सिद्धान्त' (प्रिंसिपल ऑफ इक्वीवेलेन्स ऑफ मास एण्ड एनर्जी)। उष्णता-गति-विज्ञान के दूसरे नियम के अनुसार विश्व की जड़-राशि का विनाश हो रहा है, इस सिद्धांत को कुछ वैज्ञानिक स्वीकार नही करते। इन वैज्ञानिकों का कहना है

---

१. देखे, **फ्रॉम युक्लिड टू एडिंग्टन**, पृ० ४६; **दी यूनिवर्स एण्ड डॉ० आइन्स्टीन**, पृ० ११०।

कि विश्व एक ओर जहां विनाशोन्मुख हो रहा है, वहा यह सम्भावना भी हो सकती है कि किसी प्रकार से और कही-न-कहीं, उसका पुनः निर्माण भी हो रहा होगा। आइन्स्टीन के 'द्रव्य और शक्ति की तुल्यता के सिद्धांत' के आधार पर यह परिकल्पना की जा सकती है कि जो शक्ति विकिरण (रेडिएशन) के रूप में आकाश मे लीन हो रही है, वही पुनः इस सिद्धात के अनुसार द्रव्य-रूप मे परिणत होकर, क्रमशः ऋणाणु, अणु और लघुतम द्रव्य-कण का रूप धारण करती है। ये स्वयं एक दूसरे के साथ जुड़कर स्थूल पदार्थ का रूप धारण करते हैं। ये स्थूल पदार्थ गुरुत्व-प्रभाव के कारण एक-दूसरे में मिलकर निहारिका, तारापुञ्ज आदि आकाशीय पिण्डों का निर्माण करते है; जो अन्त में बड़ी-बड़ी आकाशगङ्गाओं के रूप में विश्व मे फिर से अपना अस्तित्व धारण करते हैं। इस क्रम से विश्व का जीवन-क्रम शाश्वत काल के लिए चलता हो।'' इन संभावनाओं को पुष्ट करने वाले कुछ प्रयोग भी प्रयोगशालाओं में किए गए है। इन प्रयोगों ने बताया है कि जब गामा किरण के रूप मे प्रकाशाणु किसी भी द्रव्यकणों के साथ टकराते हैं, तब ऋणाणु और धनाणु (पाजिट्रॉन) की उत्पत्ति होती है। थोड़े काल पूर्व ही खगोलवेत्ताओं ने यह निश्चित किया है कि आकाश-स्थित हलके पदार्थों के अणु एक-दूसरे के साथ मिलकर रज और वायु के सूक्ष्म कणों के रूप मे परिणत होते रहते हैं। इससे आगे हावर्ड के डॉ० फ्रेड एल० ह्विपल (Fred L. Whipple) ने अपनी सुप्रसिद्ध 'रजोमेघ-कल्पना' (डस्ट-क्लाउड हाइपोथिसिस) मे यह बताया है कि आकाश-स्थित सूक्ष्म रजकण, ताराओ के प्रकाश के दबाव से एक-दूसरे के निकट आते हैं और एकीभूत हो जाते है। इसके परिणामस्वरूप कणो का एक समूह बनता है, जो कि बड़ा होने पर एक छोटे मेघ का स्वरूप धारण करता है। यह छोटा-सा रजोमेघ क्रमश बढ़ता हुआ अन्यान्य भौतिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप अन्ततः प्रकाशमान ताराओं का स्वरूप धारण करता है। अपने सारे सौरमण्डल की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई थी, ऐसा ह्विपल का मानना है।

इस प्रकार विकिरण से क्रमशः समग्र विश्व के सभी सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति सिद्ध होने पर "हम एक स्वय संचालित कम्पनशील विश्व की कल्पना पर पहुंचते है, जिस विश्व में अनन्त काल तक निर्माण और ध्वंस, प्रकाश और तम, सघटन और विघटन, ताप और शीत, विस्तार और संकोच आदि के चक्र स्वतः चलते रहते है।"[1]

उष्णता-गति-विज्ञान के दूसरे नियम मे और उक्त प्रकार के चक्रवत् चलाने वाले विश्व मे परस्पर विरोध-सा दिखाई देता है। इस विषय में

१. दी यूनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन, पृ० ११३।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स लिखते हैं, "यह कल्पना शक्य है कि विशेष प्रकार की आकाशीय स्थितियों में जिनका हमे ज्ञान नहीं है, उष्णता-गति-विज्ञान का दूसरा नियम कार्यक्षम न हो।...... चक्रीय विश्व का सिद्धांत अधिक प्रसिद्धि-प्राप्त और मान्य है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है।"[1]

इस प्रकार 'स्वयं सचालित कम्पनशील विश्व' का सिद्धांत विश्व को अनादि और अनन्त प्रमाणित करता है। वस्तुतः तो डा० गेमो का सिद्धांत भी अतिपरवलीय विश्व की कल्पना को स्वीकार करता है। इसलिए डा० गेमो ने भी वास्तविक दृष्टि से 'अनादि विश्व' को ही स्वीकार किया है। स्वय डा० गेमो के शब्दो मे देखें, तो "इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हमारा यह विश्व शाश्वत काल से अस्तित्व मे था और अब से करीब ५० करोड़ वर्ष पूर्व तक समान रूप से सिकुड़ रहा था। आज से ५० करोड वर्ष पूर्व तक वह उस स्थिति को प्राप्त हुआ, जहां पर कि संकोच की उत्कृष्ट स्थिति आ जाने से विश्व की सभी जड़-राशि केवल अणु के सूक्ष्म केन्द्र के अन्दर समाहित हो गई।...... जिसके बाद मे वह पुनः विस्तृत होना शुरू हुआ है, जो अनन्त काल तक विस्तृत होता रहेगा।......"[2]

अनादि विश्व की कल्पना को स्वीकार करना ही पड़ेगा, इस बात को स्पष्ट करते हुए, 'विश्व की आदि' नामक प्रकरण में लिंकन बारनेट लिखते हैं, "विश्व के निर्माण का चिन्तन, विश्व की आदि को अनन्त भूत में ढकेल देता है। यद्यपि वैज्ञानिको के द्वारा नाना सिद्धांतों से तारापुज, तारा, तारा-रज, अणु और अणु के सूक्ष्म अवयवों का निर्माण भी गाणितिक विधि से समझाया गया है, फिर भी प्रत्येक सिद्धांत को एक अनुमान या कल्पना का आधार लेना पड़ता है कि 'इससे पूर्व कुछ विद्यमान था' चाहे वह 'कुछ' स्वतन्त्र-विहारी न्यूट्रोन के रूप में हो, चाहे विकिरण के रूप में हो अथवा अकल्पनीय 'विश्व-उपादान' के रूप मे हो, उसी में से इस बहुरूपधारी विश्व का निर्माण हुआ है।"[3]

इस प्रकार अब तक विवेचित सिद्धांत प्रायः एक या दूसरे रूप मे इस तथ्य को तो स्वीकार करते ही हैं कि यह विश्व शाश्वत अर्थात् अनादि और अनन्त है।

स्थिरावस्थावान् विश्व (Steady State Universe) — नव्यतम प्रचलित सिद्धातो मे एक सिद्धांत, जो 'स्थिरावस्थान विश्व' की कल्पना करता है, का विवेचन करना भी बहुत उपयोगी होगा। यह सिद्धांत भी

१. **मिस्टीर्यस यूनिवर्स**, पृ० १३३।
२. **दी न्यु एस्ट्रोनोमी**, पृ० २३।
३. **दी यूनिवर्स एण्ड डा० आइन्स्टीन**, पृ० ११५।

शाश्वत विश्व के विचार को ही स्वीकार करता है। यह सिद्धांत फ्रेड होयल, थोमस गोल्ड आदि वैज्ञानिकों के द्वारा रखा गया है। इसके अनुसार यद्यपि विश्व विस्तृत हो रहा है, फिर भी उसमें नई जड-राशि उत्पन्न हो रही है, जिसके परिणामस्वरूप विश्व स्थित जड़-राशि की संहति बढती है, किन्तु विश्व-विस्तार के कारण नए जड की उत्पत्ति होने पर भी, विश्व मे जड़ की घनता स्थिर रह जाती है।[1]

इस सिद्धांत को समझाते हुए फ्रेड होयल लिखते है, "विश्व-विस्तार के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठता है कि यदि दूरस्थ आकाशगङ्गाएं एक-दूसरे से दूर जा रही है, तो आकाश अधिक से अधिक रिक्त क्यों नही होता ? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत सिद्धांत के अनुसार यह है कि विश्व में नई आकाशगङ्गाएं, आकाशगङ्गाओं के नए गुच्छ (clusters) निरन्तर बन रहे हैं। उनका निर्माण विस्तारमान आकाशगंगाओ के दूरीकरण से जनित रिक्ताकाश को पुन भर देता है। परिणामस्वरूप आकाश की स्थिति जैसी पहले थी, वैसी रह जाती है।"[2]

इस प्रकार इस सिद्धांत के अनुसार काल-क्रम के साथ विश्व की स्थूल आकृतियो में परिवर्तन नही आता—अर्थात् स्थिर अवस्था रहती है। केवल आकाशगङ्गा अथवा आकाशगङ्गाओ के गुच्छों मे परिवर्तन आता है। इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप कुछ एक विस्मयोत्पादक तथ्य सामने आए हैं :[3]

१. विश्व अनादि और अनन्त है (काल की दृष्टि से)।

२. आकाश और काल अनन्त है।

३. समस्त आकाश मे निरन्तर रूप से नया जड़ उत्पन्न हो रहा है।

इस प्रकार से वर्तमान मे ऐसा एक भी सिद्धांत वैज्ञानिक जगत् में नही है, जो कि सर्वमान्य हो।

आइन्स्टीन का विश्व—यदि विस्तारमान विश्व के सिद्धांत को स्वीकार न करे, तो भी आइन्स्टीन के द्वारा दिए गए विश्व-सिद्धांत के आधार पर विश्व अनादि और अनन्त सिद्ध होता है। जैसे कि रिचार्ड ह्यूजिस (Richard Hughes) अपने **फिजिक्स, एस्ट्रोनोमी एण्ड मेथेमेटिक्स** नामक लेख में लिखते है : "इस प्रकार काल-विमिति क्षेत्र-विमिति की तरह पूर्ण वर्तुल (बद्ध परिमिति) मे समाहित नहीं होती है। अर्थात् हम भविष्य काल मे चाहे जितने दूर चले जाएं, फिर भी हम भूत काल को प्राप्त नहीं

---

१. **दी युनिटी ऑफ दी यूनिवर्स**, पृ० १४३।

२. इसके लिए देखें, **'दी यूनिवर्स'** पुस्तक मे फ्रेड होयल द्वारा लिखित निबन्ध **'दी स्टैंडी स्टेट यूनिवर्स'** पृ० ७७।

३. **वही**, पृ० ७७।

कर सकते। यद्यपि यह कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि काल की आदि है और अन्त भी।"[1]

इस समग्र विवेचन के उपसंहार मे हम कह सकते हैं कि विश्व-आयु सम्बन्धी वैज्ञानिकों के द्वारा अब तक दिए गए सिद्धांतों में अधिकांश सिद्धांत एक या दूसरे रूप मे, 'विश्व का अस्तित्व अनन्त काल से है.' इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। दूसरा विचार यह है कि विश्व की आदि किसी निश्चित समय पूर्व हुई और किसी समय इसका अन्त भी हो जाएगा। इस सिद्धांत को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिकों ने भी विश्व की आदि का काल भिन्न-भिन्न बताया है।

'काल और क्षेत्र सांत है या अनन्त ?' इस प्रश्न के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जगत् में जो अनिश्चितता है, उसकी स्पष्ट झांकी हमे प्रो० हेन्री मार्गेनो के आधुनिक विज्ञान के दर्शन' पर लिखी हुई पुस्तक से मिलती है[2]—"क्या काल और आकाश अनन्त है ? आज का विज्ञान, इस अधिकतम रोचक प्रश्न पर दुर्भाग्यवश अनिश्चित रहा है। अब तक किए गए प्रतिपादनों में से सबसे अधिक सफल वह प्रतिपादन है, जो सांत आकाश-काल का प्रतिपादन करता है। किन्तु कुछ वैज्ञानिक सांत आकाश और अनन्त काल का प्रतिपादन करते हैं, जबकि कुछ दोनों को सांत स्वीकार करते है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक मीन्काउस्की का आव्यूह, जो आपेक्षिकता के सिद्धांत मे प्रयुक्त है, दोनो को अनन्त प्रतिपादित करता है।"

(III) तुलनात्मक अध्ययन

आइन्स्टीन का विश्व और जैन-लोक

आइन्स्टीन के बेलनाकार विश्व में आकाश को इस प्रकार वक्र माना गया है कि सम्पूर्ण विश्व एक बद्ध-आकार को धारण करने वाला और 'सान्त' बन जाता है। जैन दर्शन भी लोक-आकाश को वक्र तथा सान्त स्वीकार करता है।

आइन्स्टीन के विश्व में समग्र आकाश स्वयं सान्त और बद्ध हो जाता है, जबकि जैन दर्शन के अनुसार आकाश-द्रव्य तो अनन्त है; किन्तु लोक-आकाश सान्त और बद्ध है। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय—इन दो द्रव्यों की सान्तता और बद्धाकारता के कारण लोक सान्त और बद्धाकार हो जाता है।

आइन्स्टीन के विश्व में समग्र आकाश अवगाहित है—भरा हुआ है—रिक्त नहीं है। आइन्स्टीन के ई० १९०५ के मूलभूत समीकरणों के

१. कोस्मोलो जीओल्ड एण्ड न्यू, पृ० २२९, में उद्धृत।

२. दी नेचर ऑफ दी फिजिकल रियलिटी, पृ० १६३।

अनुसार तो अवगाहित पदार्थ के अभाव में आकाश का अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

विश्व की वक्रता के विषय मे विश्व-समीकरण के हल वैज्ञानिकों के सामने यह समस्या खड़ी कर देते है कि वक्रता धन है अथवा ऋण? धन वक्रता वाला विश्व सान्त और बद्ध तथा ऋण वक्रता वाला विश्व अनन्त और खुला पाया जाता है। आइन्स्टीन का विश्व धन वक्रता वाला है; अतः सान्त और बद्ध है। ऋण वक्रता वाले विश्व की सम्भावना भी विश्व-समीकरण के आधार पर हुई है। इस प्रकार धन और ऋण वक्रता के आधार पर क्रमशः 'सान्त और बद्ध' तथा 'अनन्त और खुले' विश्व की सम्भावना होती है। लोकाकाश की वक्रता धन और अलोकाकाश की ऋण मान लेने पर जैन दर्शन का विश्व-सिद्धान्त पुष्ट हो सकता है। इस प्रकार जैन विश्व-सिद्धान्त धन और ऋण वक्रता स्वीकार करने वाले विश्व-सिद्धान्त का समन्वय है।

श्री जी० आर० जैन आइन्स्टीन के विश्व की जैन-लोक के साथ तुलना करते हुए लिखते है;[1] "आइन्स्टीन के बेलनाकार विश्व-सिद्धान्त के अनुसार विश्व की आदि भी नही है। अन्त भी नही है, दूसरे शब्दों में यह 'स्थिर इकाई' है। अब यदि हम विश्व को अनन्त (क्षेत्र की दृष्टि से) मान लेते हैं, तो इसकी 'स्थिरता' सम्भव नही हो सकती। क्योकि वैसी स्थिति मे हम यह सोच सकते है कि अनन्त आकाश अनेक विश्वों से भरा हुआ है और इनके आकर्षण के कारण अपना विश्व अनन्त आकाश में बिखर जाता है। इसलिए अपने विश्व की स्थिरता को टिकाने के लिए हमे यह मानना ही ही पड़ेगा कि विश्व 'सान्त' है। किन्तु दूसरी ओर गणितीय समीकरण सान्त विश्व से परे शून्य आकाश के अस्तित्व को असम्भव बताते है। इसलिए सारा आकाश ही 'सान्त' है, जो कि विश्व को भी सान्त बनाता है।

"इस तर्क की अपेक्षा मे जैन दृष्टिकोण अधिक बुद्धिगम्य है। जैन विचारधारा के अनुसार विश्व (लोकाकाश) का स्थैर्य इसलिए बना रहता है कि इससे बाहर गति और स्थिति के माध्यम नही है। परिणामस्वरूप, जड़-पदार्थ या ऊर्जा इससे बाहर जा ही नहीं सकते, अर्थात् विश्व की कुल ऊर्जा सदा अचल रह जाती है। दूसरी बात यह है कि जैन दर्शन आकाश को द्रव्य (सत्) मानता है; अतः लोकाकाश के परे 'असत्' नहीं किन्तु एकमात्र आकाश का ही अस्तित्व होता है। इस प्रकार सभी बाधाएं निपुणता से दूर हो जाती हैं।"

आइन्स्टीन के 'विश्व' सम्बन्धी विचारों के पक्ष एवं प्रतिपक्ष में वैज्ञा-

१. कास्मोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० १२३-१२४।

निकों के द्वारा आलोचनाएं हुई हैं। इस प्रकार का विश्व, जैसा कि पहले बताया गया, सरलतापूर्वक बुद्धिगम्य नही हो सकता है। कुछ वैज्ञानिकों ने उसे यह कह कर 'अकल्पनीय' बताया है कि यह "कल्पना करना असम्भव है कि एक अद्‌भुत सीमा के बाद 'आकाश' का अस्तित्व न हो और गणितज्ञों के लिए भी सीमित आकाश की कल्पना करना अपनी बुद्धि का दिवाला निकालने के समान हो जाता है।"[1] अन्य प्रसिद्ध लेखको ने इसके सम्बन्ध में कहा कि "एक मर्यादा से परे 'कुछ नही' होने की विचारधारा स्व-खण्डनात्मक है।"[2]

जैन दर्शन के 'लोकालोक' के विश्व-सिद्धान्त मे और आइन्स्टीन के 'सान्त और वक्र विश्व वाले सिद्धान्त' मे सादृश्य अधिक है, वैसदृश्य अल्प। स्थूल रूप से इन तीन बातों में दोनों सिद्धान्तो मे वैसदृश्य लगता है—

१. जैन दर्शन समग्र आकाश को अनन्त मानता है, केवल लोकाकाश को सान्त मानता है। आइन्स्टीन का सिद्धान्त समग्र आकाश को सान्त मानता है।

२. जैन दर्शन का आकाश युक्लिडीय भी हो सकता है। आइन्स्टीन आकाश युक्लिडियेतर है।

३. जैन दर्शन लोकाकाश के आकार को वक्र स्वीकार करता है। आइन्स्टीन का समग्र आकाश वक्र (पारिभाषिक अर्थ मे) है।

इन सब तर्क-वितर्कों से हम इतना तो कह सकते है कि जैन दर्शन का लोकाकाश और अलोकाकाश का विश्व-सिद्धान्त आइन्स्टीन के 'सान्त किन्तु असीमित' आकाश के विश्व-सिद्धान्त से अधिक बुद्धिगम्य व तर्क-संगत है।

विश्व-सिद्धान्त के दूसरे पहलू काल के विषय में तो आइन्स्टीन का अभिमत और जैन दर्शन का मन्तव्य परस्पर मे पूर्ण सामंजस्य रखते हैं। दोनो ही सिद्धान्त विश्व को काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त स्वीकार करते है। आइंस्टीन के विश्व मे काल विमिति का अनन्त तक व्याप्त होना और जैन दर्शन के विश्व-सिद्धांत मे काल की दृष्टि से लोकालोक का अनादि-अनन्त होना, एक ही तथ्य का उच्चारण है। 'काल की दृष्टि से विश्व की शाश्वतता' को प्रतिपादित करने वाले ये दो सिद्धात—वैज्ञानिक जगत् में आइन्स्टीन का सिद्धांत और दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन का सिद्धांत—काल की दृष्टि से विश्व को सादि सान्त मानने वाले अन्य वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धांतों को एक बड़ी चुनौती है।

विस्तारमान विश्व और जैन-लोकालोक

जैन दर्शन के दृष्टिकोण से निम्न कारणों के आधार पर विश्व-

---

१. **एक्सप्लोरिंग दी यूनिवर्स**, ले० एच० वार्ड, पृ० १६।

२. **फ्रोम युक्लिड टू एडिंग्टन**, पृ० १८८।

आकाश का विस्तार होना सर्वथा असम्भव है :

१. आकाश 'अगतिशील' द्रव्य है ।

२. आकाश एक अखण्ड द्रव्य है तथा क्षेत्र की दृष्टि से अनंत और असीम है । अर्थात् ऐसा कोई भी स्थान नही है; जहां आकाश न हो । ऐसी स्थिति मे आकाश का विस्तार कैसे और कहा हो सकता है ?

३. यदि आकाश को सान्त भी मान लिया जाये, तो भी नाना प्रश्न खडे हो जाते है । जैसे—सान्त आकाश के परे क्या है ? यदि 'कुछ' है, तो आकाश से किस प्रकार से भिन्न है और वह 'कुछ' विस्तारमान है या स्थिर ? यदि वह भी विस्तारमान है, तो 'किसमे' विस्तृत हो रहा है ? यदि उससे भी परे अन्य कोई तत्त्व है और उससे परे अन्य कोई तत्त्व, तो इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा । यदि वह 'कुछ' स्थिर है, तो आकाश को स्थिर मानने में क्या आपत्ति है ? दूसरे पक्ष मे यदि सान्त आकाश से परे 'कुछ नही' है तो आकाश का विस्तार किसमे होगा ? क्योंकि 'कुछ नही' मे आकाश का विस्तार हो नही सकता । इस प्रकार ये सामान्य तर्क पर आधारित प्रश्न भी सुलझ नही पाते हैं ।

सुप्रसिद्ध सोवियत वैज्ञानिक व० मेजेन्नसेव ने लिखा है[1] "लेमेत्रे, एडिंग्टन, मिल्न बौंडी और दूसरे बुर्जुआ आदर्शवादी वैज्ञानिक यह बताते है कि "लाल स्थानान्तर" से ब्रह्माण्ड के फैलाव के बारे में पता चलता है जो मानो सीमित नहीं है; बल्कि उसका सीमाबद्ध परिमाण है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी समय अतीत मे ब्रह्माण्ड बिल्कुल छोटा था और एक ही 'जनक-परमाणु' से बना था । इस असाधारण ईश्वर रचित 'परमाणु' में सभी ग्रह, तारे और मदाकिनियां मूलरूप मे निहित थी । इसके बाद पारमाणविक विस्फोट हुआ और छोटे-से ब्रह्माण्ड को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और 'जनक-परमाणु' के टुकड़े अब मदाकिनिया और विभिन्न ज्योतिपिंडों के रूप मे चारों तरफ उड़ते फिरते है । लेमेत्रे और मिल्न ने तो यह भी हिसाब लगा लिया था कि कई लाख करोड साल पहले ऐसा विस्फोट हुआ था और इसी काल को 'विश्वारम्भ' समझना चाहिए ।

"ऐसे सिद्धांतों और सूत्रो का वैज्ञानिक दिवालियापन जाहिर है । वास्तव में अगर विश्वाकाश सीमित ही होगा, तो आदर्शवादियो द्वारा कथित वह सीमित ब्रह्माण्ड कहां है ?

"लाल स्थानान्तर की प्रकृति की अभी तक सम्पूर्ण व्याख्या नही की गई है । जो भी हो, अगर यह घटना सचमुच ही मंदाकिनियों के फैलाव का नतीजा है, तो जहां पदार्थ की विचित्रता का कोई अन्त नही है और न हो

---

१. **विश्व और परमाणु**, पृ० १४३-१४४ ।

सकता है, उस समस्त ब्रह्माण्ड में इस फैलाव का सम्बन्ध जोड़ना असम्भव है।"

होयल के स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धात की विस्तृत चर्चा हम कर चुके हैं। इस सिद्धांत का मुख्य आधार निम्न दो बातें हैं :—

१. विश्व का विस्तार हो रहा है।

२. विश्व में नया जड़ उत्पन्न हो रहा है।

इस सिद्धात के परिणामस्वरूप ये दो तथ्य सामने आये हैं :—

३. विश्व काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है।

४. विश्व-आकाश अनन्त है।

जैन दर्शन का विश्व-सिद्धात इस विषय में निम्न चार तथ्यों को रखता है।

१. आकाश द्रव्य अगतिशील है; अतः विश्व का विस्तार नही हो सकता।

२. असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती। विश्व-स्थित द्रव्य की राशि 'अचल' है।

३. विश्व काल की दृष्टि मे अनादि और अनन्त है।

४ आकाश-द्रव्य अनन्त है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि षड्-द्रव्यमय लोकाकाश सान्त है।

स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धात और जैन दर्शन के विश्व-सिद्धात की तुलना उक्त चार तथ्यो के आधार पर सरलता से हो सकती है। प्रथम दो बाते, जो कि स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धांत का आधार है, जैन दर्शन स्वीकार नही करता। अन्तिम दो विचारो के विषय में जैन दर्शन और उक्त सिद्धांत में काफी सामजस्य दिखाई देता है। तीसरे तथ्य के विषय मे तो दोनों ही में सम्पूर्ण ऐक्य है। चौथे तथ्य के निरूपण मे किंचित् भेद है। जैन दर्शन आकाश को अनन्त मानता हुआ भी निवासित आकाश (लोकाकाश) को सान्त मानता है; जबकि स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धांत अनन्त आकाश में निवासित-अनिवासित का भेद नही करता।

जैन दर्शन और होयल के सिद्धांत मे दूसरे तथ्य का निरूपण पूर्व-पश्चिम-सा हुआ है। 'असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति' का निरूपण अत्यन्त अतार्किक और अकल्पनीय प्रतीत होता है। आन्वीक्षिकी मे यह एक सुप्रसिद्ध और सुप्रमाणित सत्य स्वीकार किया गया है कि असत् से किसी भी सत् पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती। किसी भी सत् पदार्थ की उत्पत्ति का उपादान कारण 'सत्' ही होगा, चाहे वह किसी भी रूप मे हो।

यदि 'नये जड' से हम केवल 'संहति'[1] के ही उत्पादन का अर्थ ग्रहण

---

१. चूंकि संहति-शक्ति समीकरण के अनुसार दोनो एक ही सत् की पर्याय हैं, यहां 'संहति' के साथ शक्ति (ऊर्जा, एनर्जी) का ग्रहण अपने आप हो जाता है।

करते हैं, तो जैन दर्शन के साथ उक्त परिकल्पना की संगति बिठाई जा सकती है।

आधुनिक वैज्ञानिक धारणाओं के अनुसार संहृति को भूत का मौलिक गुण माना गया है, जबकि जैन दर्शन के अनुसार संहृति पुद्गल का मूलभूत गुण नहीं है। सहृति-शून्य पदार्थ का अस्तित्व मानने से—

(क) प्रकाश के वेग से अधिक वेग सम्भावित होता है।[1]

(ख) नये जड़ की उत्पत्ति की परिकल्पना को संगत बनाया जा सकता है।

स्कन्ध-निर्माण से पूर्व पुद्गल संहृति-शून्य अवस्था मे अस्तित्ववान् होता है। परमाणु-सन्घात से जब स्कन्ध-निर्माण होता है, तब संहृति-गुण अस्तित्व मे आता है;[2] अतः विश्व-विस्तार से उत्पन्न रिक्तता को भरने के लिए यदि नये जड़ की उत्पत्ति की परिकल्पना की जाती है, तो उसका यही तात्पर्य हो सकता है कि पहले से ही विद्यमान परमाणुओं के द्वारा अष्ट-स्पर्शी स्कन्धो का नव-निर्माण होता है। इस प्रकार, वस्तुतः 'नया जड़' उत्पन्न नही होता, पर सहृति-शून्य अवस्था मे पहले से ही विद्यमान पुद्गल का रूपांतर सहृतिमान् अवस्था मे हो जाता है। इसी प्रकार जहां विद्यमान जड़ के नाश की परिकल्पना की गई है, वहां भी यही तात्पर्य हो सकता है कि संहृतिमान् अवस्था मे रहे पुद्गल-स्कंध संहृति-शून्य अवस्था मे परिणत होते हैं। यदि आकाश-गंगाओं की गति का तात्पर्य समग्र विश्व का विस्तार न लेकर केवल कुछ आकाश-गगाओ के एक-दूसरे से दूर जाना ही हो, तो स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धात जैन दृष्टिकोण के साथ काफी संगत हो जाता है। विस्तार के बाद सकोच और सकोच के बाद विस्तार—इस रूप में आकाश-गगाओं की गति व प्रतिगति के क्रम की भी परिकल्पना की गई है। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि आकाश-गगाओ की गति-प्रतिगति के साथ स्कन्ध-निर्माण के स्कन्ध-ध्वंस का क्रम चलता रहता हो और विस्तार से जनित रिक्तता व संकोच से जनित बहुलता की परिणति की पूर्ति होती रहती हो। इस प्रकार, अनन्त-काल तक ध्वंस-निर्माण के साथ-साथ स्थायी अवस्था बनी रहती हो।

यह उल्लेखनीय है कि सन् १९६४, जून में होयल के साथ भारतीय युवा वैज्ञानिक जयन्त विष्णु मारलीकर ने गणितीय आधारो पर एक नया विश्व-सिद्धात प्रस्तुत किया है, जिसमें स्थायी-अवस्थावान् विश्व-सिद्धांत को ही नया रूप दिया गया है। प्रस्तुत संहृति-शून्य पदार्थ की परिकल्पना उक्त

१. इसकी विस्तृत चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे।

२. चतु.स्पर्शी स्कन्धो में तो स्कन्धावस्था मे भी संहृति-शून्य अवस्था ही रहती है।

सिद्धांत के लिए काफी महत्त्वपूर्ण हो सकती है।[1]

आरोह-अवरोहशील विश्व और अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी

'काल-प्रवाह के साथ विश्व-प्रक्रियाओं में आरोह-अवरोह आते रहते हैं'—यह निरूपण वैज्ञानिकों के द्वारा 'स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व', 'अति-परिवलीय विश्व' और 'चक्रीय विश्व' के सिद्धांतों के रूप में किया गया है। दूसरी ओर जैन दर्शन के अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल-चक्र का सिद्धात इसी तथ्य का निरूपण करता है। इनमे परस्पर कहां तक समानता हो सकती है, इसकी चर्चा उपयोगी होगी।

स्वतः सचालित कम्पनशील विश्व की कल्पना विश्व-विस्तार के सिद्धांत पर आधारित है; अतः जैन दर्शन का जो मतभेद विश्व-आकाश के विषय में 'विस्तारमान विश्व-सिद्धांत' के साथ है, वह इसके साथ भी स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है। परन्तु काल के दृष्टिकोण से विश्व के निरूपण के विषय मे यह सिद्धात और जैन दर्शन एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाते है। दोनों ही विश्व के अस्तित्व को अनादि-अनन्त स्वीकार करते हैं और काल-प्रवाह के साथ विश्व के आरोह-अवरोह का प्रतिपादन करते हैं।

आइन्स्टीन के 'द्रव्य और शक्ति की समानता' के नियम पर आधारित चक्रीय विश्व-सिद्धात की विस्तृत चर्चा मे हमने देखा कि किस प्रकार यह सिद्धांत विश्व को निर्माण और ध्वंस के अनन्त चक्रो में से गुजरने वाला किंतु शाश्वत घोषित करता है। वैज्ञानिक जगत् में यह एक ऐसा सिद्धांत है, जो जैन दर्शन के कालचक्र-सिद्धात के साथ अधिकतम सामंजस्य रखता है। 'चक्रीय विश्व-सिद्धांत' और 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का सिद्धांत' स्थूल रूप से एक ही तथ्य का निरूपण करते है कि विश्व की प्रक्रियाओं में काल-प्रवाह के साथ निर्माण और ध्वंस क्रमशः होता रहता है और इन चक्रो के चलते रहने पर भी विश्व का अस्तित्व अनादि अनन्त है।

'चक्रीय विश्व-सिद्धांत' के विषय में निम्न दो बाते उल्लेखनीय है—

१. यह सिद्धांत जिन परिकल्पनाओ पर आधारित है (जिनका संक्षिप्त विवेचन हम कर चुके हैं), वे ठोस प्रायोगिक और सैद्धांतिक आधार पर निर्मित है।

२. इस सिद्धांत के अन्तर्गत विश्व का केवल काल की दृष्टि से ही

१. होयल-नारलीकर सिद्धांत की घोषणा से पूर्व ही संहति-शून्य पदार्थ के अस्तित्व की सम्भावना का संकेत अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या सम्मेलन, दिल्ली मे ४ जनवरी, १९६४ को पढ़े गए **"स्पेस एण्ड टाइम इन जैन मेटाफिजिक्स एण्ड मोडर्न फिजिक्स"** शीर्षक मुनि महेन्द्रकुमार के शोध-पत्र में किया जा चुका था।

निरूपण किया गया है, अतः विश्व-आकाश विस्तारमान है या स्थिर, इसके विषय में यह सिद्धांत कुछ भी नहीं कहता।

अतिपरवलीय विश्व-सिद्धांत और स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व-सिद्धांत में केवल इतना ही अन्तर है कि अतिपरवलीय विश्व-सिद्धात विश्व को काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त मानता हुआ भी उसमे केवल एक संकोच-विस्तार की कल्पना करता है, जबकि स्वतःसचालित कपनशील विश्व में अनन्त संकोच-विस्तार की कल्पना की गई है; अत. स्वतः संचालित कंपन-शील विश्व के साथ जैन दर्शन के अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी-सिद्धांत का जितना सादृश्य था, उतना अतिपरवलीय सिद्धांत के साथ नही है।

डॉ० ज्योर्ज गेमो का 'उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त' भी 'अतिपरवलीय विश्व सिद्धान्त' पर आधारित है। डॉ० गेमो ने 'उद्विकासी-विश्व' के प्रतिपादन मे एक मनोरजक कल्पना की है। सिकुड़ते हुए और विस्तृत होते हुए विश्व मे काल-प्रवाह के साथ विश्व की अन्य प्रक्रियाओं पर क्या प्रभाव रहा होगा, इस विषय का निरूपण करते हुए डॉ० गेमो लिखते हैं :[1] "जब विश्व सिकुड़ रहा था, तब क्या विश्व की सभी प्रक्रियाए उल्टे क्रम से चलती थी? यह प्रश्न हम अपनी कल्पना के बल पर अपने आपको पूछ सकते है। इससे आगे यह कल्पना भी कर सकते है कि क्या साठ से अस्सी करोड वर्ष पूर्व आप यह पुस्तक उल्टे क्रम से—अतिम पृष्ठ से प्रारम्भ कर आदि पृष्ठ की ओर पढ़ रहे थे? अथवा कल्पना को इससे भी आगे दौड़ाने पर यह प्रश्न भी हो सकता है कि क्या उस समय मनुष्य अपने मुह मे से पकाई हुई मुर्गी निकाल कर, अपने रसोईघर मे उसमे जीवन डालकर उसे बाहर खेत में भेजा करते थे; जहां वे मुर्गियां वृद्धावस्था से युवावस्था और युवावस्था से बाल-अवस्था को प्राप्त होती हुई अत मे अण्डे का स्वरूप धारण कर लेती थी? ……इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर केवल वैज्ञानिक आधार पर नही दिया जा सकता। क्योंकि जब विश्व सिकुड़ता-सिकुड़ता उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हुआ था, तब विश्व-स्थित समस्त जड-राशि केवल एक छोटे से अणु के भीतर समाहित हो गई थी और इस प्रक्रिया के कारण संकोचमान-विश्व में 'कौन-सी क्रिया किस रूप में होती थी?' इसका सारा इतिहास ध्वस्त हो गया।"

डॉ० गेमो द्वारा किये गये इस निरूपण की समीक्षा जैन दर्शन के 'कालचक्रीय-सिद्धान्त' के आलोक में करने से सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक की विचित्र कल्पनाओं का और प्रश्नों का समाधान सहज रूप से मिलना सम्भव हो सकता है। प्रकृति की प्रक्रियाओ के उलटने का अर्थ 'पुस्तक को अत से शुरू

---

१. वन, टू, थ्री ……इन्फिनिटी, पृ० ३३५।

कर आदि तक पढ़ना' और 'मुंह से मुर्गी निकाल कर मुर्गी का ह्रास होकर अण्डे में प्रविष्ट होना' आदि नही है। किन्तु उसका अर्थ होता है—पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श— इन मूल गुणों की पर्यायों में हानि-वृद्धि होना और इसके परिणामस्वरूप ही मनुष्यो के आयुष्य, ऊचाई[1], अस्थि-सख्या आदि जीवन से सम्बन्धित प्रक्रियाओ मे अवसर्पिणी काल मे उत्तरोत्तर ह्रास और उत्सर्पिणी काल मे उत्तरोत्तर विकास होता रहता है।

सादि विश्व-सिद्धान्त और जैन दर्शन

सादि-विश्व-सिद्धान्तों के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि क्या ये सिद्धान्त 'विश्व' के अस्तित्व मात्र को 'सादि' स्वीकार करते हैं, अथवा 'विश्व' की वर्तमान या विशेष अवस्था को ? यदि वे केवल विश्व की वर्तमान या विशेष अवस्था का 'आरम्भ' स्वीकार करते है, तो यह स्वयं स्वीकृत हो जाता है कि विश्व का अस्तित्व तो अनादि है ही; केवल विश्व की अवस्था का परिवर्तन कोई निश्चित काल पूर्व हुआ था। ऐसी स्थिति मे जैन दर्शन के साथ इन सिद्धान्तो का अधिक वैषम्य नही रह जाता। किन्तु यदि वे विश्व के अस्तित्व मात्र के ही आरम्भ का प्रतिपादन करते हैं, तो जैन दर्शन के अनुसार वह तर्क-संगत नही होता।

एबे लेमैत्रे के सिद्धान्त के विरोध मे जैन दर्शन वही तर्क उपस्थित करता है कि जिस अद्भुत अणु में से विश्व का जन्म हुआ, उस अणु का अस्तित्व अनादि है या सादि ? यदि उसको अनादि माना जाये, तो 'विश्व' भी अनादि हो जाता है। यदि उसको 'सादि' माना जाये, तो उसका उपादान कारण कुछ और मानना पड़ेगा। अब चूंकि असत् उपादान से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती; अतः उस अणु का उपादान कारण भी सत् होना चाहिए। इसको यदि सादि माना जाये तो उसी प्रकार उपादान कारणो की परम्परा चलने पर 'अनवस्था-दोष' उत्पन्न हो जाता है; अतः कही-न-कही 'अनादि-

१. जैन दर्शन के कालचक्र-सिद्धान्त में प्राणियों की ऊंचाई आदि का जो निरूपण किया गया है, उसकी पुष्टि कुछ एक आधुनिक वैज्ञानिक खोजो द्वारा हुई है। एक पुरातत्त्व अन्वेषण-युगल डॉ० लूई लीके और श्रीमती मेरी लीके ने पूर्व अफ्रीका से टांगानिका मे आज से २० लाख वर्ष पूर्व के मनुष्य एवं पशुओं के कुछ अवशेषो की खोज की है। उनके अनुसार उस युग में रहने वाली भेड़ के सींग १५ फीट लम्बे थे तथा एक पक्षी की लम्बाई दो मंजिल मकान जितनी थी, जिसके अंडे 'बाउलिंग' गेंद से भी बड़े होने चाहिए। देखें, **रीडर्स डाइजेस्ट**, अप्रेल १९६४ मे **The Man of Two Millions Years ago and His Companions** शीर्षक लेख।

उपादान' स्वीकार करना ही पड़ता है, जो विश्व को मूलतः अनादि बना देता है।

सान्त विश्व-सिद्धान्त और जैन दृष्टिकोण

'विश्व के अस्तित्व का एक समय अंत आ जायेगा'—इस सिद्धान्त का निरूपण मुख्यत. उष्णता-गति-विज्ञान के दूसरे नियम पर आधारित है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के विषय मे निम्न छ बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है :

१. इस सिद्धान्त के अनुसार "विश्व-स्थित जड़ राशि (शक्ति रूप एव द्रव्य रूप) शून्य आकाश मे विलीन हो रही है।" इस निरूपण का अर्थ होता है कि विश्व की जड-राशि का नाश हो रहा है, किन्तु 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा के नियम' के अनुसार विश्व की जड़-राशि शाश्वत काल के लिए अचल रहती है। इस प्रकार उक्त सिद्धान्त इस नियम के साथ असंगत है। 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा का नियम' विज्ञान का मूलभूत आधार माना गया है। जैन दर्शन के 'परिणामी-नित्यत्व-वाद' के दृष्टिकोण से भी यह निरुपण सम्यग् नही लगता।

२. दूसरी ध्यान देने योग्य बात है—इस विषय मे सर जेम्स जीन्स का सुझाव। सर जेम्स जीन्स के अनुसार, 'यह सर्वथा कल्पनीय है कि विशेष प्रकार की आकाशीय स्थिति मे उष्णता-गति-विज्ञान का यह (दूसरा) नियम सही न हो।" परिणामस्वरूप 'विश्व का अत है' यह निरूपण गलत हो जाता है।

इसी तथ्य का स्पष्ट निरूपण एडिंग्टन के शब्दों में इस प्रकार मिलता है : 'वैज्ञानिक दर्शन मे यह साधारणतया माना हुआ तथ्य है कि प्रकृति के नियमो द्वारा किसी शाश्वत सत्य का प्रतिपादन नही होता; केवल हमारे सीमित अनुभव मे आने वाली प्रक्रियाओं के लिए ही उनका सत्य होना सम्भव है। इससे आगे 'ये सर्वदा और सर्वत्र सत्य है'—ऐसा विधान करने का हमे कोई अधिकार नहीं है।"

३. तीसरा महत्त्वपूर्ण तर्क उक्त सिद्धान्त के विरोध में यह है कि उष्णता-गति-विज्ञान का दूसरा नियम स्वय कहा तक प्रमाणित है, यह चर्चास्पद विषय है।

४. इस सिद्धान्त की संदिग्धता का चौथा प्रमाण है—'उष्णता गति-विज्ञान' के प्राचीन असापेक्षवादी (non-relativistic) निरूपण और नवीन सापेक्षवादी निरूपण का वैषम्य।

५. प्रस्तुत सिद्धान्त का ठोस विरोध विश्व के पुनर्निर्माण की कल्पना पर आधारित 'चक्रीय-विश्व-सिद्धान्त' ने किया है।

६. सान्त विश्व-सिद्धान्त वस्तुतः तो केवल इतना ही प्रतिपादन करता

है कि एक निश्चित समय के बाद विश्व-स्थित अन्त्रोपी उत्कृष्टतम स्थिति को प्राप्त कर लेगी। किन्तु उस अवस्था में विश्व के 'अस्तित्व' का भी नाश हो जायेगा, यह किस प्रकार कहा जा सकता है ? विश्व की उत्कृष्टतम अन्त्रोपी वाली दशा में भी न केवल विश्व का अस्तित्व बना रहेगा, किन्तु इसके पुनर्निर्माण की सम्भावना भी रह जायेगी। कुछ वैज्ञानिकों का यह प्रतिपादन कि 'उस स्थिति मे काल स्वय समाप्ति को प्राप्त होगा' गलत है। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान के प्रायः सभी सिद्धान्त—चक्रीय विश्व-सिद्धान्त, स्वतः संचालित कम्पनशील विश्व-सिद्धान्त, स्थायी अवस्थावान् विश्व-सिद्धात, उद्विकासी विश्व-सिद्धान्त—विश्व की काल विमिति को अनादि-अनन्त स्वीकार करते है; जैन दर्शन भी यही प्रतिपादन करता है। इस प्रकार ये सभी सिद्धान्त इस सिद्धान्त के विरोध मे है। यदि उक्त सिद्धान्त को सही मान लिया जाये, तो भी वह 'विश्व की वर्तमान व्यवस्थित अवस्था का अत आ जायेगा'—इस रूप तक ही सीमित रह जाता है। 'विश्व-अस्तित्व का अन' या 'विश्व की काल-विमिति का अत'—इस प्रकार का प्रतिपादन उक्त सिद्धान्त से फलित नही होता।

निष्कर्ष का नवनीत

१. वर्तमान में विज्ञान-जगत् मे विश्व-सम्बन्धी एक भी ऐसा सिद्धांत नही है जो निर्विवादतया सबके द्वारा स्वीकृत हो। **जैन दर्शन एक सर्वांगीण और व्यवस्थित विश्व-सिद्धान्त इस प्रहेलिका के समाधान के रूप में प्रस्तुत करता है।**

२. विज्ञान-जगत् मे 'आकाश' और 'विश्व' के बीच मे कोई अन्तर नही है। इसके परिमाण के विषय मे दो मत हैं :

१. विश्व (आकाश) सान्त है।

२. विश्व (आकाश) अनन्त है।

जैन दर्शन विश्व और आकाश को सर्वथा एक नही मानता। 'विश्व' को 'आकाश' का एक भाग मानता है। इसके अनुसार :

१. आकाश (सम्पूर्ण) अनन्त है।

२. विश्व (लोकाकाश) सान्त है।

३. अलोकाकाश अनन्त है।[1]

---

१. इसको सांकेतिक रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है :

आकाश = लोक + अलोक

आकाश—अनन्त

लोक—सान्त

अलोक—अनन्त

३. 'विश्व सान्त है या अनन्त ?' इस प्रश्न को सुलझाने के लिए वैज्ञानिक 'आकाश की वक्रता' की कल्पना करते हैं।

जैन दर्शन इसका समाधान—(१) ऋण-घन ईथर और (२) आकाश के विभागीकरण के निरूपण से करता है।

४. 'विस्तारमान विश्व' का सिद्धान्त यद्यपि विज्ञान-जगत् में अधिक से अधिक मान्यता प्राप्त हो रहा है, फिर भी इसका स्थान 'असंदिग्ध' नहीं है।

जैन दर्शन के आधार पर लोकाकाश का विस्तार असंभव है; वह आकाशीय पिण्डों की गति की संभावना से इन्कार नहीं करता।

५. विज्ञान-जगत् के अधिकांश सिद्धान्त और जैन दर्शन, मानते हैं कि विश्व काल की दृष्टि से आदि-रहित और अन्त-रहित है।

६. वैज्ञानिकों का चक्रीय विश्व-सिद्धान्त और जैन दर्शन का 'काल-चक्र' का सिद्धान्त परस्पर अधिक साम्य रखते है।

७. भौतिक विज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त 'द्रव्य और शक्ति की सुरक्षा का नियम' और जैन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त 'परिणामी-नित्यत्ववाद' एक ही तथ्य का उच्चारण करते हैं कि अनन्त परिणमनों के होते हुए भी पदार्थ शाश्वत है।

यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन के विश्व-सिद्धान्त की तर्क-संगतता आज के वैज्ञानिकों को प्रभावित करने वाली है। निम्न तथ्य विशेषतः ध्यातव्य हैं :

१. आकाश एक वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है; किन्तु पुद्गल (मैटर) से भिन्न है।

२. आकाश लोक और अलोक के रूप मे विभाजित है।

३. विश्व (लोकाकाश) का आकार 'त्रिशरावसम्पुट' होने के कारण वक्रतायुक्त है।

४. विश्व का परिमाण (वाल्युम) किसी भी रूप में $१०^{३०^{१९६}}$ घन माइलों से कम नहीं है।

५. अलोकाकाश अनन्त है। वह रिक्त होते हुए भी असत् (अवास्तविक) नहीं है।

६. लोकाकाश में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो द्रव्य (Reality) है, जो कि गति और स्थिति के असाधारण माध्यम है। अलोकाकाश मे इनका अभाव होने से वहां कोई अन्य द्रव्य न तो है और न जा सकता है।

७. आकाश-द्रव्य अगतिशील है।

८. सभी पदार्थ (सत्) द्रव्यत्व की अपेक्षा से शाश्वत-अनादि—अनन्त हैं; अतः विश्व भी शाश्वत है।

९. विश्व के विशेष क्षेत्रों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालचक्र का प्रवर्तन होने से प्रकृति की प्रक्रियाओं मे आरोह-अवरोह होते रहते हैं।

अस्तु, आज के इस यन्त्र-प्रधान युग में, दीर्घकाय दूरवीक्षणयंत्र[1] (टेलिस्कोप), रेडियो-दूरवीक्षणयंत्र, सूक्ष्मवीक्षणयंत्र (माइक्रोस्कोप), वर्णपट मापक यंत्र (स्पेक्ट्रोमीटर) आदि यथार्थतम मापने वाले यन्त्रों से सुसज्जित वेधशालाओं एवं प्रयोगशालाओ के होते हुए भी यदि वैज्ञानिक विश्व-प्रहेलिका को नही सुलझा पाये है, तो उस युग में जबकि इन साधनों का सर्वथा अभाव था, जैन दार्शनिकों ने 'विश्व की सान्तता', 'आकाश और काल की अनन्तता', 'गति-स्थिति माध्यमों (ईथरों) की वास्तविकता' विश्व का निश्चित परिमाण और आकार, पदार्थ में परिणामी-नित्यत्व धर्म, कालचक्र के प्रवर्तन के साथ प्रकृति के परिवर्तन आदि तथ्यों का विवेचनपूर्वक और असीम निश्चलता से किस प्रकार प्रतिपादन किया, यही प्रश्न जिज्ञासा-शील मनुष्य को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की छोटी तलैया से निकाल कर आत्म-प्रत्यक्ष के लहलहाते महासागर की ओर झाकने को उत्कण्ठित कर देता है।

अभ्यास

१. जैन दर्शन के अनुसार विश्व के आकार और परिमाण की चर्चा करें।
२. जैन दर्शन के काल-चक्रीय सिद्धात को विस्तार से समझाइए।
३. आपेक्षिकता के सिद्धांत से पूर्व और पश्चात् कालीन वैज्ञानिकों द्वारा विश्व के परिमाण को किस प्रकार समझाया गया?
४. विस्तारमान विश्व का वैज्ञानिक विश्लेपण प्रस्तुत करे।
५. वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत 'विश्व की आदि और अन्त' सम्बन्धी सिद्धांतों को समझाते हुए उनके वैज्ञानिक आधारो को स्पष्ट करे।
६. जैन दर्शन के विश्व के परिमाण-सम्बन्धी विचारों की आइन्स्टीन के एतद्विषयक विचारों के साथ तुलना करें।
७. सादि सान्त विश्व-सिद्धातों का जैन दर्शन के आधार पर खडन करें।
८. जैन दर्शन और विज्ञान के 'अनादि-अनन्त विश्व-सिद्धांतों' की तुलना करें।
९. जैन दर्शन के कालचक्रीय सिद्धांत का वैज्ञानिक आधारों पर मूल्यांकन करें।

---

१. माउण्ट विलसन की वेधशाला में ६० इंच और माउण्ट पैलोमेर की वेधशाला में २०० इंच की दीर्घता के काच से युक्त दूरवीक्षण यंत्र का उपयोग होता है।

८. जैन दर्शन और विज्ञान में पुद्गल

(क) जैन दर्शन में पुद्गल

'पुद्गल' शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो वर्ण, स्पर्श, गन्ध और रस—इन गुणों से युक्त है, वह पुद्गल है। पुद्गल का आधुनिक पर्यायवाची शब्द जड अथवा भौतिक पदार्थ हो सकता है। किन्तु ऊर्जा, जो कि वस्तुतः जड का ही रूप है, पुद्गल के अन्तर्गत आ जाती है।

छह द्रव्यों में जीव को छोडकर शेष पाचों ही द्रव्य अजीव है; पुद्गल भी अजीव है। वह चैतन्य-गुण से रहित है। पुद्गल के सूक्ष्मतम अविभाज्य *अंश को परमाणु कहा जाता है। विश्व (लोकाकाश) में परमाणुओं की* सख्या अनन्त है और प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र इकाई है। जब ये परमाणु परस्पर जुड़ते हैं, तब 'स्कन्ध' का निर्माण होता है। स्कन्ध मे दो से लेकर अनन्त परमाणु हो सकते हैं। लोकाकाश के जितने भाग को एक परमाणु अवगाहित करता है, उतने भाग को 'प्रदेश' कहा जाता है। किन्तु पुद्गल की स्वाभाविक अवगाहन-संकोच-शक्ति के कारण लोकाकाश के एक प्रदेश मे 'अनन्त-प्रदेशी' (अनन्त परमाणुओं मे बना हुआ) स्कन्ध ठहर सकता है। समग्र लोकाकाश मे (जो कि असंख्यात प्रदेशात्मक है) अनन्त 'अनन्त प्रदेशी' स्कन्ध विद्यमान है। इस प्रकार द्रव्य-संख्या की दृष्टि से पुद्गल द्रव्य अनन्त है, क्षेत्र की दृष्टि से स्वतत्र परमाणु एक प्रदेश का अवगाहन करता है और स्वतन्त्र स्कन्ध एक से लेकर असख्यात प्रदेशो का अवगाहन करता है तथा समग्र पुद्गल द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त है, काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त हैं; स्वरूप की दृष्टि से वर्ण, स्पर्श आदि गुणों से युक्त, चैतन्य-रहित और मूर्त है।

पुद्गल का नामकरण/परिभाषा

पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति है—पुद्+गल। पुद्=पूरण अर्थात संघात यानी संयुक्त होना (fusion) और गल=गलन अर्थात् भेद यानी वियुक्त होना (fission)। केवल वह पदार्थ ही पुद्गल है जिसमें संश्लिष्ट और विश्लिष्ट होने की क्षमता है। छह द्रव्यों में केवल पुद्गल द्रव्य मे ही यह क्षमता है, अन्य पांच द्रव्यों मे नहीं। जो द्रव्य प्रति समय मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे; वह पुद्गल है।

पुद्गल के लाक्षणिक गुण हैं—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। इन गुणों के कारण पुद्गल मूर्त (इन्द्रिय-ग्राह्य) बनता है। ये गुण केवल पुद्गल-द्रव्य में ही होते हैं, अन्य पांच द्रव्यों में नहीं। इसलिए शेष पांच द्रव्य अमूर्त या अरूपी होते हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी या इन्द्रिय-ग्राह्य होने का तात्पर्य केवल यह नहीं कि वह चक्षु-ग्राह्य है, पर सभी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। अर्थात् पुद्गल की विलक्षण पहिचान यह है कि वह छूआ जा सकता है, चखा जा सकता है; सुंघा जा सकता है और देखा भी जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्पर्श रस, गंध और वर्ण—ये चारों ही गुण सभी पुद्गलों में प्रकट या अप्रकटरूप में एक साथ विद्यमान होते ही हैं।

पुद्गल के लाक्षणिक गुण और गुणों की पर्याय

वर्ण के मूल पांच प्रकार है—काला, नीला, लाल, पीला, श्वेत।

गंद के मूल दो प्रकार है—सुगंध और दुर्गंध।

रस के पांच प्रकार है—मीठा, कटु, खट्टा, कसैला, तिक्त।

स्पर्श के आठ प्रकार हैं—शीत, उष्ण; स्निग्ध, रूक्ष; गुरु, लघु; मृदु, कठोर।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये पुद्गल के गुण है। कृष्ण आदि पांच रंग वर्ण-गुण की पर्याय है; सुगंध-दुर्गंध गध गुण की पर्याय हैं; इसी प्रकार मधुर आदि पांच तथा शीत आदि आठ क्रमशः रस और स्पर्श गुण की पर्याय है। इस प्रकार चार गुणो की २० पर्याये है। हम गुण को नही जानते बल्कि उसकी पर्याय को जानते है। जैसे—स्पर्श गुण नही जाना जा सकता, अपितु शीत या उष्ण पर्याय का ज्ञान हम कर सकते है। पर्याय बदलती रहती है, पर गुण सदा बना रहता है। जैसे—स्पर्श गुण सदा बना रहता है, पर शीत का उष्ण या उष्ण का शीत के रूप मे पर्याय-परिवर्तन घटित होता रहता है; हम इन्हीं पर्यायों को जानते रहते है। जैसे गुणों की पर्याय होती है, वैसे द्रव्य की पर्याय भी होती हैं। सभी द्रव्यों की अनन्त पर्यायें होती है। पुद्गल-द्रव्य की अनन्त पर्यायों मे से कुछ विशिष्ट पर्यायों की चर्चा करेंगे—

पुद्गल की विशिष्ट पर्याय

१. **शब्द**—एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कंध के टकराने या किसी स्कंध के टूटने से जो ध्वनि रूप परिणाम उत्पन्न होता है, उसे शब्द कहते है। शब्द कर्ण/श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। परमाणु शब्द उत्पन्न नहीं कर सकता। वैशेषिक दर्शन में शब्द को आकाश द्रव्य का गुण माना गया है, पर जैन दर्शन के अनुसार वह आकाश का गुण नही, वरन् पुद्गल की पर्याय है। इस मान्यता के समर्थन में अनेक तर्क दिए गए है।

उत्पत्ति की दृष्टि से शब्द के मुख्य दो प्रकार हैं—१. वैस्रसिक—स्वाभाविक या प्राकृतिक—जैसे बादलों का गर्जना। २. प्रायोगिक—प्रयत्न-जन्य। प्रायोगिक के दो प्रकार हैं—१. भाषात्मक २. अभाषात्मक। पहले प्रकार में मनुष्य, पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियां आती हैं। दूसरे प्रकार में प्रकृति-जन्य और वाद्य-यंत्रों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों का समावेश होता है।

भाषात्मक शब्द के दो भेद हैं—१. अक्षरात्मक २. अनक्षरात्मक। पहले वर्ग में ऐसी ध्वनियां आती है जो अक्षरबद्ध की जा सके और लिखी जा सके। दूसरे वर्ग में रोने-चिल्लाने, खासने-फुसफुसाने, आदि की तथा पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियां आती हैं, जिन्हें अक्षरबद्ध नहीं किया जा सकता।

अभाषात्मक के दो भेद हैं—१. वैस्रसिक, २ प्रायोगिक। वाद्य-यंत्रों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियां दूसरे वर्ग में हैं। इनके चार प्रकार हैं—तत, वितत, घन, सुषिर।

१. तत—जो ध्वनि चर्म-तनन आदि झिल्लियों के कम्पन से उत्पन्न होती है। जैसे—भेरी, तबला, ढोलक आदि आघात वाद्य (percussion instruments).

२. वितत—वीणा आदि तंत्रि-यंत्रों (string instruments) मे तंत्री (तार) के कम्पन से उत्पन्न ध्वनि। जैसे—वीणा, तम्बुरा, सीतार आदि।

३. घन—घण्टा आदि ठोस (घन) द्रव्यों के अभिघात से उत्पन्न ध्वनि। जैसे—घण्टा, ताल आदि।

४. सुषिर—बंसी आदि मे रहे रिक्तस्थान मे रहे वायु-प्रतर के कपन से उत्पन्न ध्वनि। जैसे—बंसी, शंख आदि।

एक अन्य अपेक्षा से शब्द के तीन भेद भी किए जाते है—१. जीव शब्द, २. अजीव शब्द, ३. मिश्र शब्द।
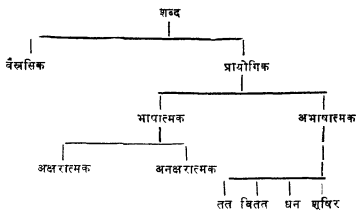
२. बन्ध (fusion)

'बन्ध' शब्द का अर्थ है बंधना, जुडना, मिलना, सयुक्त होना । दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी बन्ध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कंधों का भी । इसी तरह एक या एक से अधिक परमाणुओं का एक या एक से अधिक स्कंधो के साथ भी बन्ध होता है । पुद्गल-परमाणुओं (कार्मण वर्गणाओं) का जीव द्रव्य के साथ भी बध होता है ।

बध की एक विशेषता यह है कि उसका विघटन या विखण्डन या अंत अवश्यम्भावी है; क्योंकि जिसका प्रारम्भ होता है, उसका अंत भी अवश्यमेव होता है । एक नियम यह भी है कि जिन परमाणुओं या स्कधो का परस्पर बंध होता है, वे परस्पर सम्बद्ध रह कर भी अपना-अपना स्वतत्र अस्तित्व कायम रखते हैं । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ दूध और पानी की भांति अथवा रासायनिक प्रतिक्रिया से सम्बद्ध होकर भी अपनी पृथक् सत्ता नही खोता । उसके परमाणु कितने ही रूपान्तरित हो जाएं फिर भी उनका अपना स्वतत्र अस्तित्व कायम रहता है ।

यह तो स्पष्ट है कि पुद्गल द्रव्य सक्रिय है और जो सक्रिय होता है उसका टूटते-फूटते रहना, जुडते-मिलते रहना स्वाभाविक ही है । हां, उसमें कोई-न-कोई कारण निमित्त के रूप में अवश्य होता है; उदाहरणार्थ मिट्टी के अनेक कणों का बन्ध होने पर घड़ा बनता है । इसमे कुम्हार निमित्त है । द्रव्य की अपनी रासायनिक प्रक्रिया भी बंध का कारण बन जाती है । कपूर आदि के सम्मिलन से बनी हुई अमृतधारा और उद्जन (हाइड्रोजन) आदि वातियों (गैसों) के मिलने से बना हुआ जल ऐसी ही प्रक्रियो के प्रतिफल हैं ।

जैनाचार्यों ने बन्ध की प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है । यद्यपि विज्ञान इस विश्लेषण को अपने प्रयोगों द्वारा पूर्णतः सिद्ध नही कर

सका है तथापि इसकी वैज्ञानिकता में कोई संदेह नही है। परमाणु से स्कंध, स्कंध से परमाणु और स्कंध से स्कध किस प्रकार बनते है इस विषय में हम मुख्यतः चार तथ्य पाते हैं—

१. स्कंधों की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी संघात से और कभी भेद-संघात से होती है। स्कंधों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओ का एक स्कंध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कध मे मिल जाना भेद कहलाता है। दो स्कंधों का संघटन या सयोग हो जाना संघात है और इन दोनों प्रक्रियाओ का एक साथ हो जाना भेद-संघात है।

२. परमाणु की उत्पत्ति केवल भेद-प्रक्रिया से ही सभव है।

३. पुद्गल मे पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष नामक दो गुणों के कारण ही यह प्रक्रिया संभव है।

४ बध की प्रक्रिया मे संघात से उत्पन्न स्निग्धता अथवा रूक्षता मे से जो भी गुण अधिक परिमाण मे होता है, नवीन स्कध उसी गुण-रूप मे परिणत होता है। उदाहरण के लिए एक स्कंध पन्द्रह स्निग्धगुणयुक्त स्कंध और तेरह रूक्षगुणयुक्त स्कध से बने तो वह नवीन स्कंध स्निग्ध गुणरूप होगा। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र मे भी हम देखते है कि यदि किसी परमाणु मे से ऋणाणु (इलेक्ट्रान) निकाल लिया जाए तो वह धन-विद्युद् आवेशित (पॉजीटिव्हली चार्ज्ड) और यदि एक ऋणाणु जोड़ दिया जाए तो वह ऋणाणु-विद्युद् आवेशित (निगेटिव्हली चार्ज्ड) हो जाता है।

३. भेद (fission)

स्कंधों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओ का स्कंध से विच्छिन्न होकर अलग हो जाना अन्तरंग और बहिरंग—इन दोनों प्रकार के निमित्तों से स्कधो का अनेक स्कंधों अथवा परमाणुओं के रूप मे विच्छिन्न होना भेद कहलाता है।

भेद के भी दो प्रकार है - १. वैस्रसिक २. प्रायोगिक।

वैस्रसिक भेद—किसी भी पौद्गलिक स्कध का स्वाभाविक विघटन वैस्रसिक भेद कहलाता है। उदाहरणार्थ—बादलों का विघटन। वायु, वर्षा, जल-प्रवाह आदि नैसर्गिक परिबलों द्वारा होने वाला विघटन भी इस कोटि में समाविष्ट है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से रेडियो क्रियात्मक तत्वों मे से विकिरण का उत्सर्जन भी वैस्रसिक भेद का स्पष्ट उदाहरण है।

निमित्त की विविधताओं के कारण भेद के पांच या छह प्रकार होते हैं—

१. उत्कर—फाड़ना। मूंग आदि पदार्थों को दाल के रूप में दो भागों मे फाड़ना या विभाजित करना।

२. चूर्ण—पीसना। गेहूं आदि पदार्थों को पीसकर आटा बनाना।

३. खंड—टूकड़े करना। लोह आदि पदार्थों को तोड़कर टूकड़े करना।

४. प्रतर—तहों या परतों (layers) में विभाजन करना। अबरक आदि पदार्थों की परत उतारना।

५. अनुतटिका—दरार पड़ना। काच दिवार आदि पदार्थों में दरार डालना।

सवार्थसिद्धि के अनुसार भेद के छह प्रकार इस रूप में मिलते हैं—

१. उत्कर—करौत आदि से जो लकडी आदि को चिरा जाता है।

२. चूर्ण गेहू आदि का जो सत्तु (आदि) या कनक आदि बनती है।

३. खण्ड—घट आदि के जो कपाल (यानी ठीकरा या ठीकरी) और शर्करा (कंकरा) आदि टूकड़े होते हैं।

४. चूर्णिका—उड़द या मुंग आदि का जो खण्ड (दाल के रूप मे) किया जाता है।

५. प्रतर—मेघ के जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं।

६. अनुचटण—तपाए हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो स्फुलिंगें निकलते है।

(४) सौक्ष्म्य और (५) स्थौल्य

सूक्ष्मता—सूक्ष्मता का अर्थ है छोटापन। यह दो प्रकार की है। अन्त्य सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता। अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओं मे ही पायी जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-बड़ी वस्तुओं में तुलनात्मक दृष्टि से पायी जाती है।

स्थूलता—स्थूलता का अर्थ बड़ापन है। वह भी दो प्रकार का है: अन्त्य स्थूलता जो महास्कन्ध मे पायी जाती है और आपेक्षिक स्थूलता जो छोटी-बडी वस्तुओं मे तुलनात्मक दृष्टि से पायी जाती है।

दूसरी अपेक्षा से स्थूलता और सूक्ष्मता की परिभाषा इस प्रकार भी की जा सकती है—

जो किसी दूसरे पदार्थ को न रोक सके और न ही स्वयं किसी से रुक सके, अथवा एक-दूसरे मे समा कर रह सके या एक दूसरे-में-से पार हो जाए उसे सूक्ष्म कहते हैं; तथा जो पदार्थ दूसरे को रोके अथवा दूसरे से रुक जाए, एक-दूसरे मे न समा सके न पार हो सके वह स्थूल कहलाता है।

कोई पदार्थ पूर्णतः सूक्ष्म है, कोई कम सूक्ष्म है, कोई पूर्णतः स्थूल है, कोई कम स्थूल है। जो किसी से भी किसी प्रकार भी न रुके और प्रत्येक पदार्थ में समा कर रह सके वह पूर्ण सूक्ष्म है। जो हर पदार्थ से रुक जाए तथा किसी में भी समा कर रह न सके और किसी में-से भी पार न हो सके

सका है तथापि इसकी वैज्ञानिकता में कोई सदेह नहीं है। परमाणु से स्कंध, स्कंध से परमाणु और स्कंध से स्कध किस प्रकार बनते है इस विषय में हम मुख्यतः चार तथ्य पाते हैं—

१. स्कंधों की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी संघात से और कभी भेद-संघात से होती है। स्कधों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओ का एक स्कंध से विच्छिन होकर दूसरे स्कंध में मिल जाना भेद कहलाता है। दो स्कंधों का संघटन या सयोग हो जाना सघात है और इन दोनों प्रक्रियाओं का एक साथ हो जाना भेद-सघात है।

२. परमाणु की उत्पत्ति केवल भेद-प्रक्रिया से ही सभव है।

३. पुद्गल मे पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष नामक दो गुणों के कारण ही यह प्रक्रिया संभव है।

४ बध की प्रक्रिया मे सघात से उत्पन्न स्निग्धता अथवा रूक्षता मे से जो भी गुण अधिक परिमाण मे होता है, नवीन स्कध उसी गुण-रूप मे परिणत होता है। उदाहरण के लिए एक स्कंध पन्द्रह स्निग्धगुणयुक्त स्कध और तेरह रूक्षगुणयुक्त स्कध से बने तो वह नवीन स्कंध स्निग्ध गुणरूप होगा। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र मे भी हम देखते है कि यदि किसी परमाणु मे से ऋणाणु (इलेक्ट्रान) निकाल लिया जाए तो वह धन-विद्युद् आवेशित (पॉजीटिव्हली चार्ज्ड) और यदि एक ऋणाणु जोड़ दिया जाए तो वह ऋणाणु-विद्युद् आवेशित (निगेटिव्हली चार्ज्ड) हो जाता है।

३. भेद (fission)

स्कंधों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओं का स्कध से विच्छिन्न होकर अलग हो जाना अन्तरग और बहिरंग—इन दोनो प्रकार के निमित्तों से स्कधों का अनेक स्कंधों अथवा परमाणुओं के रूप में विच्छन्न होना भेद कहलाता है।

भेद के भी दो प्रकार है - १. वैस्रसिक २. प्रायोगिक।

वैस्रसिक भेद—किसी भी पौद्गलिक स्कंध का स्वाभाविक विघटन वैस्रसिक भेद कहलाता है। उदाहरणार्थ—बादलों का विघटन। वायु, वर्षा, जल-प्रवाह आदि नैसर्गिक परिबलों द्वारा होने वाला विघटन भी इस कोटि में समाविष्ट है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से रेडियो क्रियात्मक तत्त्वों में से विकिरण का उत्सर्जन भी वैस्रसिक भेद का स्पष्ट उदाहरण है।

निमित्त की विविधताओ के कारण भेद के पांच या छह प्रकार होते हैं—

१. उत्कर—फाडना। मूंग आदि पदार्थों को दाल के रूप में दो भागों में फाड़ना या विभाजित करना।

२. **चूर्ण**—पीसना। गेहूं आदि पदार्थों को पीसकर आटा बनाना।

३. **खंड**—टूकड़े करना। लोह आदि पदार्थों को तोड़कर टूकड़े करना।

४. **प्रतर**—तहों या परतों (layers) में विभाजन करना। अबरक आदि पदार्थों की परत उतारना।

५. **अनुतटिका**—दरार पड़ना। काच दिवार आदि पदार्थों में दरार डालना।

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार भेद के छह प्रकार इस रूप में मिलते हैं—

१. **उत्कर**—करौत आदि से जो लकड़ी आदि को चिरा जाता है।

२. **चूर्ण**—गेहूं आदि का जो सत्तु (आदि) या कनक आदि बनती है।

३. **खण्ड**—घट आदि के जो कपाल (यानी ठीकरा या ठीकरी) और शर्करा (कंकरा) आदि टूकड़े होते हैं।

४. **चूर्णिका**—उड़द या मुंग आदि का जो खण्ड (दाल के रूप में) किया जाता है।

५. **प्रतर**—मेघ के जो अलग-अलग पटल आदि होते है।

६. **अनुचटण**—तपाए हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो स्फुलिंगें निकलते है।

(४) सौक्ष्म्य और (५) स्थौल्य

सूक्ष्मता—सूक्ष्मता का अर्थ है छोटापन। यह दो प्रकार की है। अन्त्य सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता। अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओं में ही पायी जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-बड़ी वस्तुओं मे तुलनात्मक दृष्टि से पायी जाती है।

स्थूलता—स्थूलता का अर्थ बडापन है। वह भी दो प्रकार का है: अन्त्य स्थूलता जो महास्कन्ध मे पायी जाती है और आपेक्षिक स्थूलता जो छोटी-बडी वस्तुओ मे तुलनात्मक दृष्टि से पायी जाती है।

दूसरी अपेक्षा से स्थूलता और सूक्ष्मता की परिभाषा इस प्रकार भी की जा सकती है—

जो किसी दूसरे पदार्थ को न रोक सके और न ही स्वयं किसी से रुक सके, अथवा एक-दूसरे मे समा कर रह सके या एक दूसरे-में-से पार हो जाए उसे सूक्ष्म कहते हैं; तथा जो पदार्थ दूसरे को रोके अथवा दूसरे से रुक जाए, एक-दूसरे में न समा सके न पार हो सके वह स्थूल कहलाता है।

कोई पदार्थ पूर्णतः सूक्ष्म है, कोई कम सूक्ष्म है, कोई पूर्णतः स्थूल है, कोई कम स्थूल है। जो किसी से भी किसी प्रकार भी न रुके और प्रत्येक पदार्थ में समा कर रह सके वह पूर्ण सूक्ष्म है। जो हर पदार्थ से रुक जाए तथा किसी में भी समा कर रह न सके और किसी में-से भी पार न हो सके

वह पूर्ण स्थूल है। जो किसी से रुक जाए और किसी से नहीं तथा किसी में समा जाए और किसी में नहीं, अथवा किसी-में-से पार हो जाए और किसी-में से नहीं, वह कम सूक्ष्म तथा कम स्थूल है अर्थात् उसमें सूक्ष्मता तथा स्थूलता दोनों मिले हुए हैं।

इस प्रकार उत्कृष्ट स्थूल का नाम है 'स्थूल-स्थूल', मध्यम स्थूल का नाम 'स्थूल' और जघन्य स्थूल का नाम है 'स्थूल-सूक्ष्म' (पहले स्थूल, फिर सूक्ष्म)। इसी प्रकार उत्कृष्ट सूक्ष्म का नाम है 'सूक्ष्म-सूक्ष्म', मध्यम सूक्ष्म का नाम है सूक्ष्म और जघन्य सूक्ष्म का नाम है 'सूक्ष्म-स्थूल' (पहले सूक्ष्म, फिर स्थूल)। इन्हीं नामों को उत्कृष्ट स्थूलता से क्रमपूर्वक घटाते-घटाते उत्कृष्ट सूक्ष्मता-पर्यन्त यदि गिना जाए तो यों होगा—उत्कृष्ट स्थूल, मध्यम स्थूल, जघन्य स्थूल, जघन्य सूक्ष्म, मध्यम सूक्ष्म, उत्कृष्ट सूक्ष्म, या स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म।

वह पदार्थ जो किसी दूसरे में न तो समा सकता है, न किसी दूसरे में-से आर-पार हो सकता है, न स्वयं अपनी स्थिति तथा शक्ल बदल सकता है, जहां रख दिया जाए वहां ही ज्यों-का त्यों पड़ा रहता है, वह 'स्थूल-स्थूल' पुद्गल स्कन्ध है। इस प्रकार पृथ्वी अर्थात् सभी छोटी या बड़ी ठोस वस्तुए इस श्रेणी मे आ जाती है। वे पदार्थ जो सबमें तो नही पर किसी पदार्थ मे समा सके और किसी पदार्थ मे आर-पार हो सके, स्वय अपनी स्थिति तथा शक्ल भी बदल सके, जहां उसे रखा जाए वहां ही ज्यों-की-त्यों पड़ा रहता है, वह 'स्थूल-स्थूल' पुद्गल स्कन्ध है। इस प्रकार पृथ्वी अर्थात् सभी छोटी या बडी ठोस वस्तुए इस श्रेणी मे आ जाती है। वे पदार्थ जो सबमें तो नही पर किसी पदार्थ मे समा सकें और किसी पदार्थ मे आर-पार हो सके, स्वय अपनी स्थिति तथा शक्ल भी बदल सके जहां उसे रखा जाए वहा ही ज्यों-की-त्यो पड़े न रह सके, जिन्हे टिकाने के लिए बहुत कुछ साधनो की सहायता लेनी पडे, तथा जिन्हे तोडने पर पुन. स्वय मिल जाएं, वे सब 'स्थूल' पुद्गल स्कन्ध है। इस प्रकार जल तथा वायु तत्त्व इस श्रेणी में आ जाते हैं। वह पदार्थ जो कुछ अन्य पदार्थों मे से आर-पार हो सके, तथा जिसे किसी प्रकार भी पकड कर रखा न जा सके, वह स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ है, जैसे प्रकाश; क्योंकि यह शीशे मे-से आर-पार हो जाता है। स्पर्शनेन्द्रिय का जो विषय गर्मी-सर्दी, रसनेन्द्रिय का जो विषय स्वाद, घ्राणेन्द्रिय का जो विषय गन्ध और कर्णेन्द्रिय का जो विषय शब्द, ये चारों प्रकार के पदार्थ 'सूक्ष्म-स्थूल' है।

यहां तक के सर्व पदार्थ तथा विषय तो हम सबको प्रत्यक्ष है; परन्तु इससे आगे की श्रेणी मे स्थूलता बिलकुल नही रह जाती और इसलिए वे हमारी इन्द्रियों के विषय भी नही बन सकते। वे हर पदार्थ में-से आर-पार

भी हो जाते है। ऐसे पदार्थ 'सूक्ष्म' कहलाते हैं। आज के भौतिक विज्ञान द्वारा खोजने पर चुम्बक की किरणें तथा रेडियो की तरगें इस श्रेणी में ग्रहण की जा सकती है; क्योंकि ये हर पदार्थ मे-से आर-पार होने की शक्ति रखती है, और इन्द्रियो द्वारा किसी प्रकार भी इनका ग्रहण नहीं किया जा सकता; परन्तु आगम के अनुसार कार्मण वर्गणाएं इस कोटि मे आती हैं। कार्मण वर्गणा एक प्रकार का सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध है, जो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। स्वय परमाणु 'सूक्ष्म-सूक्ष्म' पुद्गल है, जिससे सूक्ष्म अन्य कोई पुद्गल संभव नही।

(६) संस्थान (आकार)

सस्थान का अर्थ है आकार—रचना-विशेष। सस्थान भी पुद्गल का एक महत्त्वपूर्ण पर्याय है जिसके कारण त्रि-आयामात्मक आकाश मे पुद्गल अवगाहन कर सकता है। सस्थान अनन्त प्रकार के हो सकते हैं। मोटे तौर पर उसे दो प्रकार मे बांटा जा सकता है—इत्थं सस्थान, अनित्थं संस्थान। जिसके विषय मे 'यह संस्थान इस प्रकार का है' ऐसा निर्देश किया जा सके वह 'इत्थं' लक्षण सस्थान है। उसके मुख्य पाच प्रकार है—१. वृत्त—गोलाकार २. त्रिकोणाकार ३. चतुष्कोण ४. आयत ५. परिमण्डल—वलयाकार।

मेघ आदि के आकार जो कि अनेक प्रकार के हैं और जिनके विषय में 'यह इस प्रकार का है।' ऐसा नही कहा जा सकता, वह अनित्थं लक्षण संस्थान है।

(७) प्रकाश और (८) अंधकार

प्रकाश और अन्धकार—दोनों ही पुद्गल के ही परिणमन है। प्रकाश पुद्गल की पर्याय है जिसके निमित्त से प्राणी देख सकते है। अंधकार अदृश्यता का कारण है और यह भी पुद्गल की ही पर्याय है। जैन दर्शन ने अधकार को प्रकाश का केवल अभाव नही माना है।

प्रकाश का वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार है—वह चाहे सूर्य का हो, चाहे दीपक का, निरन्तर गतिशील है। वैज्ञानिकों ने लोक (ब्रह्माण्ड) में घूमने वाले आकाशीय पिण्डों की गति, दूरी आदि को मापने के लिए प्रकाश-किरण को ही अपना माप-दण्ड मान रखा है; क्योंकि उसकी गति सदा समान है। प्रकाश में पहले भार नही माना गया था, लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि वह एक शक्ति का भेद होते हुए भी भारवान है। वैज्ञानिको ने यह भी पता लगाया है कि प्रकाश विद्युत-चुम्बकीय तत्त्व है। वह एक वर्गमील क्षेत्र पर प्रति मिनिट आधी छटाक मात्रा में सूर्य से गिरता है।

ताप

ताप को हम उष्णता कह कर समझ सकते हैं। इसे पुद्गल के उष्ण स्पर्श गुण का पर्याय कहा जाना चाहिए; तभी ताप का विवेचन पूर्णतः वैज्ञानिक दृष्टि से होगा।

परमाणु में धनाणु और ऋणाणु निरन्तर गतिशील रहते है और इसी तरह अणु में स्वयं परमाणु और अणु-गुच्छकों में अणु निरन्तर गतिशील रहने है। यही आंतरिक गति जब बहुत बढ जाती है और सूक्ष्म कण परस्पर टकराते हुए इधर-उधर दौड़ने लगते हैं तब वे ताप के रूप मे दिखने लगते हैं।

जैन सूत्रकारों ने आतप, उद्योत और प्रभा के रूप में प्रकाश के तीन प्रकार बताए है।

आतप—सूर्य, अग्नि आदि का उष्ण प्रकाश। उसमे ऊर्जा का अधिकांश ताप-किरणों (heat rays) के रूप मे प्रगट होता है।

उद्योत—चन्द्रमा, जुगनु आदि का शीतल प्रकाश। उसमे ऊर्जा का अधिकांश प्रकाश-किरणों (light rays) के रूप मे प्रगट होता है, ताप का पूर्ण अभाव या अल्प मात्रा होती है।

प्रभा—रत्न आदि प्रकाश देनेवालों पदार्थों से निकलनेवाले प्रकाश को प्रभा कहते हैं।

तम (अन्धकार)—जो देखने में बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्धकार है।

कुछ जैनेतर दार्शनिकों ने अन्धकार को कोई वस्तु न मान कर केवल प्रकाश का अभाव माना है पर यह उचित नही। यदि ऐसा मान लिया जाए तो यह भी कहा जा सकेगा कि प्रकाश भी कोई वस्तु नही है, वह तो केवल तम का अभाव है। विज्ञान भी अन्धकार को प्रकाश का अभावरूप न मान कर पृथक् वस्तु मानता है। विज्ञान के अनुसार अन्धकार मे भी उपस्तु किरणों (इंफ्रारेड हीट रेज) का सद्भाव है जिनमे उल्लू और बिल्ली की आखें तथा कुछ विशिष्ट अचित्रीय पट (फोटोग्राफिक प्लेट्स) प्रभावित होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अन्धकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश (विजिबिल लाइट) से पृथक् है।

छाया—प्रकाश पर आवरण पडने पर छाया उत्पन्न होती है। प्रकाश-पथ में अपारदर्शक वस्तुओं (ओपेक बॉडीज) का आ जाना आवरण कहलाता है। छाया को अन्धकार के अन्तर्गत रखा जा सकता है और इस प्रकार वह भी प्रकाश का अभाव रूप नहीं अपितु पुद्गल की पर्याय सिद्ध होती है।

विज्ञान की दृष्टि मे अणुवीक्षों (लेंसों) और दर्पणों के द्वारा निर्मित

प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते है, वास्तविक और अवास्तविक । इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये ऊर्जा/प्रकाश के ही रूपांतर हैं । ऊर्जा ही छाया (शेडो) और वास्तविक (रिअल) एवं अवास्तविक (वर्चुअल) प्रतिबिम्बों (इमेजों) के रूप मे लक्षित होती है । व्यक्तिकरण पट्टियों (इंटरफेरेन्स बैंड्स) पर यदि एक गणनायंत्र (काउंटिंग मशीन) चलाया जाए तो कालीपट्टी (डार्क बैंड) में-से भी प्रकाश-वैद्युत रीति से (फोटो-इलेक्ट्रिकली) ऋणाणुओं (इलेक्ट्रोन्स) का निःसरित होना सिद्ध होता है । तात्पर्य यह कि काली पट्टी केवल प्रकाश के अभावरूप नही, उसमे भी ऊर्जा होती है और इसी कारण उससे विद्युदणु निकलते हैं । काली पट्टियों के रूप मे जो छाया होती है वह भी ऊर्जा का ही रूपातर है ।

वर्गीकरण—प्रकाश-पथ मे दर्पणों (मिरर्स) और अणुवीक्षों (लेंसेस) का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण ही है । इस प्रकार के आवरण से वास्तविक और अवास्तविक प्रतिबिम्ब बनते है । ऐसे प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते है, वर्णादि विकार परिणत और प्रतिबिम्बमात्रात्मक । वर्णादि विकार परिणत छाया मे विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिए जा सकते है, जो विपर्यस्त (इन्वर्टेड) हो जाते है और जिनका परिमाण (साइज़) बदल जाता है । ये प्रतिबिम्ब प्रकाश-रश्मियो के वस्तुत. मिलन से बनते है और प्रकाश को ही पर्याय होने से स्पष्टतः पौद्गलिक है । प्रतिबिम्बमात्रात्मिका छाया के अन्तर्गत विज्ञान के अवास्तविक प्रतिबिम्ब (वर्चुअल इमेजेज) रखे जा सकते है, जिनमे केवल प्रतिबिंब ही रहता है, प्रकाश-रश्मियों के मिलने से ये प्रतिबिम्ब नहीं बनते ।

विद्युत (बिजली)—विद्युत् को हम साधारणतः घन-विद्युत और ऋण-विद्युत् दो रूपों मे देखते है । ये दोनो ही पुद्गल-पर्याएं है और दोनो का वैज्ञानिक मूलाधार एक ही है ।

वैज्ञानिक दृष्टि से विद्युत के दो रूप हैं—धन और ऋण । धन का आधार उद्युत्कण (प्रोटॉन) और ऋण का आधार विद्युत्कण (इलेक्ट्रान) है । इस सिद्धात के अनुसार विश्व का प्रत्येक पदार्थ विद्युन्मय है ।

रेडियो-क्रियातत्त्व (रेडियो एक्टिविटी—जब किसी परमाणु (एटम) से किसी कारणवश उसके मूलभूत कण, विद्युत्कण और उद्युत्कण, पृथक् होते है तब बम फटने की तरह धड़ाके की आवाज होती है, साथ ही उससे एक प्रकार की लौ निकलती है जो प्रकाश की तरह आगे-आगे बढ़ती चली जाती है । इसी के प्रसारण को रेडियो-क्रियातत्त्व या किरण-प्रसारण (रेडिएशन) कहते हैं ।

आधुनिक विज्ञान के १०३ तत्त्व—वैज्ञानिकों ने पुद्गल की कुछ ऐसी पर्यायों का पता लगाया है, जो अपनी एक स्वतन्त्र जाति रखती है और

जिनमें किसी अन्य जाति का मिश्रण स्वभावतः नहीं होता। ऐसी अमिश्रित जाति की पुद्गल-पर्यायों को ही विज्ञान में तत्त्व कहा जाता है।

जैन दर्शन को इस १०३ की संख्या से भी कोई आपत्ति नहीं। ये १०३ तत्त्व केवल पुद्गल द्रव्य की ही पर्याय है।

अणुबम—पहले वैज्ञानिको की मान्यता थी कि उनका तथाकथित परमाणु टूटता नही, विच्छिन्न नहीं होता; लेकिन धीरे-धीरे उनकी यह मान्यता खण्डित होती गयी। धीरे-धीरे यह भी अन्वेषण हुआ कि परमाणुओं के बीजाणुओ की इकाई में अपार शक्ति भरी पडी हैं। उन्होने यह अन्वेषण भी किया कि यूरेनियम नामक तत्त्व के परमाणुओं का विकिरण हो सकता है। इन्ही सब अन्वेषणों के आधार पर अणुबम को जन्म मिला। यूरेनियम तत्त्व, जिसके परमाणुओं के विकिरण से अणु-विस्फोट होता है, पुद्गल-द्रव्य की पर्याय है; अतः यह सब पुद्गल द्रव्य का ही चमत्कार है।

उद्जन बम—उद्जन बम का सिद्धांत अणुबम के सिद्धात से ठीक विपरीत है। अणुबम अणुओं के विभाजन (fission) का परिणाम है जबकि उद्जन बम उनके संयोग (fusion) का। यह भी स्पष्टतः पुद्गल की ही पर्याय है।

रेडियो/टेलीग्राम आदि—रेडियो, टेलीग्राम, ट्रांजिस्टर, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, बेतार-का-तार, ग्रामोफोन और टेप-रिकार्डर आदि अनेक यन्त्र आज विज्ञान के चमत्कार माने जाते हैं; पर इन सबके मूलभूत सिद्धांत पर दृष्टिपात करने से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि यह सब शब्द की अद्भुत शक्ति और तीव्रगति का ही परिणाम है और शब्द पुद्गल की ही पर्याय है। सचमुच पुद्गल के खेल अद्भुत और अनन्त है।

टेलीविजन—जैसे रेडियो यन्त्र-गृहीत शब्दों को विद्युत्प्रवाह से आगे बढा कर सहस्रों मील दूर ज्यों-का त्यों प्रकट करता है, वैसे ही टेलीविजन भी प्रसारणशील प्रतिच्छाया को सहस्रो मील दूर ज्यों-का-त्यों व्यक्त करता है।

जैन शास्त्रों मे बताया गया है कि विश्व के प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ से प्रतिक्षण तदाकार प्रतिच्छाया निकलती रहती है और पदार्थ के चारों ओर आगे बढ कर विश्व भर मे फैल जाती है। जहां उसे प्रभावित करने वाले पदार्थों—दर्पण, जल आदि का योग होता है, वहां वह प्रभावित भी होती है। टेलीविजन का आविष्कार इसी सिद्धांत का उदाहरण है; अतः टेलीविजन का अन्तर्भाव पुद्गल की छाया नामक पर्याय में किया जाना चाहिए।

एक्स-रेज़—एक्स-रेज़ भी विज्ञान-जगत् का एक महत्त्वपूर्ण एवं चमत्कारपूर्ण आविष्कार है। प्रकाश-किरणों की अबाध गति एवं अत्यन्त

सूक्ष्मता ही इस आविष्कार का मूल है; अतः एक्स-रेज् को पुद्‌गल की प्रकाश नामक पर्याय के अन्तर्गत रखना ही उचित है।

अन्य—विश्व में जो कुछ भी छूने, चखने, सूंघने, देखने और सुनने में आता है वह सब पुद्‌गल की पर्याय है। प्राणिमात्र के शरीर, इन्द्रिय और मन आदि पुद्‌गल से ही निर्मित हैं। विश्व का ऐसा कोई भी प्रदेश —कोना नही है, जहा पुद्‌गल द्रव्य किसी-न-किसी पर्याय में विद्यमान न हो।

(ख) पुद्‌गल का सामान्य स्वरूप

(१) पुद्‌गण अस्तिकाय है

प्रत्येक पौद्‌गलिक पदार्थ अनेक अवयवों का समूह है, तथा आकाश-प्रदेशो में फैलना है (अवगाहन करना है।) इसलिए वह अस्तिकाय है। पुद्‌गल स्कन्ध संख्यात अथवा अनन्त प्रदेशों से बनता है; इसका आधार उसकी संरचना है। एक स्वतन्त्र परमाणु के कोई विभाग नही होते।

पुद्‌गल का आकाश-प्रदेशों में अवगाहन—संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेशी स्कंधों द्वारा आकाश का अवगाहन एक प्रदेश से असंख्यात प्रदेश तक होता है। आकाश के अवगाहन में अवगाढ़ आकाश-प्रदेशों की संख्या स्कंध के परमाणुओ की संख्या से अधिक नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ—१०० परमाणुओ से निर्मित स्कंध जिसे सौ-प्रदेशी स्कंध कहा जाता है जघन्यतः एक आकाश-प्रदेश का अवगाहन कर सकता है, पर उत्कृष्टतः १०० आकाश-प्रदेशों मे ही फैल सकता है, उससे अधिक मे नही। अनन्त या अनन्त-अनंत अनन्त प्रदेशी स्कंध की उत्कृष्ट अवगाहना भी असंख्यात प्रदेश ही हो सकती है। अनन्त नहीं। यह इसलिए संभव है कि पुद्‌गल में सपीड्‌यता का अद्‌भुत गुण होता है जिसकी बदौलत असंख्यात प्रदेश जितने आकाश में भी अनन्तानंत परमाणुओं का स्कंध समाविष्ट हो जाता है। जैन दर्शन की यह मान्यता आधुनिक विज्ञान के इस अविष्कार के साथ सुसंगत होती है कि अणु का ९९.९७% संहति (द्रव्यमान या mass) आण्विक नाभिक (nucleus) में समाविष्ट हो जाता है। जबकि नाभिक पूरे अणु का $\frac{१}{१०००००००००००००००००००}$ वें भाग जितना आकाश अवगाहन करता है।

(२) पुद्‌गल सत् और द्रव्य है

वह सत् है, इसलिए वह परिवर्तनशील भी है और नित्य भी है। प्रत्येक क्षण में होनेवाले पुद्‌गल के पर्यायों के परिवर्तन के दो कारण होते

१. किसी भी स्कंध का अविभाज्य एंश 'प्रदेश' कहलाता है। वह एक परमाणु जितना होता है।

है—१. आंतरिक परिणमनशील संरचना; २. अन्य सत् (पदार्थों) के साथ पारस्परिक प्रतिक्रिया। जैन दर्शन इस बात पर बल देता है कि पुद्गल के ये अनन्त पर्याय काल में घटित होने वाली 'घटनाएं' है, किन्तु पुद्गलास्तिकाय द्रव्य है, इसलिए उसका द्रव्यत्व एक 'कालातीत सातत्य' या अविच्छिन्न सत्त्व' है; किन्तु काल मे घटित होने वाली घटना नहीं।

(३) **पुद्गल नित्य, अविनाशी है—तत्त्वान्तरणीय नहीं है**

नित्यत्व एवं अतत्त्वान्तरणीयता (nontransmutability) ये दोनों गुण पुद्गल-सहित सभी द्रव्यों मे होते है। इसलिए पुद्गल के लिए निम्नलिखित विशेषण प्रयुक्त हुए है—काल की अपेक्षा से पुद्गल अतीत में था, वर्तमान मे है और भविष्य मे होगा। दूसरे शब्दो मे कहे तो अनादि अतीत काल में जितने पुद्गल-परमाणु थे, वर्तमान में उतने ही हैं और अनन्त भविष्य में भी उतने ही रहेंगे। पुद्गल-द्रव्य की अपनी मौलिकता यथावत् बनी रहती है। पुद्गल नियत, शाश्वत, ध्रुव, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है। संक्षेप में हम कह सकते है कि सतत परिणमनशील होते हुए भी पुद्गल अपरिवर्तनीय (अतत्त्वान्तरणीय) है।

पुद्गल सदा पुद्गल रहता है, उसका अन्य (द्रव्यों) मे रूपांतरण नही हो सकता। पुद्गल को धर्मास्तिकाय आदि अन्य द्रव्यों में बदला नही जा सकता।

पुद्गल जीव के साथ सम्बद्ध होता है तथा दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते है; फिर भी न कभी पुद्गल जीव के रूप में बदलता है और न जीव कभी पुद्गल के रूप में। अतत्त्वांतरणीयता के गुण के कारण सभी द्रव्य अपने स्वभाव को बनाए रखते है।

(४) **पुद्गल अचेतन सत्ता है, चेतन नहीं**

पुद्गल चैतन्य-रहित अजीव पदार्थ है। वह सदा अजीव रहता है; वह न जानता है, न अनुभव करता है, न चिंतन-मनन करता है। इसलिए किसी भी पौद्गलिक उपकरण द्वारा यह कार्य संभव नहीं है। कम्प्यूटर, कृत्रिम बौद्धिकता आदि के सारे कार्य चेतना-रहित होने से अजीव की कोटि में ही आएंगे। जैन दर्शन ने जीव-निर्जीव या चेतन-अचेतन की भेद-रेखा "चैतन्य" गुण के आधार पर निर्धारित की है। यद्यपि जीव द्वारा ज्ञान आदि कार्य मे पुद्गल की सहायता ली जाती है, पर मूल चैतन्य का अस्तित्व तो जीव का अपना ही होता है।

(५) **पुद्गल परिणामी है अर्थात् परिवर्तनशील है; पुद्गल क्रियावान् है अर्थात् सतत सक्रिय है**

पुद्गल जड़ पदार्थ या अचेतन होते हुए भी सतत सक्रिय बना रहता

है । पुद्गल चाहे परमाणु के रूप में हो या स्कंध-रूप में हो, सतत परिवर्तन-शील रहता है; उसमें कुछ-न-कुछ घटित होता रहता है । पुद्गल की प्रवृत्ति दो रूप में हो सकती है—१. ऐसा परिणमन जिसमें गति का अभाव होता हैं । यह परिणमन स्वाभाविक रूप में सभी पौद्गलिक पदार्थों में घटित होता रहता है, उत्पाद और व्यय का क्रम चलता रहता है । इसलिए पुद्गल-पुद्गल रहते हुए भी उसकी पर्यायों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । पूर्व अवस्था का विनाश और उत्तर अवस्था की उत्पत्ति—यही परिणमन है । २. परमाणु या स्कंधों का आकाश-प्रदेशों में गमन-रूप परिवर्तन "क्रिया" कहलाती है । प्रकम्पन, दोलन आदि भी गति क्रिया के उदाहरण है ।

परिणमन

परिणमन या पर्याय के दो रूप है—(क) अर्थपर्याय, (ख) व्यंजन पर्याय ।

अर्थपर्याय आंतरिक परिवर्तन है जो एक 'समय' की अवधि का होता है, निरन्तर होता रहता है, और इसका प्रवाह अंत-हीन (अनन्त) होता है। जैसे काल-प्रवाह अपने आप में निरंतर और अंत-हीन होता है, वैसे ही अर्थ-पर्याय के रूप में पर्याय का प्रवाह प्रत्येक पुद्गल में घटित होता रहता है । अर्थपर्याय सम्पूर्णतः स्व-सापेक्ष होता है, पर-सापेक्ष नहीं । एक समयवर्ती होने के कारण वह न देखा जा सकता है, न व्यक्त किया जा सकता है ।

व्यंजनपर्याय आंतरिक और बाह्य दोनों रूप में हो सकता है । यह परिवर्तन कुछ अवधि पर्यन्त चलता है यानी इसमें एक समय से अधिक समय लगता है । इसे एक "घटना" के रूप में माना जा सकता है जो आकाश और काल में घटित होती है । पुद्गल की विभिन्न व्यक्त अवस्थाएं व्यजनपर्याय का ही रूप हैं । जैसे—एक 'लेखनी' पुद्गल की व्यंजनपर्याय है। व्यजनपर्याय स्थूल, कालांतरस्थायी और अभिव्यक्त किया जा सकता है। अर्थपर्याय सूक्ष्म, एक समयवर्ती और अव्यक्त होता है ।

क्रिया

गति के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग किया गया है । यद्यपि जीव भी गतिशील द्रव्य है, फिर भी जीव की गति सदा पुद्गल-सापेक्ष होती है । अपने आपमें जीव "अगतिशील" है । इस दृष्टि से छह द्रव्यों में पुद्गल को ही गतिशील या गमन के लिए सक्षम माना जा सकता है । पुद्गल भी गतिशील होते हुए भी सदा गतिमान नहीं रहता । गति के पश्चात् पुद्गल स्थिति या स्थिरावस्था में आता है । गति और स्थिति के रूप में पर्याय बदलता रहता है । दो गतियों के बीच स्थिरावस्था आती रहती है ।

गति स्थानांतर के रूप में या कंपन के रूप में हो सकती है । **भगवती**

सूत्र में गति के कुछ प्रकारों की चर्चा की गई है। गति स्वाभाविक भी हो सकती है, बाह्य निमित्त या बल के प्रभाव से भी हो सकती है। गति प्रकम्पनात्मक भी हो सकती है और चक्रात्मक भी हो सकती है, या दोनों एक साथ भी हो सकती है। परमाणु की गति के सन्दर्भ में इसकी विस्तार से चर्चा की जाएगी।

(६) पुद्गल गलन-मिलन-धर्मा है

छह द्रव्यों में केवल पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो गलन-मिलन-धर्मा है। एक पुद्गल दूसरे पुद्गल के साथ मिलकर नए पुद्गल का निर्माण कर सकता है; इसे पूरण [fusion] कहा जाता है तथा एक पुद्गल-स्कंध टूट कर या विघटित होकर अन्य पुद्गल-स्कंधों मे बदल सकता है। विघटन की इस क्रिया को गलन (fission) कहा जाता है। 'बन्ध' और 'भेद' जिनकी चर्चा ऊपर की गई है क्रमशः पूरण और गलन धर्म का ही परिणाम है। बन्ध या भेद की प्रक्रिया ही पुद्गल की शक्ति या ऊर्जा की उत्पत्ति में निमित्त बनती है।

आधुनिक विज्ञान में अणुबम और हाइड्रोजन बम क्रमशः फिशन और फ्यूज़न की प्रक्रियाओं द्वारा जनित आणविक ऊर्जा द्वारा निर्मित होते है। जैन दर्शन के द्वारा प्रतिपादित पुद्गल के गलन-मिलन धर्मों के ये स्पष्ट उदाहरण हैं। अणुबम के निर्माण के लिए यूरेनियम-२३५ नामक धातु के अणु का विखंडन किया जाता है। जब यह प्रक्रिया घटित होती है, तो ऊर्जा का विमोचन होता है जिसकी मात्रा अत्यधिक होती है। हाइड्रोजन बम के निर्माण में हाइड्रोजन के अणुओं का सघटन किया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप अत्यधिक मात्रा मे ऊर्जा का विमोचन होता है। सामान्य जीवन मे कोयले को जलाकर ताप प्राप्त करने की प्रक्रिया मे भी कोयले के कार्बन—अणु हवा के ऑक्सीजन-अणु के साथ संयोजित होते है और साथ ही ऊर्जा का विमोचन होता है जो ताप या प्रकाश के रूप में होती है।

यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन और विज्ञान दोनों एक ही तथ्य का निरूपण करते है—दृश्य जगत् मे पुद्गल का समस्त रूपातरण उसके गलन-मिलन धर्म के कारण ही हो रहा है। यह गलन-मिलन की प्रक्रिया स्वाभाविक या प्रयोग-जन्य दोनों रूप मे संभव है। एक पौद्गलिक स्कंध जो परमाणुओं के संयोग से निर्मित है दूसरे पौद्गलिक स्कंध के रूप में परिवर्तित हो सकता है। यहां तक कि जिसे विज्ञान ने मौलिक तत्त्व (element) माना है, वे भी एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते है या किए जा सकते हैं। जैसे—रेडियो-क्रिया के परिणाम-स्वरूप यूरेनियम [जो एक मौलिक तत्त्व है] स्वतः सीसे के रूप में परिवर्तित हो जाता है। कृत्रिम प्रयोगों के द्वारा पारे

को सोने में बदला जा सकता है ।[1] पुद्गल में यदि गलन धर्म या वियोजक शक्ति का अभाव होता, तो सब परमाणुओं का एक पिंड बन जाता और यदि मिलन धर्म या संयोजक शक्ति का अभाव होता, तो एक-एक परमाणु अलग-अलग रहकर कुछ नहीं कर पाते । इस प्रकार के गलन-मिलन धर्म की की विशेषता से ही समस्त पौद्गलिक जगत् के परिवर्तन हमारे सामने आते हैं ।

विभिन्न परमाणुओं के संयोग [मिलन] से और विखण्डन [गलन] से इस प्रकार स्कंधों का हो सकता है—

(क) दो परमाणुओं के संयोग से दो परमाणुवाले एक स्कंध का निर्माण होगा, इसे द्वि-प्रदेशी स्कंध कहा जाता है । द्वि-प्रदेशी स्कंध के विखंडन से दो परमाणु बनेंगे ।

(ख) तीन परमाणुओं के संयोग से—(i) त्रि-प्रदेशी स्कंध बनेगा
अथवा —(ii) द्वि-प्रदेशी स्कंध+एक परमाणु

यह द्विप्रदेशी स्कंध तीन प्रकार से संभव हो सकता है—जैसे यदि तीन परमाणु अ, ब, स है, तो

एक विकल्प—अब+स
दूसरा विकल्प—अस+ब

---

१. विज्ञान के अनुसार संसार में मूल तत्त्व ९२ हैं । हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक इन ९२ तत्त्वों में सोना, चांदी, लोहा, पारा आदि सभी तत्त्वों का समावेश होता है । इनके अणुओं की संरचना भिन्न-भिन्न होने से इनके स्वरूप एवं गुणधर्मों में भिन्नता रहती है । जैसे हाइड्रोजन का अणु-भार केवल एक (इकाई) होता है, तो यूरेनियम का अणु-भार २३५ होता है । यह भार अणु के केन्द्र में रहे संहतिवाले लघुकणों के कारण होता है । परिधि पर घूमने वाले लघुकणों में भार नगण्य होता है । केन्द्रक कणों में प्रोटोन एवं न्यूट्रोन होते हैं तथा परिधि के कण इलेक्ट्रोन कहलाते हैं । पारे का अणु-भार २०० है । उसमें एक प्रोटोन और मिलाया जाय तो उसका भार २०१ हो जाएगा । ऐसा करने पर एक अल्फा कण का विकिरण उस अणु से बाहर निकल जाता है, जिसका भार ४ होता है । ऐसा होने से पीछे अणुभार १९७ बचता है, जो सोने के एक अणु का भार है । अर्थात् पारा सोने में बदल गया ।

प्राचीन युग में भी पारे से सोने बनाने की विधियां थीं, ऐसा उल्लेख मिलता है । यद्यपि इस विधि का पूरा ज्ञान अब उपलब्ध नहीं है, फिर भी यह स्पष्ट है कि आणविक विस्फोट की स्थिति पैदा करने से यह हो सकता है ।

तीसरा विकल्प—बस+अ

इस प्रकार कुल चार संभावनाएं हैं।

इसी प्रकार आगे के विकल्प बनाए जा सकते है।

परमाणु-मिलन (fusion) **के नियम**

जैन दर्शन ने परमाणुओं के 'संघात' (मिलन) के लिए उनके स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श को कारण माना है। स्निग्ध-रूक्ष स्पर्शों की तुलना आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित धन विद्युत् (positive electricity) और ऋण-विद्युत् (negative electricity) आवेश के साथ की जा सकती है, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार विद्युत् या बिजली (lightening) की उत्पत्ति मे स्निग्ध-रूक्ष गुण ही निमित्त बनते हैं। इसके लिए सूत्र है—"स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युत्"।

प्रत्येक पुद्गल-परमाणु और पुद्गल-स्कंध मे स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श अवश्य ही होता है। इन स्पर्शों की मात्रा जिसे 'गुण' (Unit) कहा जाता है के आधार पर यह निर्धारित होता है कि दो पुद्गलो का संघात हो सकता है या नही। इनकी न्यूनतम मात्रा एक गुण होती है, जिससे कम मात्रा नही होती। यह एक प्रकार से 'क्वांटम' यानी एक 'पूर्ण राशि' या' पेकेट' है जो अपूर्णांक या भिन्न (fraction) द्वारा अभिव्यक्त नही हो सकता। इसका तात्पर्य हुआ कि कोई परमाणु एक गुण स्निग्ध या एक गुण रूक्ष हो सकता है, पर आधा (½) या पाव (¼) नहीं। इसी तरह दो, तीन 'गुण' वाला हो सकता है पर १½, २½ आदि नहीं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार 'क्वांटम सिद्धांत' द्वारा भी यही प्रतिपादन हुआ है।

ऊर्जा का एक न्यूनतम अश 'क्वांटम' कहलाता है। विज्ञान के अनुसार 1h, 2h आदि के रूप मे यह ऊर्जा हो सकती है, जहां h को Planck's Constant कहा जाता है।[1]

जैन दर्शन के अनुसार पुद्गलों के सयोग के नियम इस प्रकार हैं—

१. एक गुण स्निग्ध या रूक्ष परमाणु का सयोग नहीं होता।

२. विरोधी स्पर्श वाले परमाणु/स्कध जिनमे दो या दो गुण से अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व होता है संयुक्त हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—२ गुण स्निग्ध+२ गुण रूक्ष पुद्गल मिल सकते है।

३. समान स्पर्श वाले परमाणु/स्कध जिनमे दो गुण या दो गुण से अधिक स्निग्धत्व (या रूक्षत्व) हो तथा इनके गुणों में दो का अन्तर हो, तो ये परमाणु/स्कंध परस्पर संयुक्त हो सकते है।

१. 'h' का मूल्य है—६.६२५१७ × $१०^{-३४}$ जूल-सैकिण्ड।

उदाहरणार्थ—२ गुण स्निग्ध+४ गुण स्निग्ध पुद्गल मिल सकते है। पर २ गुण स्निग्ध+३ गुण स्निग्ध पुद्गल नहीं मिल सकते।

इन नियमों के आधार पर स्कधों का निर्माण कैसे होगा, यह निम्न कोष्ठक से स्पष्ट होता है—

गुण	सदृश	विसदृश
१+१	नहीं	नहीं
१+२	,,	,,
१+३	,,	,,
१+४ या ४ से अधिक	,,	,,
x+x (x=१ से अधिक)	,,	हां
x+(x+१)	,,	,,
x+(x+२)	हां	,,
x+(x+३) या अधिक	,,	,,

७. पुद्गल संख्या की दृष्टि से अनन्त है; क्षेत्र की दृष्टि से सम्पूर्ण लोकाकाश में पुद्गल व्याप्त है

पुद्गल के दोनों रूप—परमाणु और स्कंध संख्या की दृष्टि से अनन्त है। स्वतन्त्र परमाणुओं की संख्या सदा अनन्त रहती है। उनमें से अनन्त परमाणु प्रति समय स्कधों के रूप में परिणत होते रहते है तथा स्कंधों से निकलकर अनन्त परमाणु स्वतंत्र रूप धारण करते रहते है। गलन-मिलन स्वभाव वाले पुद्गल-जगत् में यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है, फिर भी परमाणुओं की संख्या अनन्त ही बनी रहती है; स्वतंत्र परमाणु की संख्या में वृद्धि या हानि भी हो सकती है, पर सभी पुद्गल स्कन्धों के साथ रहे परमाणुओ और स्वतंत्र परमाणुओं की कुल सख्या अचल (constant) बनी रहती है।

स्कंधों मे भी द्वि-प्रदेशी स्कंध (यानी दो परमाणुओं से निर्मित) से लेकर अनन्त-प्रदेशी स्कंध (यानी अनन्त परमाणुओं से निर्मित) तक सभी प्रकार के स्कंधों में प्रत्येक प्रकार के स्कंधों की सख्या अनन्त है तथा कुल पुद्गल-स्कन्धों की संख्या भी अनन्त है; पर ये संख्याएं अचल नही हैं; इनमें हानि या वृद्धि हो सकती है। हानि-वृद्धि के बावजूद भी प्रत्येक प्रकार के स्कंधों की संख्या अनन्त से कम नहीं होती।

गुणों (मात्रा) की तरतमता के आधार पर भी परमाणु और स्कंधों के अनन्त-अनन्त प्रकार हो जाते हैं। जैसे—एक गुण (unit) काले परमाणु अनन्त हैं यावत् अनन्त गुण काले परमाणु भी अनन्त है। इसी प्रकार दो गुण काले, तीन गुण काले आदि परमाणु भी अनन्त-अनन्त हैं। इसी प्रकार एक

गुण स्निग्ध, दो गुण स्निग्ध आदि भी समझने चाहिए। जैसे पूर्व में चर्चा हो चुकी है, कालांतर के साथ परमाणु के स्पर्श आदि गुण (qualities) बदल सकते हैं तथा इनकी मात्रा (units) में भी न्यूनाधिकता होती रहती है।

जैसे स्वतत्र परमाणुओं में गुण एवं गुणों की मात्रा में परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार स्कंधों में गुण एवं गुणों की मात्रा में भी होता रहता हैं। इन सारे परिवर्तनों के परिणामस्वरूप पुद्गल-जगत् में पर्यायों का अकल्पित परिवर्तन चलता रहता है। इस निरन्तर चलने वाले पौद्गलिक परिणमनों के बावजूद भी पुद्गल की द्रव्यात्मक शाश्वतता बनी रहती है। इसे ही जैन दर्शन मे "परिणामी-नित्यत्व-वाद" की संज्ञा दी जाती है। कुल मिलाकर समग्र पुद्गल-राशि—परमाणुओ की समग्र संख्या—सदा शाश्वत बनी रहती है।

पूरा लोक पुद्गल से भरा हुआ

पुद्गल अनन्त हैं—परमाणु और स्कंध दोनों अनन्त है। क्षेत्र की दृष्टि से ये अनन्त पुद्गल सम्पूर्ण लोक-आकाश मे फैले हुए है। एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश का अवगाहन करता है, अनन्त परमाणु भी एक प्रदेश में समाविष्ट हो सकते है; स्कध भी एक प्रदेश से लेकर असख्यात प्रदेशों तक अवगाहन कर सकते हैं। जिस आकाश-प्रदेशों पर एक स्कंध है, उन्हीं आकाश-प्रदेशो पर अन्य अनन्त स्कधो का समावेश भी हो सकता है। उत्कृष्टतः एक ही स्कन्ध पूरे लोक आकाश का अवगाहन भी कर सकता है। पुद्गल के परिणमन की विशेषता के कारण असंख्यात प्रदेशात्मक लोक मे अनन्त पुद्गलों का समावेश हो जाता है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि सम्पूर्ण लोक मे कही पर भी खाली स्थान नही है अर्थात् जहा पुद्गल का अस्तित्व न हो, ऐसा एक आकाश-प्रदेश भी कहीं नही मिलता। इस प्रकार पूर्ण आकाश मे कही पर भी शून्यावकाश (Vacuum) नहीं है।

८. पुद्गल जीव को प्रभावित करता है और उससे प्रभावित भी होता है। दोनों में अन्तःक्रिया सम्भव है।

पुद्गल द्रव्य मे ग्रहण नाम का एक गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य द्रव्यो में किसी दूसरे द्रव्य के साथ मिलने की शक्ति नहीं है। एक पुद्गल अन्य पुद्गल के साथ मिलने की क्षमता तो रखता ही है, पर इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा भी उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वयं जाकर जीव से नहीं चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर उसके साथ सलग्न हो जाता है। जीव-सम्बद्ध या जीव के साथ बद्ध पुद्गल का जीव पर बहुविध असर होता है। जीव पर पुद्गल का प्रभाव और

पुद्गल पर जीव का प्रभाव—यह अन्योन्य प्रभाव या अन्तःक्रिया (interaction) ही समस्त जीव-संसार के क्रियाकलापों का मूल आधार है। जीव द्वारा होने वाले पुद्गलों का ग्रहण तीन प्रकार से सम्भव है—

१. कर्म—अति सूक्ष्म पुद्गलों का प्रत्येक संसारी जीव के साथ सतत सम्बन्ध एवं प्रतिक्रियाएं होती रहती हैं। इन पुद्गलों को ही 'कर्म' (या कर्म-पुद्गल) कहा जाता है। जीव के साथ बन्धने के पश्चात् कर्म पुद्गलों का परिणमन सतत चलता रहता है और जीव को प्रभावित करता रहता है।[1]

(२) शरीर--स्थूल पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन के द्वारा स्थूल शरीर और सूक्ष्म पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन से सूक्ष्म शरीर का निर्माण जीव करता है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर का निर्माण इस प्रक्रिया से होता है।

(३) उपग्रह—श्वासोच्छ्वास, आहार, भाषा और मन के रूप में जीवन की समस्त प्रवृत्तियों में पुद्गलों का ग्रहण और परिणमन अनिवार्य है।

इस प्रकार जगत् जीव और पुद्गलों के विभिन्न संयोगों का परिणाम है। दृश्य जगत् में विद्यमान सारे सजीव निर्जीव पदार्थ या तो जीवत्-शरीर (सचेतन) है या जीव-मुक्त (अचेतन) शरीर है।

यद्यपि ग्रहण-गुण के कारण जीव द्वारा पुद्गलों का ग्रहण सम्भव है, फिर भी जीव सभी पुद्गलों को ग्रहण करने में समक्ष नहीं है। एक स्वतंत्र परमाणु से लेकर असख्यात-प्रदेशी स्कंध तक के पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण नहीं किए जा सकते। केवल अनन्त-अनन्त-प्रदेशी स्कंधों को ही जीव ग्रहण कर सकता है।

पुद्गल केवल सांसारिक जीवों के साथ बन्ध सकता है, मुक्त जीवों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार मुक्त जीव पुद्गल के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होते हैं तथा परमाणु असंख्यात-प्रदेशी स्कंध जीव के प्रभाव से मुक्त रहते हैं।

पुद्गल का वर्गीकरण

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर पुद्गल का वर्गीकरण विभिन्न रूप से किया जा सकता है। सभी पुद्गल 'पुद्गल' है, इस दृष्टि से पुद्गल का एक ही प्रकार है। यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से है। परमाणु और

१. कर्म-सिद्धांत के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है—जैन दर्शन और संस्कृति, पृ० १२९-१५१।

स्कंध—ये दो प्रकार के पुद्गल हो सकते हैं। वर्गणाओं के आधार पर पुद्गल के आठ प्रकार किए जा सकते है—१. औदारिक, २. वैक्रिय, ३. आहारक, ४. तैजस, ५. कार्मण, ६. श्वासोच्छ्वास, ७. भाषा ८. मन। इन आठ वर्गणाओं के विषय में हम विस्तृत चर्चा कर चुके हैं।[1]

आधुनिक विज्ञान भौतिक वास्तविकता को मुख्यतः दो भागों में विभाजित करता है—१. पदार्थ, २. ऊर्जा। इनका भी पारस्परिक रूपांतरण अब संभव हो गया है, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

अवस्था के आधार पर पदार्थ तीन प्रकार के माने जाते है—१ ठोस, २. तरल, ३. वायु। तापमान के आधार पर अवस्थाओं का रूपांतरण संभव है।

आधुनिक विज्ञान मे मूल तत्त्वों (elements) के आधार पर विश्व के सभी भौतिक पदार्थों को १०३ प्रकारों मे बाटा जाता है। पर जैसे हम चर्चा कर चुके हैं परिवर्तन के द्वारा मूल तत्त्वों में भी रूपांतरण किया जा सकता है।

जैन दर्शन का वर्गीकरण अधिक मौलिक प्रतीत होता है, क्योंकि कृत्रिम साधनों द्वारा एक का दूसरे में रूपांतरण संभव नहीं है। परमाणुओं का स्कन्ध मे या स्कन्ध का परमाणुओं में अथवा आठ वर्गणाओं का पारस्परिक रूपांतरण केवल वैस्रसिक रूप से ही हो सकता है; कृत्रिम (प्रायोगिक) साधनों द्वारा नहीं।

अभ्यास

१. पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर उसके स्वरूप को बताते हुए पुद्गल के मुख्य गुणों के स्वरूप को स्पष्ट करें।
२. जैन दर्शन ने शब्द, प्रकाश आदि विशेष पर्यायों की जो व्याख्या प्रस्तुत की है उस पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए उसकी वैज्ञानिकता की मीमासा करे।
३. पुद्गल के सामान्य स्वरूप को समझने के लिए मुख्य आधार-बिंदु कौन-कौन-से है? इनमे से किन्हीं दो को विस्तार से समझाइए।

---

१. जैन दर्शन और संस्कृति, पृ० ४७-४९।

९. जैन दर्शन और विज्ञान में परमाणु

(१) जैन परमाणुवाद

जैन दर्शन में प्रतिपादित परमाणुवाद प्राचीनता और मौलिकता दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जैन परमाणुवाद का सम्बन्ध भगवान पार्श्व (ई० पू० ८५०) से माना जाय तो इससे अधिक प्राचीन परमाणुवाद का कोई रूप उपलब्ध नही होता। भगवान महावीर (ई० पू० ५९९) से माना जाय तो भी वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद और ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रिट्स से जैन परमाणुवाद प्राचीनतर सिद्ध होता है। इतना ही नही. जिस विस्तार के साथ परमाणु के स्वरूप, गुणधर्म आदि पर जैन दर्शन में प्रकाश डाला गया है, उतना कणादीय या डेमोक्रिटस के परमाणुवाद मे उपलब्ध नही होता। कुछ विषय तो ऐसे है जहां तक आधुनिक विज्ञान भी अभी नही पहुच सका है। हम यहां जैन परमाणुवाद के मुख्य सिद्धातों की चर्चा करेगे तथा यथासंभव आधुनिक विज्ञान के सिद्धांतों के आलोक मे उनकी समीक्षा भी करेगे।

चार प्रकार के परमाणु

भगवती सूत्र में परमाणु चार प्रकार का कहा गया है—

१. द्रव्य परमाणु—पुद्गल द्रव्य का अविभाज्य अंश। इसे हम भौतिक विश्व की प्राथमिक इकाई (Primary unit of the physical world) के रूप में कह सकते हैं। हमारे प्रस्तुत विषय का संबंध इसी द्रव्य परमाणु से है।

२. क्षेत्र परमाणु—आकाश का अविभाज्य अंश या प्रदेश। इसे आकाश-द्रव्य की प्राथमिक इकाई (Primary unit of space or space-point) कहा जा सकता है।

३. काल परमाणु—काल का अविभाज्य अंश या 'समय'। यह काल की प्राथमिक इकाई (Primary unit of time) है।

४. भाव परमाणु—स्पर्श आदि गुणो की अविभाज्य मात्रा या क्वांटम (अविभाज्य राशि) यह भी पौद्गलिक गुणो की प्राथमिक इकाई है। गुणों के तारतम्य की अनन्तता के कारण ये अनन्त होते हैं।

परमाणु की परिभाषा

परमाणु को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है।

१. परमाणु समस्त भौतिक अस्तित्व का मूल आधार है—जिसे अन्तिम उपादान (uliimate building block) कहा जा सकता है।

२. अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल-खण्ड को परमाणु कहते हैं। परम+अणु=परमाणु का तात्पर्य है—वस्तु का अन्तिम अविभाज्य अंश। वह दो प्रकार का है—निश्चय-परमाणु (absolute ultimate atom) और व्यवहार परमाणु (empirical atom)। वास्तविक सूक्ष्मतम परमाणु निश्चय-परमाणु है; व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्मतम परमाणुओं का समुदय है। आधुनिक विज्ञान जिसे अणु (atom) की संज्ञा देता है, वह विभाज्य है; अतः उसे केवल व्यावहारिक परमाणु की कोटि मे रखा जा सकता है। व्यावहारिक परमाणु साधारण दृष्टि से अग्राह्य, अछेद्य, अभेद्य आदि रूप है, अतः साधारण शक्ति या बल (force) या अस्त्र-शस्त्र से वह तोड़ा नही जा सकता। उसकी परिणति सूक्ष्म होती है। जो नैश्चयिक परमाणु है, वह इन्द्रियातीत ज्ञान का ही विषय बन सकता है, इन्द्रिय-ज्ञान का नही।

३. परमाणु को एक विशुद्ध ज्यामितिक बिन्दु के रूप मे माना जा सकता है, क्योंकि वह अनर्ध (जिसका कोई मध्य-बिन्दु न हो) और अप्रदेशी है। उसमे न लम्बाई है, न चौडाई, न गहराई—वह अविम (dimension-less) है। वह अन्तिम और शाश्वत इकाई है।

४ परमाणु वह है जिसका क्षेत्रीय दृष्टि से आदि, मध्य, अन्त एक है—या जो अनादि, अमध्य, अनन्त है। उसमें स्पर्श आदि गुणो की विद्यमानता होने पर भी इन्द्रियां उसे ग्रहण नही कर सकती।

५. परमाणु वह है जिसमें ५ वर्णों में से एक वर्ण है; २ गन्धों मे से एक गन्ध है; ५ रसो में से एक रस है; ८ स्पर्शों में से केवल २ स्पर्श है—स्निग्ध या रूक्ष, शीत या उष्ण। वह शब्द का कारण है, पर स्वय शब्द नही है। जो स्कन्धों का निर्माण करता है, पर स्कन्ध नही है। परमाणु के स्वरूप को इस प्रकार समझाया गया है[१]—

१. परमाणु समस्त भौतिक जगत् का मूल कारण है।

२. वह भौतिक जगत् की अन्तिम परिणति है।

३. वह सूक्ष्म है—इन्द्रियग्राह्य नहीं है।

४ वह नित्य है—उसका अस्तित्व सदा बना रहता है; स्कन्ध में मिलने पर भी परमाणु का अस्तित्व समाप्त नही होता।

५. उसमे एक रस एक गन्ध, एक वर्ण होता है।

---

१. कारणमेव तदन्त्यं, नित्यः सूक्ष्मश्च भवति परमाणुः।
एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च॥

६. उसमें दो स्पर्श होते हैं। वह स्निग्ध-शीत, स्निग्ध-उष्ण, रूक्ष-शीत या रूक्ष-उष्ण होता है। उसमें गुरुत्व, लघुत्व, कठोरत्व, कोमलत्व नहीं होता।

७. वह कार्यलिङ्ग है—परमाणु के अस्तित्व का अनुमान उसके कार्य यानी सामूहिक क्रिया से होता है। परमाणु के गुणों का ज्ञान भी सामूहिक गुणो से ही किया जा सकता है। एक अकेले परमाणु को सीधे नही जाना जा सकता।

परमाणु के गुणधर्म

परमाणु पुद्गल है; अत. पुद्गल के मूल गुण-धर्म परमाणु में भी होते है। जैसे—

१. परमाणु सत् है, द्रव्य है।

२. परमाणु नित्य, अवस्थित, शाश्वत, अविनाशी है।

३. परमाणु अचेतन है।

४. परमाणु मे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श होते हैं; सस्थान नही होता; लम्बाई, चौड़ाई, गहराई नही होती।

५. परमाणु परिणामी है; वह स्वय अगुरुलघु-परिणामी है। परिणमन स्पर्श आदि गुणों की पर्याय में होता है।

६. परमाणु क्रियावान् है। जब वह गति करता है, तब वह गति स्पन्दनात्मक भी हो सकती है, स्थानातरणात्मक भी हो सकती है। परमाणु अगुरुलघु यानी संहतिशून्य होने से उसका वेग (velocity) इतना तीव्र होता है कि वह एक समय मे पूरे लोक की दूरी पार कर सकता है।

७. परमाणु मिलन-स्वभाव वाला है, पर उसका भेद नही होता। मिलन-स्वभाव के कारण परमाणु अन्य परमाणु या स्कन्ध के साथ मिल सकता है, पर अभेद्य होने के कारण उसका विखण्डन नही हो सकता।

८. जीव द्वारा अकेले परमाणु का ग्रहण नही हो सकता, इसलिए वह अग्राह्य है।

परमाणु की विस्तृत व्याख्या

१. नामकरण—परमाणु शब्द परम+अणु से बना है। अणु का अर्थ है—किसी भी पदार्थ का छोटा भाग। परम का अर्थ है अन्तिम। अन्तिम छोटे-से-छोटा हिस्सा परमाणु है।

२. द्रव्य की दृष्टि से—परमाणु पुद्गलास्तिकाय द्रव्य है। उसमें गुण और पर्याय दोनों होते हैं। संख्या की दृष्टि से परमाणु अनन्त है।

३. क्षेत्र की दृष्टि से—एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश का अवगाहन करता है, एक से अधिक प्रदेशों का अवगाहन नहीं कर सकता।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर परमाणु का अस्तित्व है। अलोकाकाश में परमाणु का अभाव है।

४. **काल की दृष्टि से**—प्रत्येक परमाणु अनादि काल से अस्तित्व में था और अनन्तकाल तक उसका अस्तित्व रहेगा। अतः परमाणु का अस्तित्व सदा बना रहता है।

५. **गुण की दृष्टि से**—एक परमाणु में केवल एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श ही होते हैं। इस आधार पर ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस में से एक-एक वर्ण, गंध और रस, तथा चार स्पर्शों में से दो-दो स्पर्श होने से मूलतः ५ × २ × ५ × ४ = २००० प्रकार के परमाणु हो सकते है। परन्तु वर्ण आदि की मात्रा या गुण (unit) की तरतमता के कारण उसके अनन्त प्रकार हो जाते हैं।

६. **रूपत्व** · परमाणु वर्ण आदि गुण-युक्त है; इसलिए मूर्त या रूपी है; पर सूक्ष्म होने के कारण इंद्रिय-ग्राह्य नही है।

७. **संख्या**—लोक में जितने परमाणु है, उतने ही सदा रहते है। न एक नया परमाणु बन सकता है, और न एक विद्यमान परमाणु नष्ट हो सकता है।

८. **तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से**—परमाणु सत् है; उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है। उसका वस्तु सापेक्ष (objective) अस्तित्व है। वह केवल काल्पनिक या ज्ञाता-सापेक्ष नही है।

९. **भूमिति की दृष्टि से**—परमाणु अविम (dimensionless) है, पर अरूपी नही। वह भूमितिक बिन्दु है। एक आकाश प्रदेश का अवगाहन करता है।

१०. **परिणमन की दृष्टि से**—परमाणु सत् है; इसलिए परिणमन-शील है, उसके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुणों में परिणमन होता है। अकेले परमाणु के सारे परिणमन वैस्रसिक ही होते है, प्रायोगिक नहीं। जब तक परमाणु स्वतन्त्र दशा में होता है, परिणमन केवल स्पर्श आदि गुणों की मात्रा में होता है, गुण का प्रकारान्तरण नही होता। जैसे—काला वर्ण अन्य वर्ण मे नही बदलता, पर एक गुण (unit) काला दो गुण काला यावत् अनन्त गुण काला हो सकता है। स्कन्ध के साथ प्रतिक्रिया होने के पश्चात् उसके गुणो का प्रकारांतरण भी संभव हो जाता है। अर्थात् उसका वर्ण अन्य किसी वर्ण मे बदल सकता है।

११. **शाश्वतता की दृष्टि से**—परमाणु अविनाशी है, शाश्वत है। स्वतन्त्र अवस्था मे या स्कन्ध मे या स्कन्ध के साथ वह सदा अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। इसीलिए विश्व (लोक) में परमाणु जितने हैं उतने के उतने सदा बने रहते हैं। न नए परमाणु का जन्म होता है, न विद्यमान

परमाणु का विनाश ।

१२. अगुरुलघुत्व—परमाणु अगुरुलघु है। गुरुत्व या लघुत्व स्पर्श के प्रकार हैं, जो केवल स्थूल पुद्गलों में होते हैं। वैज्ञानिक शब्दावली मे कहें तो परमाणु संहति-शून्य (massless) है।

१३. परिणामीनित्य—परमाणु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है, पर्याय की दृष्टि से परिणामी है। इसलिए उसे परिणामीनित्य या नित्यानित्य कहा गया है।

१३. अग्राह्य—परमाणु जीव द्वारा अग्राह्य है। सूक्ष्म होने के कारण जीव अकेले (स्वतन्त्र) परमाणु को ग्रहण नही कर सकता। जीव केवल अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध को ही काम मे ले सकता है।

१५. एकत्व-अनेकत्व——मूलभूत द्रव्य के रूप में परमाणु एक है—अकेला है। वह एक स्वतन्त्र इकाई है। वह एक अविभाज्य सत्ता है; पर वह अनेक गुण एवं पर्यायों को धारण करने वाला है, इसलिए अनेकत्व का आधार है। क्षेत्र की दृष्टि से वह केवल एक प्रदेशावगाही है।

१६. गति और क्रिया—परमाणु में स्वभावतः गतिशीलता और सक्रियता की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका अर्थ यह नही है कि सभी परमाणु सदा और सर्वत्र सभी स्थितियों मे सक्रिय या गतिमान बने रहते हैं। पर उनका झुकाव इस ओर रहता है। किसी भी परमाणु के चंचल बनने के विषय मे एक प्रकार की अनियतता (uncertainty) होती है। वे कब चंचल बनेंगे—इस विषय में पूर्ण नियत कथन नही किया जा सकता।

एक परमाणु सीमित समय तक ही एक आकाश-प्रदेश पर स्थिरावस्था में टिक सकता है। अक्रियता का यह काल 'असंख्यात समय' से अधिक नही होता। उसके पश्चात् वह निश्चित ही गति करेगा।

दूसरी ओर सक्रियता या चंचल अवस्था में भी परमाणु सीमित समय रह सकता है। एक अवधि के बाद वह परमाणु निश्चित ही स्थिरता को प्राप्त होगा। सक्रियता की अधिकतम कालावधि आवलिका का असंख्यातवां हिस्सा या असंख्यातांश है। सक्रियता और अक्रियता का न्यूनतम कालमान एक समय है। इस प्रकार परमाणु की सक्रियता सतत न होकर खण्डित रूप मे होती है। इस अवधारणा की तुलना आधुनिक विज्ञान के क्वांटम सिद्धांत के साथ की जा सकती है। परमाणु क्वचित् स्थिर, क्वचित् चचल—इस प्रकार बारी-बारी से होता रहता है।

भगवती सूत्र में परमाणु की गति को इस प्रकार वर्णित किया गया है—'परमाणु कभी एजन करता है, कभी वेजन करता है, कभी चलायमान होता है, कभी स्पन्दन करता है, कभी क्षुब्ध होता है, कभी गति मे प्रेरित होता है, आदि।' इस शब्दावली से स्पष्ट होता है कि परमाणु विभिन्न

प्रकार से गति करता है। यह गति सरल कम्पन, सरल स्थानांतरण, जटिल कम्पन, जटिल स्थानांतरण, दोलन, प्रसारण, ग्रहण, घूर्णन, घर्षण, फिरकन (spin) या तरंग-प्रसार आदि रूप मे हो सकती है। 'आदि' शब्द का प्रयोग यह सूचन करता है कि अन्य भी अनेक प्रकार की गति के रूप की संभावना है।

परमाणु की गति के नियम

परमाणु की गति कुछ सन्दर्भो मे नियमों से नियत है, तो कुछ हद तक अनियतता के सिद्धांत का अनुसरण करती है। जैसे—

१ यदि बाहर का प्रभाव न हो, तो परमाणु की गति सदा अनुश्रेणी (अर्थात् सीधी रेखा मे) होगी।

२. यदि बाह्य प्रभाव हो, तो परमाणु की दिशा और वेग मे अन्तर आ सकता है।

३ जीव का परमाणु की गति पर कोई प्रभाव नही होता।

४. परमाणु का न्यूनतम वेग आकाश के एक प्रदेश से दूसरे पर एक समय मे होगा और अधिकतम वेग लोक के एक अन्त से दूसरे अन्त तक एक समय मे होगा।

५. अक्रिय अवस्था का अधिकतम काल 'असंख्यात समय' होगा तथा सक्रिय अवस्था का अधिकतम काल 'आवलिका के असख्यातवें अश' जितना होगा।

दूसरी ओर परमाणु की अनियतता से सम्बद्ध कुछ नियम हैं—

१. स्थित परमाणु कब चलायमान होगा, यह अनियत है। इसका तात्पर्य हुआ कि परमाणु द्वारा कितने काल के पश्चात् ऊर्जा का प्रसारण होगा यह नियत नही है। यह काल एक समय से लेकर असंख्यात समय तक हो सकता है। असख्यात समय के पश्चात् तो वह निश्चित ही सक्रिय होगा ही।

२. सक्रिय परमाणु कितने काल तक सक्रिय रहेगा यह अनियत है। यह काल एक समय से लेकर 'आवलिका के असख्यातवे अश' जितना हो सकता है। पर इस अधिकतम कालावधि के पश्चात् तो वह निश्चित ही स्थिर होगा ही।

३. परमाणु अपनी गति किस दिशा में प्रारंभ करेगा, यह अनियत है। वह किसी भी दिशा में गति कर सकता है।

४. अक्रिय (स्थिर) दशा वाला परमाणु किस प्रकार की क्रिया प्रारम्भ करेगा, यह अनियत है। वह केवल एजन (कम्पन) कर सकता है या घूर्णन (rotation) या स्थानांतरण या युगपत् एकाधिक क्रियाएं भी कर सकता है।

५. सक्रिय होने पर, उसकी गति का वेग कितना होगा, यह भी अनियत है। वह न्यूनतम, मध्यम या अधिकतम वेग से गति करेगा—यह अनियत है।

परमाणु की प्रतिघाती और अप्रतिघाती गति

१. परमाणु की गति सामान्यतः अप्रतिघाती होती है अर्थात् विशेष अपवादों को छोड़कर परमाणु की गति का अवरोध न अन्य पुद्गल द्वारा हो सकता है और न जीव द्वारा। मार्ग में आनेवाले किसी भी पदार्थ के भीतर से वह आर-पार निकल सकता है।

२. जिस आकाश-प्रदेश पर अन्य पुद्गल हैं, वहां पर परमाणु की अवस्थिति अप्रतिघाती रूप से हो सकती है। अर्थात् परमाणु वहां अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रख सकता है।

३. परमाणु को अपनी गति को प्रारम्भ करने में या चालू रखने में उस आकाश-प्रदेश पर स्थित अन्य पुद्गलों द्वारा कोई प्रतिघात नहीं होता।

जिन अपवादों के कारण प्रतिघात हो सकता है, वे है—

१. **उपकाराभाव प्रतिघात**—लोक की सीमा से परे गति-स्थित माध्यम के अभाव से परमाणु की गति प्रतिहत होती है।

२. **बन्धन-परिणाम-प्रतिघात**—जब परमाणु किसी पुद्गल स्कन्ध के साथ बंधा हुआ है, तब उसकी गति स्वतन्त्र रूप से नहीं होती।

३. **अति-वेग-प्रतिघात**—अति तीव्र वेग वाले दो परमाणुओं के संघट्टन या टक्कर होने पर दोनों की गति मे प्रतिघात पैदा हो जाता है।

परमाणु का तीव्रतम वेग

परमाणु एक 'समय' में पूरे लोक की ऊंचाई को पार कर सकता है। इसका तात्पर्य हुआ कि उसका उत्कृष्टतम वेग है—१४ रज्जु/समय। एक रज्जु का मान असख्यात योजन है। 'असख्यात' का मान जैन दर्शन मे प्रदत गणितीय आधारों पर निकालने से इस प्रकार प्राप्त है—

आधुनिक विज्ञान के अनुसार विश्व मे उत्कृष्टतम् वेग प्रकाश का है जो ३ लाख किलोमीटर/सैकिण्ड है । आइस्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार इससे अधिक वेग किसी भी पदार्थ का होना सम्भव नहीं है । पर यदि संहति (mass) को शून्य माना जाय तो प्रकाश से अधिक वेग की संभावना की जाती है । आइन्स्टीन के पश्चात् आधुनिक विज्ञान मे ऐसे सूक्ष्म कणो की संभावना की गई है जिनका वेग प्रकाश से भी अधिक हो ।[2] 'संहति-शून्य')massless) कणो की अवधारणा विशुद्ध गणितीय क्षेत्र से सम्बद्ध है । जैन दर्शन के परमाणु को भी संहति-शून्य मानना होगा तथा इस आधार पर उसके उपर्युक्त उत्कृष्टतम वेग की संभावना की जा सकती है ।

---

१. इसकी पूर्ण गणितीय गणना के लिए मुनि महेन्द्र कुमार द्वारा लिखित विश्व-प्रहेलिका, पृ० २५५-२७० द्रष्टव्य है ।

२. 'टेक्योन' (Tachyon) नामक कणो का अस्तित्व आधुनिक विज्ञान मे चर्चा का विषय बना है, जिनकी गति प्रकाश से भी अधिक है ।

(२) आधुनिक विज्ञान में परमाणु-सिद्धांत

विकास-वृत्त

पदार्थ का मूलभूत कण क्या है ? सन् १८०३ मे डाल्टन ने घोषणा की कि यह मूलभूत कण एटम (परमाणु) है; क्योंकि इसका रासायनिक क्रियाओं द्वारा और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता तथा यह रासायनिक तत्त्वों का सूक्ष्मतम भाग है। इलेक्ट्रॉन की खोज से पहले तक परमाणु (एटम) को ही पदार्थ का मूलभूत कण माना जाता था।

मन् १८९७ में जे.जे. थॉमसन ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिखाया कि एटम ही पदार्थ का मूलभूत कण नहीं है अपितु वह दो प्रकार के कणों द्वारा बना हुआ है, जिन पर विपरित लेकिन समान मात्रा में आवेश होते हैं। जिन कणों पर ऋणात्मक आवेश होता है, वे 'इलेक्ट्रॉन' कहलाते हैं तथा जिन पर धनात्मक आवेश होता है वे 'प्रोटॉन' कहलाते हैं। इलेक्ट्रॉन पर न्यूनतम संभव ऋणात्मक आवेश होता है जो कि ($—४.८ \times १०^{-१०}$) ई० एस० यू० (इलेक्ट्रो-स्टेटिक यूनिट) के बराबर है। इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान ९.१×१०.२८^{-१०} ग्राम होता है। इसी प्रकार प्रोटॉन पर न्यूनतम संभव धनात्मक आवेश होता है तथा वह ($+४.८ \times १०^{-१०}$) ई० एस० यू० के बराबर है। प्रोटॉन का द्रव्यमान इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान से लगभग १८३७ गुना होता है।

फिर यह खोज हुई कि एटम मे न केवल आवेशित कण (इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन) ही होते है, बल्कि आवेश-रहित कण भी होते हैं। इन कणों का नाम 'न्यूट्रॉन' रखा गया। न्यूट्रॉन का द्रव्यमान प्रोटॉन के द्रव्यमान के बराबर होता है।

एटम की आकृति को प्रस्तुत करने के लिए समय-समय पर विभिन्न वैज्ञानिकों ने अलग-अलग मॉडल तैयार किए। सन् १९०४ मे जे० जे० थॉमसन ने एटम की आकृति तरबूज के अनुरूप बतलायी। उसके अनुसार जिस तरह तरबूज में बीज होते है उसी प्रकार एटम मे इलेक्ट्रॉन बिखरे रहते हैं तथा प्रोटॉन तरबूज के गुद्दे की तरह होते हैं; लेकिन रदरफोर्ड ने थॉमसन के इस मॉडल को गलत साबित कर दिया तथा उसने सन् १९११ में एक नया मॉडल प्रस्तुत किया। अपने प्रयोगों के आधार पर उसने यह सिद्ध किया कि एटम का पूरा धनात्मक आवेश एटम के नाभिक (केन्द्र) मे स्थित होता है तथा ऋणात्मक आवेश उस नाभिक के चारों ओर समान रूप से वितरित होता है। एटम के नाभिक में न्यूट्रॉन भी स्थित रहते है। कुछ समय पश्चात् बोर (Bohr) नामक वैज्ञानिक ने रदरफोर्ड के मॉडल में संशोधन किया कि इलेक्ट्रॉन नाभिक के चारों ओर समान रूप से व्यवस्थित

नहीं होते, बल्कि वे अपनी निश्चित कक्षाओं में केन्द्र के चारों ओर परिभ्रमण करते रहते हैं। बिभिन्न कक्षाओं में इलेक्ट्रॉन की एक निश्चित गतिज ऊर्जा होती है।

यदि तांबे के परमाणुओं को एक-के-बाद-एक एक सीधी पंक्ति में रख दिया जाए तो एक इंच के लिए दस करोड़ परमाणुओं की आवश्यकता पड़ेगी।

वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि एक पिन के माथे पर दस करोड़ से भी अधिक परमाणु फैले होते है।

अल्फा, बिटा तथा गामा का क्षय (रेडियोधर्मिता)

भारी एटम के नाभिक अस्थायी होते हैं। ऐसा पाया गया है कि इन नाभिकों में-से निरन्तर कुछ-न-कुछ तब तक क्षय होता रहता है, जब तक कि ये एक स्थिर/स्थायी नाभिक को प्राप्त नही कर लेते। इस क्षयीकरण को 'रेडियोधर्मिता' के नाम से जाना जाता है। इस क्रिया के दौरान नाभिक में-से अल्फा, बीटा तथा गामा का उत्सर्जन होता रहता है। अल्फा कण दो प्रोटॉन के बराबर होते है। बीटा कण इलेक्ट्रॉन के बराबर होते है तथा गामा किरणों (ऊर्जा) के रूप मे उत्सर्जित होते है। ये किरणे प्रकृति से विद्युत्-चुम्बकीय होती है। गामा किरणो में कोई द्रव्यमान नही होता, लेकिन कुछ निश्चित ऊर्जा उनमे अवश्य होती है।

इस क्षयीकरण की व्याख्या करने के लिए कई सिद्धात दिए गये। वैज्ञानिक गामा ने अल्फा-क्षय का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, अल्फा कण भारी एटम के नाभिक मे पहले से ही स्थित रहते हैं। दूसरी ओर, फरमी नामक वैज्ञानिक ने बीटा कणों के क्षय का कारण बताने के लिए अपना सिद्धांत प्रतिपादित किया, जिसके अनुसार बीटा कण नाभिक मे पहले से नही रहते बल्कि उनकी उत्पत्ति उत्सर्जन की क्रिया के समय ही होती है। जब नाभिक के अन्दर न्यूट्रॉन प्रोटॉन मे अथवा प्रोटॉन न्यूट्रॉन में परिवर्तित होते है, तब क्रमशः ऋणात्मक बीटा कण [इलेक्ट्रॉन] तथा धनात्मक बीटा कण (पोजीट्रॉन) उत्पन्न होते है।

सन् १८२७ में पौली (Pauli) नामक वैज्ञानिक ने बीटा कणो के उत्सर्जन के सम्बन्ध मे अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की। उसने कहा कि बीटा कणों के साथ-साथ अन्य कणों का भी उत्सर्जन होता है, जिन्हें 'न्यूट्रीनो' के नाम से जाना जाता है। जब प्रोटॉन न्यूट्रॉन मे परिवर्तित होता है, तब धनात्मक बीटा कणों के साथ न्यूट्रीनो उत्पन्न होता है और जब न्यूट्रॉन प्रॉटोन में परिवर्तित होता है, तब प्रति-न्यूट्रीनो उत्पन्न होता है।

न्यूट्रीनो इतने सूक्ष्म परिमाण के होते है कि वे दूसरे कणो से

प्रभावित नहीं होते हैं। वे विद्युत् आवेश-रहित तथा संहृति-रहित (massless) होते है; लेकिन उनमे एक निश्चित ऊर्जा होती है।

क्वाण्टम सिद्धान्त (Quantum Theory)

भारी नाभिकों से निकलने वाली गामा किरणें अधिक ऊर्जा-सम्पन्न विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें होती है। पाया गया है कि सभी विद्युत्-चुम्बकीय तरंगो की ऊर्जा का वितरण नियमित नही होता है, बल्कि अनियमित होता है। इसकी व्याख्या मैक्स प्लैंक नामक वैज्ञानिक ने क्वाण्टम सिद्धांत की सहायता से की। इसके अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान तक विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की ऊर्जा का स्थानांतरण क्वाण्टम के रूप में होता है। क्वाण्टम ऊर्जा की छोटी-से-छोटी इकाई है। फोटॉन विद्युत-चुम्बकीय ऊर्जा के क्वाण्टम का सवाहक (वाहन के-समान) है। फोटॉन का एक निश्चित् संवेग होता है, लेकिन उसमे न तो संहृति होती है और न ही विद्युत्-आवेश। फोटॉन की ऊर्जा $E=hv$ से प्रदर्शित की जाती है जहां h प्लैंक का नियतांक है। v विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की आवृत्ति (फ्रिक्वेंसी) है।

फोटॉन की तरह ही 'फोनोन' यांत्रिकीय तरंगों की ऊर्जा का वाहक है। इस प्रकार ऊर्जा पदार्थ का ही दूसरा रूप है। वैसे भी आइन्स्टीन के ऊर्जा-द्रव्यमान सम्बन्ध के सिद्धांत से ऊर्जा तथा द्रव्यमान एक ही वस्तु/पदार्थ के दो पहलू है।

प्रारम्भिक कण (Elementary Particles)

अब हम एटम से सम्बन्धित सभी प्रारम्भिक (मौलिक) कणों की सूची बना सकते है। इन कणों को हम इस प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं:—

१. इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन।
२. न्यूट्रीनो, बीटा कण तथा पोजीट्रॉन।
३. फोटोन, फोनॉन।
४. प्रतिकण (एन्टी-पार्टिकल्स)।

इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य कण भी एटम से संबंधित हैं, जैसे—मैसॉन, ग्लुओन, बैरिऑन तथा अन्य स्ट्रेंज कण। एटम से सम्बन्धित इस प्रकार के कणों की संख्या सौ से भी अधिक है।

प्रारम्भिक कण पदार्थ तथा विकरणों के सरलतम कण हैं। इनमें-से बहुत से कणों का जीवन-काल बहुत ही अल्प है तथा सामान्यतया ये अस्तित्वहीन हैं। पहले उन सभी कणों को प्रारम्भिक कण कहा जाता था,

१. देखें, पृ० ३१८

जिनका पुनः विभाजन न हो सके; लेकिन आजकल इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, मैसॉन, म्यूओन, बैरीऑन, स्ट्रेंज कण तथा प्रतिकणों के लिए तथा फोटॉन के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है; लेकिन अल्फा कणों तथा ड्यूट्रोन के लिए इसका प्रयोग नही करते है।

क्वार्क : पदार्थ का मूलभूत कण

समझा जाता था कि विभिन्न प्रारम्भिक कणों की खोज से वैज्ञानिक की पदार्थ के मूलभूत (अन्तिम) कणों की खोज-जिज्ञासा समाप्त हो जाएगी; लेकिन ऐसा नही हुआ। आज भी बहुत से वैज्ञानिक मूलभूत कणों की खोज में लगे हुए हैं। पाया गया है कि न्यूट्रॉन एक स्थिर कण नही है तथा इसका अर्द्ध जीवन-काल लगभग १२.८ मिनिट ही है। न्यूट्रॉन एक प्रोटॉन, एक इलेक्ट्रॉन तथा न्यूट्रीनो में टूट जाता है। प्रोटॉन भी एक अस्थिर कण है तथा इसका अर्द्ध जीवन-काल लगभग $१०^{३१}$ वर्ष है; अन्ततः न्यूट्रॉन तथा प्रोटॉन को हम एटम के मूलभूत कण नही मान सकते है। ऐसा माना जाता है कि 'क्वार्क' पदार्थ का मूलभूत (अन्तिम) कण है तथा इसका और विभाजन नही किया जा सकता। सैद्धांतिक रूप से यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रोटॉन तीन क्वार्कों से मिलकर बना हुआ है। वैज्ञानिक अभी प्रायोगिक तौर पर इसके अस्तित्व को सिद्ध करने में लगे हुए है।

मूलभूत कण का वेग

बहुत से वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि प्रकाश का वेग ३×१०^{१०} सें० मी० प्रति सेकंड होता है। माइकल्सन तथा मोर्ले ने सिद्ध किया कि प्रकाश का वेग किसी भी स्थिति में इससे अधिक नहीं हो सकता है। प्रकाश का वेग नियत है। अब प्रश्न यह है कि क्या किसी वस्तु का वेग प्रकाश के वेग से अधिक हो सकता है ? आइन्स्टीन ने इस प्रश्न का उत्तर 'सापेक्षतावाद के सिद्धांत' को प्रतिपादित करके दिया। उन्होंने कहा कि किसी भी वस्तु का वेग प्रकाश से अधिक नहीं हो सकता। बहुत समय तक यही माना जाता रहा; लेकिन रूस के वैज्ञानिक कैरेनोव ने साबित किया कि कुछ विशिष्ट माध्यम मे स्वय प्रकाश का वेग भी ३×१०^{१०} सें० मी०/सेकंड से अधिक हो सकता है; लेकिन निर्वात में प्रकाश का वेग इतना ही होगा।

आकर्षण के बल

आकर्षण के बल तीन प्रकार के होते हैं : कूलम्ब बल, विद्युत्-चुम्बकीय बल तथा नाभिकीय (न्यूक्लीय) बल। सभी प्रारम्भिक कणों को एक साथ एक ही नाभिक में रखने के लिए जिम्मेदार नाभिकीय बल है। नाभिक तथा इलेक्ट्रॉन को एक साथ एक एटम में रखने के लिए जिम्मेदार

विद्युत्-चुम्बकीय बल है । कूलम्ब बल एटम के लिए कार्य नहीं करते ।

(३) जैन दर्शन और विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन

मूलभूत कण और परमाणु

मूलभूत (अन्तिम) कण की परिकल्पना परमाणु की परिकल्पना से मिलती-जुलती है कि यह एक अविभाज्य इकाई है । (१) अब तक लगभग सौ से ऊपर प्रारम्भिक कणो को खोजा जा चुका है । इनमे से कुछ कण मूलभूत (अन्तिम या अल्टीमेट) कण नही है, जैसे—न्यूट्रॉन तथा प्रोटॉन; क्योंकि ये अन्य छोटे कणो मे पुन: विभक्त हो जाते हैं । जैनदर्शन के अनुसार, परमाणुओं के दो सौ भेद होते हैं तथा इन सब परमाणुओं के अलग-अलग विशिष्ट गुण होते हैं । यहा यह स्पष्ट है कि अभी इन परमाणुओं को पाने के लिए और अधिक खोज की आवश्यकता है । (२) 'परमाणु' पदार्थ (पुद्गल) का एक द्रव्यमान-रहित (संहति-रहित) कण है । यहां एक सामान्य प्रश्न यह उठ सकता है कि जब परमाणु मे द्रव्यमान ही नही होता तब वह पदार्थ कैसे हो सकता है ? कोई भी भौतिक पिण्ड विभिन्न परमाणुओं से मिल कर बना होता है; लेकिन जब परमाणु का कोई द्रव्यमान नही होता तब उस भौतिक पिण्ड में द्रव्यमान कहां से आ जाता है ? इस कथन की व्याख्या वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर की जा सकती है ।

'न्यूट्रीनो' एक मूलभूत कण है तथा यह बीटा कणों के क्षय के समय उत्पन्न होता है । यह द्रव्यमान-रहित होता है तथा अन्य कणों के साथ इसका पारस्परिक संबन्ध नही होता; लेकिन इसकी एक निश्चित ऊर्जा हो होती है । इसी प्रकार बहुत से अन्य कणों के साथ भी होता है ।

हम परमाणु के बारे मे भी कह सकते है कि वह द्रव्यमान-रहित है; क्योंकि परमाणु हमेशा गतिशील रहता है, अतः उसकी कुछ निश्चित ऊर्जा अवश्य होती है । वैसे भी आइन्स्टीन के अनुसार ऊर्जा तथा द्रव्यमान पदार्थ के ही गुण है । ऊर्जा को द्रव्यमान मे तथा द्रव्यमान को ऊर्जा मे परिवर्तित किया जा सकता है; अत: परमाणु के बारे मे यह कहना कि वह द्रव्य-मान-रहित है, सही है । (३) जैसा कि हमने पहले कहा, परमाणुओं के दो सौ भेद होते हैं; लेकिन परमाणु के गुण स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण की तीव्रता के के आधार पर परमाणुओं के अनन्त भेद हो सकते है । न्यूट्रीनो की धारणा भी कुछ ऐसी ही है । विभिन्न न्यूट्रीनो की अलग-अलग ऊर्जाएं होती हैं, इनकी यह ऊर्जा इस बात पर निर्भर करती है कि उस समय हुए विकिरण में बीटा कणों की ऊर्जा कितनी है ? इसी प्रकार अन्य कणों के साथ भी होता है । (४) विभिन्न नाभिकीय कणों को एक ही नाभिक मे रखने के लिए नाभिकीय बल जिम्मेदार है तथा नाभिक और इलेक्ट्रॉनों को एक ही एटम

मे रखे रखने के लिए जिम्मेदार विद्युत्-चुम्कीय बल है। जबकि परमाणुओं के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण इन्हें एक ही पिण्ड (स्कन्ध) में बनाये रखने के लिए जिम्मेदार हैं। ये दोनों दृष्टिकोण समान प्रतीत होते हैं। (५) किसी भी पिण्ड का वेग चाहे वह बडा हो या छोटा, प्रकाश के वेग से अधिक नहीं हो सकता अर्थात् ३×१०^{१०} सें. मी./सेकंड से अधिक नहीं हो सकता। विज्ञान का यह एक आधारभूत सिद्धांत है। परमाणु का वेग प्रकाश के वेग से अधिकतम तक हो सकता है। यहां हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने है कि अभी वैज्ञानिको के पास ऐसे उपकरण का अभाव है जो इतने अधिक वेग को नाप सकें। इतना अवश्य है कि प्रकाश का वेग ३×१०^{१०} सें. मी./सेकंड से अधिक हो सकता है, जैसा कि वैज्ञानिक कैरेनोव ने सिद्ध किया है। (६) प्रकाश बहुत सारे फोटॉनों मे मिल कर बना होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या फोटॉन को मूलभूत (अन्तिम) कण माना जा सकता है? जैनदर्शन के अनुसार प्रकाश बहुत सारे परमाणुओं का समुदाय है। प्रकाश स्कन्ध के अन्तर्गत आता है; अतः प्रकाश-कणों (फोटॉनों) को परमाणु नही माना जा सकता।

द्रव्याक्षरत्ववाद

पुद्‌गल उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। अपनी जाति का त्याग किये बिना नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व-पर्याय का त्याग व्यय है, द्रव्य के मूल तत्वों का ज्यों-का-त्यों रहना ध्रौव्य है। बर्फ गल कर पानी बनता है। इस प्रक्रिया मे बर्फ-रूपी पर्याय का व्यय होता है, जल-रूपी पर्याय का उत्पाद होता है; किन्तु दोनों अवस्थाओ में पुद्‌गल द्रव्य अविनष्ट बना रहता है। इस क्रिया में दो हाइड्रोजन अणुओं (हाइड्रोजन एटम) और एक ऑक्सीजन अणु से बने पानी के अणुगुच्छ (मॉलीक्यूल) नही बदलते। पानी के भाप बनने की क्रिया में भी उसके अणुगुच्छ यथापूर्व रहते हैं।

उक्त परिभाषा से दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, जो आधुनिक विज्ञान-सम्मत हैं: एक, पुद्‌गल (एवं अन्य द्रव्यों) की नित्यता (ध्रौव्य) का सिद्धान्त विज्ञान का पदार्थ की अनाश्यकता का नियम (लॉ ऑफ इन-डिस्ट्रक्टिबिलिटी ऑफ मैटर) है। इस नियम को प्रसिद्ध वैज्ञानिक लैव्हा-इजियर ने १८ वी शती में इन शब्दों में प्रस्तुत किया था: 'कुछ भी निर्मेय नहीं है और प्रत्येक क्रिया के अन्त में पदार्थ की उतनी ही मात्रा रहती है, जितनी उस क्रिया के आरंभ में रहती है। पदार्थों का केवल रूपान्तर (मॉडीफिकेशन) हो जाता है।' आधुनिक विज्ञान के अनुसार पदार्थ (मैटर) और ऊर्जा (एनर्जी) एक ही द्रव्य के दो रूप हैं; फलतः आजकल पदार्थ की अनाश्यकता के नियम के बदले पदार्थ और ऊर्जा के स्थिरण (कन्जर्वेशन ऑफ मैटर एण्ड एनर्जी) का नियम लागू होता है।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि पुद्गल (पदार्थ एवं ऊर्जा) तथा अन्य द्रव्यों को न तो शून्य में विलुप्त किया जा सकता है और न शून्य से बनाया जा सकता है। आधुनिक विज्ञान की भी विश्व (यूनिवर्स) के संबध में यह धारणा है।

पदार्थ एवं ऊर्जा (मैटर एण्ड एनर्जी)

आइन्स्टीन के सापेक्षता के सिद्धांत-के-पूर्व विज्ञान पदार्थ (मैटर) और (एनर्जी) को दो विभिन्न द्रव्य मानता था। साथ ही यह धारणा थी कि न तो पदार्थ को ऊर्जा में बदला जा सकता है और न ऊर्जा को पदार्थ में। सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त (स्पेशल थिअरी ऑफ रिलेटिविटी) के $E=mc^2$/ ऊर्जा=ऊर्जा (पदार्थ की मात्रा) × (प्रकाश की गति)^2 सूत्र के अनुसार पदार्थ को ऊर्जा एवं ऊर्जा को पदार्थ में रूपान्तरित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में पदार्थ और ऊर्जा एक ही द्रव्य के दो रूप हैं। एक किलोग्राम पदार्थ को पूर्णतः रूपान्तरित करके ९ × १०^{१६} जूल (एक माप-इकाई) ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। इतनी ऊर्जा से एक छोटे शहर का बिजलीघर कई महीनों तक चलाया जा सकता है। इस प्रकार के पदार्थ और ऊर्जा के परस्पर रूपान्तरण प्रकृति मे और प्रयोगशाला में, अणु-भट्टियों में और अणु-शस्त्रो में होते रहते है।

विशिष्ट महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सापेक्षतावाद के सिद्धांत प्रवर्तन के सदियों पूर्व से ही जैनदर्शन पदार्थ और ऊर्जा को पुद्गल की पर्यायें मानता है।

सारे पदार्थ मॉलीक्यूलों से बनते हैं, प्रत्येक मॉलीक्यूल परमाणुओं (एटम्स) के संयोग से बनता है, प्रत्येक परमाणु में एक केन्द्रकण (न्यूक्लिअस) और कई इलेक्ट्रॉन होते हैं। प्रत्येक केन्द्रकण मे प्रोटॉन एव न्यूट्रॉन होते है। धनात्मक (पॉजीटिव्ह) और ऋणात्मक (निगेटिव्ह) विद्युतें एक दूसरे को आकर्षित करती हैं। केन्द्रकण (न्यूक्लियस) में धनात्मक विद्युत आवेश और इलेक्ट्रॉन में ऋणात्मक विद्युत आवेश होता है; इसलिए परमाणु (एटम) में केन्द्रकण से इलेक्ट्रॉन बधे रहते हैं। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन अणु का केन्द्रकण केवल एक होता है और एक इलेक्ट्रॉन उसके चारों ओर चक्कर लगाता रहता है। कार्बन परमाणु के केन्द्र-कण में ६ प्रोटॉन एवं ६ न्यूट्रॉन होते हैं और छह इलेक्ट्रॉन उसकी परिक्रमा करते रहते है। परमाणुओ के सम्मिलन से मॉलीक्यूल, क्रिस्टल इत्यादि के बनने में भी धनात्मक एवं ऋणात्मक विद्युत् आवेश उत्तरदायी हैं।

जैन दर्शन मे स्निग्ध गुणवाले कणों के बंधने से स्कन्ध बनने का भी वर्णन है। केन्द्रकण (न्यूक्लियस) में जो प्रोट्रॉन बधे रहते हैं वे धनात्मक

विद्युत्आवेश-युक्त हैं। इससे स्पष्ट है कि दो धनात्मक विद्युत् आवेश-युक्त कणों (पार्टिकल्स) के बीच भी आकर्षण एवं बन्धन संभव है।

जैन दर्शन का परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इन्द्रिग्राह्य (पर्सेप्टिबिल) का तात्पर्य यदि यह समझा जाए कि परमाणु किसी वैज्ञानिक प्रयोगशाला के यन्त्रों से ग्राह्य (डिटेक्टेबल) नहीं है तो निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो मौलिक कण (एलीमेंट्री पार्टिकल्स) खोज निकाले हैं, जैन दर्शन के अनुसार वे सब कई परमाणुओं के संयोग से बने स्कन्ध हैं।

जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सब पदार्थ परमाणुओं से निर्मित हैं। साथ ही, विभिन्न प्रकार की ऊर्जा, आतप (हीट), प्रकाश (लाइट), विद्युत (इलेक्ट्रीसिटी) आदि, पुद्गल की पर्याय हैं; इसलिए ऊर्जा में भी परमाणु होने चाहिये जैसे कि जल, स्वर्ण, वायु आदि के स्कंधों में हैं। आधुनिक प्रयोगशालाओं में ऊर्जा (एनर्जी) को पदार्थ (मैटर) के रूप में और पदार्थ को ऊर्जा के रूप में परिवर्तित करने की प्रक्रियाएं होती रहती है। इससे तात्पर्य है कि ऊर्जा और पदार्थ दोनों में एक ही मौलिक तत्त्व है तथापि आधुनिक विज्ञान पदार्थ को कणात्मक (पार्टिकल आस्पेक्ट) और ऊर्जा को तरंगात्मक (वेव्ह आस्पेक्ट) मानता है; साथ ही ऊर्जा की तरंगें किसी स्थिति (वातावरण) में कणात्मक रूप दर्शाती हैं और पदार्थ के कण समुचित स्थिति में तरंगात्मक रूप दर्शाते हैं।

जहां तक मौलिक कणों (एलीमेंट्री पार्टिकल्स) का प्रश्न है, आज का वैज्ञानिक प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन, कई प्रकार के मैसॉन, न्यूट्रिनो, क्वार्क इत्यादि कणों के अनुसंधान में रत हैं। यदि जैन दर्शन का परमाणु इन्द्रिय-ग्राह्य के साथ-साथ यन्त्र-ग्राह्य भी नहीं है तो इन सब मौलिक कणों में से कोई भी कण जैनदर्शन का परमाणु नहीं हो सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्यत: जैन दर्शन की पुद्गल की धारणा आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं से मूल रूप से मेल खाती है। सूक्ष्म रूप से दोनों की तुलना कठिन है। लगभग पिछले सौ वर्षों में विज्ञान ने जो प्रगति की है उसमे नि:संदेह पदार्थ और ऊर्जा के विषय मे अनगिनत सूक्ष्मतर विवरणों और मौलिक धारणाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, जो प्रयोग-सिद्ध है। यह वैज्ञानिक प्रक्रिया आज भी अनवरत चालू है, रुकी नहीं है। लगता है, भविष्य में गहन अध्ययन और अनुसंधान के परिणामस्वरूप आधुनिक विज्ञान और जैन दर्शन की पुद्गल-संबंधी धारणाओं में कुछ और तालमेल स्थापित करना सम्भव होगा।

परमाणु के मूल गुणधर्म

परमाणु के गुणों में जैन दार्शनिकों ने गुरुत्व (भारीपन) और लघुत्व (हलकेपन) को भी मौलिक स्वभाव नहीं माना है; ये भी विभिन्न

परमाणुओं के संयोगज परिणाम हैं।[1] अन्वेषण की दृष्टि से यह सकल्पना भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि आधुनिक विज्ञान भी यह मानने लगा है कि स्थूलत्व से सूक्ष्मत्व की ओर जाते हुए तथाकथित परमाणु के छोटे-छोटे कण भार आदि गुणों से रहित हो जाते है; जैसे फोटॉन, न्यूट्रिनो आदि।

जैनदर्शनकारों ने स्निग्धत्व और रूक्षत्व को परमाणुओं के परस्पर बधन का कारण माना।

वैज्ञानिकों ने भी परमाणुओ के परस्पर बन्धन का कारण धनविद्युत् (पॉजीटिव्ह चार्ज)—स्निग्धत्व और ऋणविद्युत् (निगेटिव्ह चार्ज)—रूक्षत्व को माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ने शब्दभेद से एक ही बात कह दी है। इससे स्पष्ट है कि स्निग्धत्व और रूक्षत्व इन दो गुणो से धन और ऋण विद्युत् पैदा होती है। डॉ० बी० एन० शील ने भी अपनी पुस्तक 'पॉजीटिव्ह साइस ऑफ एन्सिएण्ट हिन्दूज' मे इस बात का समर्थन किया है।

जैन दर्शन के अनुसार रूक्ष परमाणु रूक्ष के साथ और स्निग्ध परमाणु स्निग्ध के साथ दो से लेकर अनन्त गुणाशो की तरतमता से बधन को प्राप्त होते है। भारी ऋणाणु या 'नेगेट्रॉन' इस बात की पुष्टि करता है, क्योंकि यह केवल ऋणाणुओं का ही समुदाय है। इसी प्रकार डॉ० गेलमान के 'क्वार्क-सिद्धात' के अनुसार एक प्रोटॉन तीन क्वार्क से मिल कर बना है; जिसमे से एक का आवेश धन $\frac{1}{3}$ तथा दो क्वार्क प्रत्येक धन $\frac{2}{3}$ आवेश के होंगे और इस प्रकार प्रोटॉन का कुल आवेश धन एक के बराबर होगा।

न्यूट्रॉन भी तीन क्वार्कों से मिलकर बना है, दो ऋण $\frac{1}{3}$ आवेश वाले और एक धन $\frac{2}{3}$ आवेश वाला, जिसमे कुल आवेश शून्य होगा। 'मेसॉन' दो क्वार्कों से मिल कर बना है। डॉ० गेलमान के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि ये कण स्वतत्र रूप मे ही पाये जाए। ये केवल बल (फोर्स), ऊर्जा (एनर्जी) अथवा धारा (करेंट) के रूप मे भी हो सकते है, जो नाभिकीय कणों के भीतर तेजी से घूमते रहते हैं या जिनका अस्तित्व स्थिर कणों के रूप मे केवल नाभिक के भीतर ही संभव है और इसलिए इन्हे बाहर से शायद कभी नही देखा जा सकता। उनकी यह बात जैन दर्शन के परमाणु-सिद्धात से कुछ मेल खाती प्रतीत होती है। 'नेगेट्रॉन्स, या 'भारी ऋणाणु' रूक्ष-के-साथ-रूक्ष का बधन चरितार्थ करते है। 'प्रोटॉन' का 'क्वार्क' स्निग्ध-का-स्निग्ध के साथ बंधन है। जैनदर्शनकार भी यही कहते हैं कि रूक्ष परमाणु रूक्ष-के-साथ और स्निग्ध परमाणु स्निग्ध-के साथ

१. देखें पृष्ठ २९४-२९५।

दो से ले कर यावत् अनन्त गुणांशों की तरतमता से बन्धन को प्राप्त होते हैं। स्निग्ध और रूक्ष परमाणु तो बिना किसी शर्त के बन्ध जाते हैं, पर एक गुण रूक्ष और एक गुण स्निग्ध परमाणु कभी बन्धन को प्राप्त नही होते।

सूक्ष्म परिणमन

आधुनिक भौतिकी की 'क्वाण्टम गतिकी', जिसे वैज्ञानिक मैक्स प्लाक; नील्स बोहर, लुइस दे ब्रोगली, श्रोडिंगर, हाइजनबर्ग, बोर्न तथा पौली ने विकसित किया, के अनुसार एक गतिशील कण किन्ही परिस्थितियों मे एक कण की भाति व्यवहार करता है तथा किन्ही परिस्थितियो मे एक तरंग की भांति। किसी गतिशील कण की सही स्थिति तथा सही वेग का हम एक साथ पता नही कर सकते; इन मे-से यदि एक का मान ठीक से ज्ञात कर भी लिया जाए तो दूसरे के मान मे कुछ अनिश्चितता रहती है। किसी गतिशील कण की सही स्थिति तथा वेग को हम एक साथ नही जान सकते, उसकी प्रायिकता (प्राबेबिलिटि) ही ज्ञात की जा सकती है। जैन दर्शन के अनुसार परमाणु की स्वाभाविक गति सरल रेखा मे है और वैभाविक गति वक्र रेखा मे। परमाणु कम-से-कम एक समय मे एक आकाश-प्रदेश का अवगाहन कर सकता है और अधिक-से-अधिक उसी समय मे चतुर्दश रज्ज्वात्मक समूचे विश्व का। स्पष्ट है कि अणु-परमाणु कण के गति-सबधी विचारो मे दर्शन और विज्ञान में समानता भी है और असमानता भी, क्योंकि आधुनिक विज्ञान के अनुसार इलेक्ट्रॉन की गति गोलाकार है।

जैन दर्शन बताता है कि थोड़े से परमाणु विस्तृत आकाश-खड को घेर लेते है जिसे परमाणुओं का व्यायतीकरण कहते है और कभी-कभी वे परमाणु घनीभूत हो कर बहुत छोटे से आकाश देश मे समा जाते है, जिसे परमाणुओ का समासीकरण कहते है। आधुनिक विज्ञान इस बात की पुष्टि करता है। हाल ही मे खोजे गये सब-से-छोटे तारे के एक क्यूबिक इच मे १६७४० मन भार आका गया है।[1]

यह सूक्ष्म परिणमन-क्रिया विज्ञान से मेल खाती है। अणु के दो अंग होते है, एक मध्यवर्ती नाभिक (न्यूक्लीयस) जिसमे धनाणु (प्रोटॉन्स) और न्यूटॉन्स होते हैं और दूसरा बाह्य कक्षीय कवच (ऑबिटल शेल) जिसमे ऋणाणु चक्कर लगाते है। नाभिक का घनफल पूरे अणु के

१. आधुनिक विज्ञान मे कृष्ण-विवर (Black Hole) और जैन दर्शन में कृष्णराजि और तमस्काय का वर्णन बहुत समान हुआ है जिसमें इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। देखे **भगवती सूत्र** (भाष्य), ६।७०-१०६।

घनफल से बहुत ही कम होता है और जब कुछ कक्षीय कवच अणु से विच्छिन्न हो जाते हैं तो अणु का घनफल कम हो जाता है। ये अणु विच्छिन्न अणु कहलाते हैं। ज्योतिष-सम्बन्धी अनुसंधानों से पता चलता है कि कुछ तारे ऐसे हैं जिनका घनत्व हमारी दुनिया की घनतम वस्तुओं से भी २०० गुणित है। एडिंग्टन ने एक स्थान पर लिखा है कि एक टन (२८ मन) नाभिकीय (न्यूक्लीअर) पुद्गल हमारे वेस्ट कोट की जेब में समा सकता है। कुछ ही समय पूर्व एक ऐसे तारे का अनुसन्धान हुआ है जिसका घनत्व ६२० टन (१७३६० मन) प्रति घन इंच है। इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओं से निर्मित है। उसके अणुओं मे केवल नाभिक कण ही है, कक्षीय कवच नही। जैन सिद्धात की भाषा मे इसका कारण अणुओं का सूक्ष्म परिणमन है।

परमाणु-ऊर्जा और तेजोलेश्या

परमाणु-शक्ति (न्यूक्लीअर एनर्जी) और तेजोलेश्या मे यत्-किंचित् साम्य है। **भगवती सूत्र** शतक १५ मे तेजोलेश्या की प्रक्रिया प्रतिपादित है। "जो व्यक्ति छह महीने तक बेले का तप करे, ऊर्ध्वबाहु रह कर हमेशा सूर्य की आतापना ले, और पारणे मे एक मुट्ठी उड़द और एक चुल्लू गरम पानी ग्रहण करे, वह तेजोलेश्या को प्राप्त करता है।"

तेजोलेश्या परमाणु-शक्ति की भांति ध्वंसकारी बन सकती है। तेजोलेश्या पौद्गलिक है और वह विस्तृत भाव को प्राप्त हो कर अंग, बंग, मगध, मलय, मालव—जैसे १६ देशो को एक साथ भस्म कर देती है।

कुद्ध अनगार मे-से तेजोलेश्या निकल कर दूर गयी हुई दूर गिरती है, पास गयी हुई पास गिरती है। वह जहां गिरती है, वहां उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते यावत् तपते है।

आधुनिक परमाणु-ऊर्जा तो केवल उष्मा के रूप में ही प्रकट होती है, पर तेजोलेश्या मे उष्णता और शीतलता दोनों गुण विद्यमान है। **भगवती सूत्र** शतक १५ मे तेजोलेश्या के दो भेद) बताये गये हैं: उष्ण तेजोलेश्या (न्यूक्लीयर एनर्जी), शीतल तेजोलेश्या (एटीन्यूक्लीयर एनर्जी)।

शीतल तेजोलेश्या उष्ण तेजोलेश्या के प्रभाव को तत्क्षण नष्ट कर सकती है। वैज्ञानिक अभी तक उष्ण तेजोलेश्या अणुबम और उद्जन बम का ही आविष्कार कर पाये हैं, किंतु अणु-आयुद्धों का प्रतिकारण अस्त्र उन्हें अभी तक नहीं मिला है।

परमाणु-शक्ति दो तरह से उत्पन्न होती है: गलन (परमाणु-विखंडन या परमाणु-विगलन; फिसन) से, पूरण (परमाणु-संलयन; न्यूक्लीअर फ्यूजन) से।

यह परमाणु-विगलन तथा परमाणु-सलयन के सिद्धांत जैन दर्शन की 'पूरण-गलन धर्मत्वात् पुद्गलः' संकल्पना को परिपुष्ट करते हैं। पूरण अर्थात् मिलन या संयोग, गलन अर्थात् वियोग या पार्थक्य।

भावी संभावना

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक जिस परमाणु (एटम) के अनुसन्धान मे रत है, जैन दर्शन के अनुसार वह अनेक परमाणुओं से सघटित कोई स्कन्ध (मॉलीक्यूल) है; क्योकि जैन शास्त्रो मे परमाणु की सूक्ष्मता के विषय मे कहा गया है : परमाणु इंद्रियों का एवं प्रयोग का विषय नहीं है अतः वह मनुष्यकृत नाना प्रक्रियाओं से प्रभावित नहीं होता है। जैन दर्शन की परिभाषा के अनुसार इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन, फोटॉन, क्वार्क, न्यूट्रिनो आदि मे-से कोई भी कण परमाणु नही है; परमाणु के उदरस्थ जितने भी कण है, जैन दर्शन मानता है कि वे सूक्ष्मतम, या परमाणु, या मौलिक कण कहलाने के उपयुक्त नही है। जैनदर्शनकारों ने परमाणु के दो भेद किये हैं—निश्चय परमाणु और व्यवहार परमाणु। अविभाज्य और सूक्ष्मतम कण निश्चय परमाणु है और सूक्ष्मतम स्कंध जो इन्द्रिय-व्यवहार मे सूक्ष्मतम-से लगते है, व्यवहार परमाणु है। विज्ञान का परमाणु वास्तव मे व्यवहार परमाणु ही है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जी० ओ० जॉन्स, जे० रोटब्लेट तथा जी० जे० विटरो ने 'परमाणु और विश्व' (एटम एण्ड यूनीवर्स) नामक पुस्तक मे, जो १९५६ ई० मे लदन से प्रकाशित है, स्पष्ट किया है कि "..... प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रॉन ये तीन मूलभूत कण माने गये, और अब यह सख्या बीस तक पहूच गयी है[1]....मौलिक अणुओं की यह अप्रत्याशित बढत बहुत असतोष का विषय है.......क्या वास्तव मे पदार्थ के इतने टुकड़ो की आवश्यकता है, या मूलभूत अणुओं की यह बढ़त पदार्थ-मूल-सम्बन्धी हमारे अज्ञान की सूचक है ? सही तो यह है कि मौलिक कण अर्थात् परम + अणु, या परमाणु क्या है ? यह पहेली अब तक सुलझ नही पायी है।" आशा है भविष्य मे विज्ञान और दर्शन के समन्वय से प्राथमिक कण की पहेली को सुलझा कर सत्य के सन्निकट पहुचा जा सकेगा।

अभ्यास

१. भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से जैन दर्शन मे परमाणु के कितने प्रकार बताए गए है ? परमाणु-पुद्गल की विभिन्न परिभाषाओं को स्पष्ट करें।

---

१. अब यह संख्या बढ़कर १०० हो गई है।

२. जैन दर्शन के परमाणु के गति और क्रिया-सम्बन्धी विवेचन को प्रस्तुत करते हुए विज्ञान के सन्दर्भ में उसकी मीमांसा करें।

३. आधुनिक विज्ञान में परमाणु-सिद्धांत के विकास-वृत्त को अपने शब्दों में प्रस्तुत करें।

४. जैन दर्शन के परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान के परमाणुवाद की तुलना करते हुए बताएं कि भौतिक विश्व के स्वरूप को समझने के लिए इन दोनों को जानना क्यों जरूरी है ?

५. जैन दर्शन के अनुसार परमाणु के मुख्य गुण-धर्मों को बताते हुए जैन परमाणुवाद पर विस्तार से प्रकाश डालें तथा सिद्ध करें कि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका क्या महत्त्व है ?